₹ 200/-

अतिथि सम्पादक
श्री रामबहादुर राय

संरक्षक मण्डल
श्री लक्ष्मीनिवास झुनझुनवाला
श्री रघुपति सिंघानिया
श्री गोपाल जीवराजका
श्री आलोक बी. श्रीराम
श्री महेश गुप्ता
श्री रवि विग
श्री अनिल खेतान
श्री ललित कुमार मल्होत्रा
श्री सुबोध जैन
श्री सुदर्शन सरीन
श्री प्रदीप मुल्तानी

सम्पादक मण्डल
श्री राम बहादुर राय
श्री अच्युतानंद मिश्र
श्री बलबीर पुंज
श्री अतुल जैन

शोध एवं सम्पादन
श्री संजीव नायक
श्री उत्पल कौल
डा. विकास द्विवेदी

प्रबंध सम्पादक
श्री अरविंद सिंह
arvindvnsingh@gmail.com

सज्जा
श्री नितिन पंवार
nitin_panwar@yahoo.in

आवरण
श्री भरत तिवारी

मुद्रण
श्री विपिन वर्मा
प्रिंट क्राफ्ट इंडिया
शाहदरा, दिल्ली

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

वर्ष-40, अंक-1 जनवरी-मार्च 2019

भारतीय संविधान विशेषांक–1

सम्पादक
डॉ. महेश चन्द्र शर्मा

प्रकाशक
एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान
एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली–110002
दूरभाष : 011–23210074
ईमेलः manthanmagzin@gmail.com, ekatmrdfih@gmail.com

अनुक्रम

1	लेखकों का परिचय		03
2	सम्पादकीय		04
3	अतिथि सम्पादक की ओर से		06
4	भारत का संविधान एक अंतर्कथा	रामबहादुर राय	08
5	भारत के संवैधानीकरण की राजनीतिक और वैचारिक आधार शिला	प्रो. बिद्युत चक्रबर्ती	23
6	संवैधानिक लोकतंत्र और मूलभूत ढांचे की अवधारणा	रवि शंकर प्रसाद	28
7	भारतीय संविधान और संघीयता	प्रो. रेखा सक्सेना	35
8	संसदीय जनतंत्रः संविधान और उसका कार्यान्वयन	सुमित्रा महाजन	42
9	संविधान–संसदीय व्यवस्था और ग्राम स्वराज्य	डॉ. चंद्रशेखर प्राण	45
10	सांस्थिक संवाद के माध्यम से सहकारी संवैधानिक सुधार	गोविंद गोयल	52
11	भारतीय संविधान और सामाजिक न्याय	डॉ. ओ.पी. शुक्ला	61
12	भारत का संविधान और रियासतें	देवेश खंडेलवाल	73
13	भारतीय संविधान में अल्पसंख्यक	आशुतोष कुमार झा	78
14	भारत में महिला अधिकारों के संघर्ष का इंतिहास	अलीशा ढींगरा	83
15	भारतीय संविधान और परिवार संस्था	प्रो. भगवती प्रकाश शर्मा	90
16	भारतीय संविधान का अधिकृत हिंदी पाठ	ब्रजकिशोर शर्मा	94
17	संविधान संशोधन प्रक्रिया जटिल या सरल	डी.पी. त्रिपाठी	99
18	आगामी अंक की सामग्री		103

लेखकों का परिचय

रामबहादुर रायः
हिंदुस्तान समाचार के समूह संपादक और इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र (आईजीएनसीए) के अध्यक्ष हैं। उन्हें 2015 में पद्म श्री से विभूषित किया गया। अपने आरंभिक दिनों में वे लोकनायक जयप्रकाश नारायण से गहराई से जुड़े रहे और आपातकाल विरोधी आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाई।
संपर्क– rbrai118@gmail.com, Mob: 9350972403

प्रो. बिद्युत चक्रबर्तीः
पं. बंगाल के शांतिनिकेतन में नोबल पुरस्कार से सम्मानित रबींद्रनाथ टैगोर द्वारा स्थापित विश्वविद्यालय विश्व–भारती में कुलपति हैं। इससे पूर्व वह दिल्ली विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान के प्रोफेसर थे। उन्होंने लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स, यूके से पीएचडी की उपाधि हासिल की।
संपर्क–sanchitabidyut.chakrabarty@gmail.com
Mob: 9818787056

रवीशंकर प्रसादः
सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ठ अधिवक्ता हैं। वर्तमान में, वह विधि एवं न्याय और इलेक्ट्रानिक्स और सूचना प्रोद्योगिकी मंत्री हैं। अपने विद्यार्थी जीवन में वह आपातकाल विरोधी आंदोलन में भाग लेते हुए जेल गए।
संपर्कः a.gaur@gov.in, (011) 23387557, 23384241

सुमित्रा महाजनः
लोकसभा की अध्यक्ष हैं। वह 2014 में इंदौर, मध्यप्रदेश से आठवीं बार सांसद बनीं। वह वर्तमान में सर्वाधिक लंबे समय से महिला लोकसभा सदस्य हैं। वह वाजपेयी सरकार में वर्ष 2002–04 में मानव संसाधन, संचार और पेट्रोलियम मंत्रालयों की राज्यमंत्री रहीं।
संपर्कः speakerloksabha@sansad.nic.in

देवेश खंडेलवालः
माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय के रिसर्च फेलो हैं। उन्होंने डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी रिसर्च फाउंडेशन और एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान के साथ भी काम कर चुके हैं।
संपर्कः deveshkhandelwal4@gmail.com, Mob: 9999050947

भगवती प्रकाश शर्माः
अर्थविद होने के साथ ही प्राचीन भारतीय धर्मग्रंथों के विशेषज्ञ भी हैं। वे गौतमबुद्ध विश्वविद्यालय, नोएडा, उत्तर प्रदेश के कुलपति हैं। वे भारत सोलर पॉवर डेवलपमेंट फोरम के संयोजक और स्वदेशी जागरण मंच के सहसंयोजक हैं।
संपर्कः bpsharma131@yahoo.co.in, Mob: 9829243459

प्रो. रेखा सक्सेनाः
राजनीति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं। सेंटर फॉर मल्टीलेवल फेडरलिज्म की अवैतनिक उपाध्यक्ष और फोरम ऑफ फेडरेशंस कनाडा की अवैतनिक वरिष्ठ सलाहकार हैं। उनकी दर्जन भर से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।
संपर्कः rekhasaxenadu@gmail.com, Mob: 9811338591

चंद्रशेखर प्राणः
नेहरू युवा केंद्र संगठन से संबद्ध हैं। वह इसके निदेशक रह चुके हैं। वह तीसरी सरकार अभियान और एनजीओ वरदान से संबद्ध हैं। अपने आरंभिक दिनों में उन्होंने जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में आपातकाल विरोधी आंदोलन में सक्रियता से भाग लिया।
संपर्कः cspran854@gmail.com, Mob: 8400702128

आशुतोष कुमार झाः
डॉ. भीमराव अंबेडकर कालेज, नई दिल्ली में राजनीति विज्ञान के सहायक प्रोफेसर है। उनकी विशेषज्ञता कंपैरेटिव फेडरलिज्म में हैं।
संपर्कः risingashutosh@gmail.com, Mob: 8789571951

अलीशा ढींगराः
दिल्ली विश्वविद्यालय में राजनीतिक विज्ञान की सहायक प्रोफेसर हैं। वह लैंगिक विषयों के साथ ही संविधान और कानून आदि पर भी शोधपरक आलेख लिखती हैं। वह राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय सेमिनार और कार्यशालाओं में शोधपत्र प्रस्तुत कर चुकी हैं।
संपर्कः adhingra001@gmail.com, Mob: 8920112275

डा. ओ.पी. शुक्लाः
दलितों के हित से जुड़े कर्मठ कार्यकर्ता हैं। इससे पहले वह भारतीय विधि सेवा अफसर थे। वह इनकम टैक्स अपेलेट टिब्यूनल के न्यायिक सदस्य और रक्षा और रेलवे मंत्रालयों के कानूनी सलाहकार हैं। वह इंडियन लॉ इंस्टीट्यूट में सहायक प्रोफेसर भी हैं। संपर्कः 9958788825

ब्रज किशोर शर्माः
एक संवैधानिक विशेषज्ञ हैं। वह विधि एवं न्याय मंत्रालय के अपर सचिव पद से सेवानिवृत्त हो चुके हैं। वह राजा राम मोहन रॉय लाइब्रेरी फाउंडेशन, कोलकाता के चेयरमैन हैं। इससे पूर्व वह नेशनल बुक ट्रस्ट (एनबीटी) के चेयरमैन रह चुके हैं। संपर्कः 011-22722138

गोविंद गोयलः
सर्वोच्च न्यायालल के महत्वपूर्ण अधिवक्ता हैं। उन्होंने 'स्टेटमेंट ऑफ इंडियन लॉः सुप्रीम कोर्ट थ्रू इट्स कांस्टीट्यूशन बेंच डिसीजंस सिंस 1950' शीर्षक पुस्तक के दो खंड प्रकाशित हो चुके हैं।
संपर्कः govindgoel@rediffmail.com, Mob: 9810608229

डी.पी. त्रिपाठी (देवी प्रसाद त्रिपाठी):
महाराष्ट्र से एनसीपी पार्टी के राज्यसभा सांसद है। अपने विद्यार्थी जीवन में जवाहर लाल नेहरू यूनिवर्सिटी स्टूडेंटस यूनियन के प्रेजिडेंट तथा इसी यूनिवर्सिटी में राजनीति शास्त्र के प्रोफेसर भी थे। वैचारिक पत्रिका 'थिंक टैंक' के संपादक भी हैं। विख्यात वक्ता और लेखक हैं।

सम्पादकीय

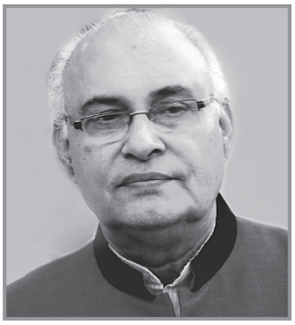

डॉ. महेश चन्द्र शर्मा

भारत में 'धर्मराज्य' की अवधारणा में 'थियोक्रेटिक–स्टेट' की कल्पना नहीं है। भारतीय भाषा में 'धर्म–राज्य' का पाश्चात्य शब्दावली में निकटतम अनुवाद 'संवैधानिक राज्य' होता है। 'मन–माने राज्यतंत्र' को अवधारणातः भारत ने कभी स्वीकार नहीं किया। भारतीय 'राजा' की परिकल्पना भी पाश्चात्य 'फ्यूडलिज्म' या सामंतशाही से भिन्न है। इसका समुचित अध्ययन होना चाहिये। अभी हमारे अकादमिक विश्व में हम भारतीय 'राजा' की अवधारणा को पश्चिमी 'फ्यूडलिज्म' के साथ सामान्यीकृत करके ही राजनीति विज्ञान का अध्ययन करते हैं।

भारत में 'धर्म' की अवधारणा का वितान बहुत ही व्यापक है। उसका एक अर्थ 'विधि' के साथ निकटता का है। सनातन–धर्म की युगीन व्याख्याओं की एक सुदीर्घ भारतीय परम्परा भी इतिहास में निगड़ित है, इसका भी समुचित अनुसंधान एवं अध्ययन आवश्यक है। प्राचीनकाल एवं वर्तमानकाल के मध्य स्थित 'मध्यकाल' की काली–छाया हमारे अतीत और वर्तमान दोनों को आच्छादित करती है। इसी अंधकार ने हमको पाश्चात्य पगडंडी पर धकेल दिया है। सकारात्मक भारतीयता को जानने की पूर्व शर्त हो गया है, हमारे मानस का वि–उपनिवेशीकरण। समाजशास्त्रीय काल निर्धारण तो युगों में होता है। हमारे युग की चुनौती है कि हम अपना वि–उपनिवेशीकरण कर अपनी भारतीयता का समग्रता के साथ अध्ययन कैसे करें।

भारत की अपनी 'प्रकृति' है, भारत की अपनी 'संस्कृति' है तथा भारत की अपनी 'विकृति' भी है। संस्कृति के प्रकाश में ही हम अपनी विकृति एवं प्रकृति को जान सकते हैं। 'मंथन' का पिछला अंक 'भारतीय ज्ञान परम्परा' विशेषांक था, उसमें भारतीय विचार तत्व को हमने रेखांकित करने का प्रयास किया था। यह विचार परम्परा ही भारतीय संस्कृति की नियामिका शक्ति है। इसी के प्रकाश में हमें अपने वर्तमान को गढ़ना है। हमारा वर्तमान संविधान हमारे राज्य के धर्म को विवेचित करता है। यह संविधान तत्वतः कितना भारतीय एवं कितना अभारतीय है, इस संविधान के निर्माण की प्रक्रिया तर्क की कसौटी पर कसा जाना चाहिये, इसके अतीत एवं वर्तमान का अध्ययन होना चाहिये। इसीलिये मंथन का यह अंक 'भारतीय संविधान विशेषांक' है।

इस अंक के अतिथि सम्पादक के रूप में हमें पद्मश्री श्री रामबहादुर राय प्राप्त हुये, हम भाग्यशाली हैं। राय साहब लब्ध–प्रतिष्ठित पत्रकार ही नहीं वरन् अद्भुत अध्येता भी हैं। इस अंक की सामग्री जुटाने एवं सम्पादन करने में उनकी निर्णायक भूमिका है। उनका अनुसंधान–परक आलेख 'भारतीय संविधान की अर्न्तकथा' भारतीय संविधान की अध्ययन परम्परा में एक मील का पत्थर है, इस पर देश में समुचित विमर्श आवश्यक है।

भारतीय संविधान की पृष्ठभूमि औपनिवेशिक है, लेकिन इसको भारत के मनीषियों ने आकार दिया है। साम्राज्यवादी अंग्रेजों में भी एक वर्ग रहा है तो अवधारणातः ब्रिटिश–साम्राज्य को 'बर्बर भारतीयों' को सभ्य बनाने का उपक्रम मानता था। सभ्य बनाने की इसी प्रक्रिया में से 'उदार लोकतांत्रिकता' की अवधारणा का वहाँ पुरस्कार हुआ। इसी अवधारणा में से वर्तमान संविधान की वैचारिकी विकसित हुयी है। गुरुदेव रवीन्द्र नाथ ठाकुर द्वारा शांतिनिकेतन में स्थापित 'विश्वभारती विश्वविद्यालय' के नव कुलपति श्री विद्युत चक्रवर्ती, जो राजनीति विज्ञान एवं भारत

के संविधानीकरण के लब्ध–प्रतिष्ठित अध्येता हैं, का आलेख इस अंक में समाहित किया गया है। भारतीय संविधान को समझने के लिये इस आयाम का भी अध्ययन जरूरी है।

यह अंक दो भागों में है। यह प्रथमांक जिन मुद्दों को अपने में समेट पाया है, वे सामान्यतः अवधारणात्मक है। संविधान के संदर्भ में एक 'मूल ढाँचे' की अवधारणा विकसित हुयी है, साथ ही लचीली संशोधन प्रक्रिया के माध्यम से संविधान निरन्तर परिवर्तनशील भी है। इन दोनों ही मुद्दों को इस अंक में समुचित विवेचना प्राप्त हुयी है। मूल ढाँचे की अवधारणा का विवेचन भारत के विधि एवं न्याय तथा सूचना प्रौद्योगिकी (आई. टी.) मंत्री श्री रविशंकर प्रसाद ने की है, इस अंक की वह अमूल्य निधि है।

संविधान के विविध आयामों पर अनेक समीक्षात्मक आलेख हैं। भारतीय लोकसभा की अध्यक्षा मा. सुमित्रा महाजन ने संसदीय लोकतंत्र पर एक सकारात्मक टिप्पणी करता हुआ आलेख हम प्राप्त कर सके, हम आभारी हैं। संघात्मकता भारत के संविधान के ढाँचे का मूल तत्व माना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में 'संघात्मकता' विषय के विमर्श में सहभागिता रखनेवाली दिल्ली विश्वविद्यालय की प्रोफेसर डॉ. रेखा सक्सेना ने इस अंक को संवारने में बहुत दाय दिया है, उन्होंने अपने शोध छात्रों को भी इस काम में लगाया, ये सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

सामाजिक न्याय के लिए निरन्तर जूझने वाले विधि विभाग के पूर्व उप सचिव डॉ. ओ.पी. शुक्ला, पंचायती राज पर निरन्तर अध्ययन एवं अनुसंधान में लगे श्री चन्द्रशेखर 'प्राण', संविधान की वैधिक गतिशीलता के अध्येता सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ठ अधिवक्ता श्री गोविंद गोयल तथा गौतम बुद्ध विश्वविद्यालय, नोएडा के कुलपति डॉ. भगवति प्रकाश शर्मा, जो भारतीय ज्ञान परम्परा के सुविख्यात अध्येता हैं, ने 'भारतीय परिवार संस्था एवं संविधान' पर सांगोपांग आलेख लिखा है, इन सभी वरिष्ठ जनों के साथ ही नयी पीढ़ी के अनुसंधान–अध्येता इस अंक के साथ जुड़े मैं सभी के प्रति सादर कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। मंथन का पाठक वृंद भी प्रबुद्ध एवं अध्यवसायी हैं। सकारात्मक टिप्पणियाँ तो प्राप्त हो रही है, यदि समीक्षात्मक टिप्पणियाँ प्राप्त हों तो, हम एक सामूहिक विमर्श उत्पन्न कर सकते हैं। आप से निवेदन है आप 'मंथन' के इस अंक पर समीक्षात्मक टिप्पणी करें।

अगले अंक (अप्रैल–जून 2019) की सम्भावित अणुक्रमणिका भी इस अंक में दी जा रही है, इससे आप संविधान विशेषांक भाग दो की विषय–वस्तु का अनुमान लगा सकेंगे।

इस अंक के साथ ही 'मंथन' का मूल्य वर्धित कर दिया गया है। अब 'मंथन' का एक अंक 100 रु. के स्थान पर 200 रु. का होगा। वर्ष भर के अनुभव के बाद प्रबंधन में लगे मित्रों का यह सुझाव स्वीकार कर लिया गया। पाठक वृंद को आगे से कुछ ज्यादा आर्थिक बोझ उठाना पड़ेगा, एतदर्ध क्षमा प्रार्थी हूँ।

शुभम्।

डॉ. महेश चंद्र शर्मा
mahesh.chandra.sharma@live.com

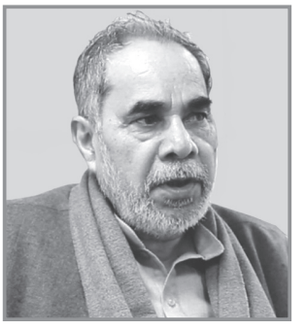

रामबहादुर राय

अतिथि सम्पादक की ओर से

भारत के संविधान पर 'मंथन' समय की आवश्यकता ही नहीं, अनिवार्यता भी है। ऐसा क्यों है? कोई भी पूछ सकता है। उसे पूछना ही चाहिए। इसे अगर समझ ले तो इस प्रश्न का समाधान हो सकता है। भारत के संविधान की कुछ विशेषताएं ऐसी हैं जो उसे सबसे अलग पहचान देती हैं। उनमें से एक यह है कि भारत का संविधान स्वाधीनता संग्राम के अंतिम लक्ष्य से प्रेरित रहा है। वह दो शब्दों में जाना जाता है–स्वतंत्रता और भारत का पुनर्निर्माण। इन दो शब्दो में संविधान का प्रसंग और उसकी सार्थकता को लोग मानते–जानते और पहचानते हैं। संविधानवाद उसका एक रूप है। यह शब्द अनेक अर्थ अपने में समेटे हुए है। स्वाधीनता संग्राम के नायकों ने इस शब्द में परतंत्रता के अंधेरे में प्रकाश की किरण देखी। यही शब्द है जिसमें अंग्रेजों ने अपने औपनिवेशिक हित देखे। इसी शब्द में महात्मा गांधी ने देश की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और इन सबसे भी अलग जो उस समय सबसे बड़ी समस्या हो गई थी, हिन्दू–मुस्लिम प्रश्न उसका समाधान देखा। एक शब्द में जादू की इतनी छवियां देखना और पाना किसी इतिहास की ऐसी अनोखी घटना है जो भारत के संविधान के इतिहास में गुथी हुई हैं।

जिसने जो पहलू देखा उसी से वह संविधान की समझ बनाता है। भारत का संविधान क्या सुविचारित विधान है? कहते हैं कि सुविचारित विधान ही संविधान होता है। जिसमें देश का जन–लोक–समाज और शासन अपने हर प्रश्न का समाधान कारक उत्तर पाता है। उससे हर किसी को जीवन जीने की विधि मिलती है। समाज में संबंधों का संसार अपना विस्तार पाता है। जिससे समाज में सुव्यवस्था की सुगंध उससे फैलती रहती है। इसे किसी संविधान की कसौटी भी मान सकते हैं। हमारे संविधान निर्माताओं ने संविधान को श्रेष्ठ और जितना बन सका उतना उत्तम बनाया। युद्ध की परिस्थिति में संविधान बनाना बड़ी बात थी। लेकिन हम यह भी जानते हैं कि युद्ध में गीता का उपदेश तो हो सकता है पर सुविचारित विधान नहीं बन सकता। संविधान को अंगीकार करते समय उन्होंने यही भाव प्रकट किए। वे भारत के लोगों की ओर से संविधान को अंगीकार कर रहे थे। तब यह प्रश्न उन्हें भी दिख रहा था कि संविधान पर अमल कैसे होगा उसी से संविधान की परख होगी। तब इसी तरह के उदगार व्यक्त किए गए।

विविधता भरे देश–समाज में संविधान पर एक स्वर की आशा किसी को भी नहीं करनी चाहिए। अवश्य ही अनेक स्वर संविधान सभा में भी थे। भविष्य में भी रहेंगे। लेकिन मूलभूत तत्वों पर सहमति भी संविधान से अपेक्षित है। ऐसी अपेक्षा की दृष्टि से संविधान अपने अस्तित्वकाल से ही एक पहेली है। वह शब्द, अर्थ, व्याख्या और संस्कार में दुर्बोध है। पहेली होना एक बात है और दुर्बोध होना दूसरी बात है। भारत के संविधान में ये दोनों बातें हैं। इसके दुर्बोधता को ही लक्ष्य कर कहा गया कि भारत का संविधान 'वकीलों का स्वर्ग है'। संविधान सभा के अग्रणी सदस्यों की प्रोफाइल देखने पर कोई भी इसे पत्थर की लकीर यानी इश वचन मानेगा।

जिस संविधान में स्वतंत्रता का मंत्र देखा गया उसके बन जाने पर भविष्य के सुखद सपने जगना क्या अस्वाभाविक है? कदापि नहीं। संविधान से न्यूनतम

अपेक्षा यही होनी चाहिए कि वह 'राम राज्य' में सहायक बने। अंग्रेज राज से मुक्ति दिलाए। इसी अपेक्षा से भारत के संविधान को उन लोगों ने भी स्वीकार करने की सलाह दी जो दूर से उसे देख रहे थे। उसके पर्यवेक्षक थे। जैसे पंडित दीनदयाल उपाध्याय। उनका मत था कि संविधान के अनेक अनुच्छेद अनावश्यक हैं। इसलिए अगर संविधान को आकाश में उड़ना है और जमीन पर उसे बिना किसी दुर्घटना के उतर जाना है तो उसे बोझ रहित होना चाहिए। स्पष्ट है कि उन्हें संविधान में अनेक दोष दिखे। फिर भी उन्होंने संविधान के बहिष्कार की सलाह नहीं दी। उसे स्वीकारने और अपनाने की अपील की। संविधान के लिए एक मंत्र दिया–'परिष्कार के लिए पुरस्कार'। संविधान में लोकतंत्र, मौलिक अधिकार और समान अवसर के सिद्धांत जो हैं वे भारत की मिट्टी में पले हुए हैं। उनका परिष्कार होना चाहिए और संविधान में जहां औपनिवेशिकता के खंडहर हैं उनकी सफाई भी होनी चाहिए।

'मंथन' का यह अंक इस मंत्र का सुबोध पाठ प्रस्तुत कर रहा है। इसमें संग्रहीत लेख संवैधानिक विषेशज्ञ और विधि विषेशज्ञ रूपी पंडे और पुजारियों की कैद में बंद संविधान की मुक्ति यात्रा की रोचक कहानी कह रहे हैं। जिससे दो बात कोई भी जान सकता है। पहली यह कि संविधान ही एक समस्या बन गया है। इसे यूं भी कह सकते हैं कि आज जो–जो समस्याएं हैं उनका प्रमुख स्रोत संविधान है। जब संविधान समाधान न होकर कुछ और हो जाए तो उसे ही अनबूझ पहेली कहते हैं। ऐसी स्थिति उस समय ज्यादा होती है जब कुछ बातें मान ली जाती हैं। भले ही वे बेसिरपैर की हों। जिनका कोई आधार न हो। आधार की अग्नि में जो स्वाहा हो जाए वह कंचन तो हो नहीं सकता! कुछ और भले ही हो। इसीलिए मानने की मनाही की जाती रही है। मानने से पहले जानने और जानने से पहले जांचने का तरीका जो अपनाता है वह जो जान पाता है उसे ही मानता है। सुनने में सरल सा जान पड़ता यह तरीका हर क्षण जागते रहो की आवाज लगाता है। उसे जो मन से सुनेगा और बुद्धि से जांचेगा वह एक वस्तुनिष्ठ यानी संपूर्णता में देख सकने वाला नागरिक बनेगा। उसी आवाज और वस्तुनिष्ठ समझ की इस 'संविधान विशेष अंक' में प्रस्तुति का प्रयास है। यह आपके सक्रिय सहयोग से सफल हो सकता है। इससे शुरुआत हो रही है, अंत नहीं। यह शुरुआत अनंत संभावनाओं को जन्म देगी। इस अंक के ज्यादातर लेख अपने में उन संभावनाओं के बीज लिए हुए हैं। भारत का समाज जिस दिन अपने संविधान को जान लेगा उसी दिन वह संविधान उदित होगा। जो अंधेरा को दूर करेगा और खुशहाली को निमंत्रण देगा। यह अंक उस घड़ी का अग्रिम न्यौता है। इसे जो स्वीकारेगा उसका धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इसी जीवन में सध जाएगा। है न यह बड़ा न्यौता!

रामबहादुर राय

भारत का संविधान अन्तर्कथा

■ रामबहादुर राय

आज जो 'भारत का संविधान' है, उसकी यात्रा कथा बहुत रोचक है। किसी को भी कौतूहल और जिज्ञासा मिश्रित विस्मय से भर देने वाली है। दिल्ली की धरती पर हड्डियों को कंपा देने वाली कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। सन् 1946 में दिसंबर का महीना जो था। आसमान में भारत विभाजन के काले बादल मंडरा रहे थे। संविधान सभा के लिए चुनाव महीनों पहले हो गए थे। उसे अखंड भारत का संविधान बनाना था। वायसराय लार्ड वेवल का निमंत्रण पाकर विपरीत मौसम से बेपरवाह स्वाधीनता सेनानी दिल्ली पहुंचे। उनमें भारत के भाग्यविधाता का भाव था। उन लोगों ने संविधान सभा को आकार दिया। वे ही हमारे संविधान निर्माता बने। उनका कार्य चुनौतीपूर्ण था। जवाहरलाल नेहरू तब विस्मय में थे। उन्हें तब यही सूझा और वे बोले कि 'हो सकता है दिन मेघाच्छन्न हो, पर है तो आखिर दिन, इसलिए बादल फटने पर दिन अवश्य निकलेगा।'[1]

वायसराय लार्ड वेवल का निमंत्रण पाकर विपरीत मौसम से बेपरवाह स्वाधीनता सेनानी दिल्ली पहुंचे। उनमें भारत के भाग्यविधाता का भाव था। उन लोगों ने संविधान सभा को आकार दिया। वे ही हमारे संविधान निर्माता बने। उनका कार्य चुनौतीपूर्ण था। जवाहरलाल नेहरू तब विस्मय में थे। उन्हें तब यही सूझा और वे बोले कि हो सकता है दिन मेघाच्छन्न हो, पर है तो आखिर दिन, इसलिए बादल फटने पर दिन अवश्य निकलेगा

उस समय परिस्थितियों की दुर्व्यवस्था ने करवट ली। कांग्रेस नेतृत्व ने जिसे ऐतिहासिक अवसर समझा वह सचमुच बहुत उलझन भरा था। वास्तव में कांग्रेस भी अपने बुने जाल में फंसी। संविधान सभा से वह पीछे हट नहीं सकती थी। कैसे वह उन उलझनों में फंसती ही चली गई। यह जानना उस समय के इतिहास से साक्षात्कार करना है।

संविधान अभियान में ही वह इतिहास समाया हुआ है। कांग्रेस का यह दावा रहा है कि संविधान अभियान के लिए उसके पास ठोस ऐतिहासिक तर्क थे। उसका मूल यह था कि अंग्रेज अपने साम्राज्य को बनाए रखने के लिए भारत में उत्पन्न राष्ट्रीय चेतना को बांटने और बिखेरने में लगे हुए हैं। इस लक्ष्य से ब्रिटिश सरकार तीन काम कर रही है। एक कि वह मुस्लिम पृथकतावाद को बढ़ा रही है। जिससे भारत विभाजन का खतरा मंडरा रहा है। दूसरा कि वह रियासतों को डरा कर उनमें एक असुरक्षा का भाव पैदा कर रही है, जिससे वे समझें कि उनका अस्तित्व संकट में है। तीसरा कि ब्रिटिश सरकार हिन्दू समाज की विविधता को विभिन्नता बताकर बांट रही है। जिससे वह विशेषकर दलितों को हिन्दू समाज से अलग करना चाहती है।

अंग्रेजों से लड़ते हुए कांग्रेस ने माना कि संविधान अभियान की तार्किक परिणति संविधान सभा में हुई है। वह इसे इतिहास प्रदत्त दायित्व समझती थी। लेकिन इससे अलग भी कुछ मत हैं। एक मत यह है कि भारत में संविधानवाद ब्रिटिश उपनिवेशवाद की देन है। अंग्रेजों ने उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को धीमा करने के लक्ष्य से इसे बढ़ाया। जिसमें कांग्रेस फंसती चली गई। दूसरा मत यह है कि संविधान की मांग से स्वतंत्रता की राह आसान हुई। उस पर चलने और मंजिल पर पहुंचने में संविधान–अभियान सहायक बना। आज एक तीसरा दृष्टिकोण प्रखरता से सामने आया है कि संविधान पर औपनिवेशिक प्रभाव बहुत अधिक है।

संविधानवाद की जड़ें हमारे अतीत में है। उनसे कांग्रेस विधिवत कब जुड़ी? यह जानना जरूरी है। प्रो. देंवद्र स्वरूप ने इस बारे में यह बताया है कि 'राष्ट्रीय आंदोलन के बढ़ते प्रभाव को सीमित करने और लोगों की आकांक्षाओं को संतुष्ट करने का दिखावा करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने सन् 1927 में साइमन कमीशन का गठन किया।'[2] चूंकि इस कमीशन में कोई भी भारतीय सदस्य नहीं था। इसलिए कांग्रेस सहित अधिकांश प्रमुख दलों ने इसका विरोध किया। साइमन कमीशन का एक परिणाम यह निकला

Proud to be an India

Happy Republic Day

26th January, 2019

Vande Matram!

From

Major General (Retd.) Dilawar Singh
Seashow Apartment, Plot-14, Sector-19B
Dwarka, New Delhi

''पंडित दीनदयाल उपाध्याय के विषय में जानकारियाँ बहुत ही सीमित हैं। डॉ. महेशचंद्र शर्मा ने इस विषय पर गवेषणात्मक अध्ययन किया है। इस शोध-ग्रंथ का प्रकाशन न केवल जनसंघ की राजनीति व विचारधारा के प्रति लोगों को लाभदायक जानकारियाँ देगा वरन् राजनीति शास्त्र की वैचारिक बहस को भी आगे बढ़ाएगा। दीनदयाल उपाध्याय व भारतीय जनसंघ को समझने के लिए यह शोध-ग्रंथ प्रामाणिक आधारभूमि प्रदान करता है।''

—डॉ. इकबाल नारायण

पूर्व कुलपति-राजस्थान विश्वविद्यालय,
काशी हिंदू विश्वविद्यालय तथा नॉर्थ-ईस्ट हिल्ज यूनिवर्सिटी,
पूर्व सदस्य-सचिव, भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद्

''यदि मुझे दो दीनदयाल मिल जाएँ, तो मैं भारतीय राजनीति का नक्शा बदल दूँ।''

—डॉ. श्यामा प्रसाद मुकर्जी

पं. दीनदयाल उपाध्याय द्वारा लिखित पुस्तकें

प्रभात प्रकाशन
ISO 9001 : 2008 प्रकाशक
www.prabhatbooks.com

ISBN 978-93-5186-262-8
₹ 500/-

पं. दीनदयाल उपाध्याय
कर्तृत्व एवं विचार

डॉ. महेशचंद्र शर्मा

पं. दीनदयाल उपाध्याय
कर्तृत्व एवं विचार
डॉ. महेशचंद्र शर्मा

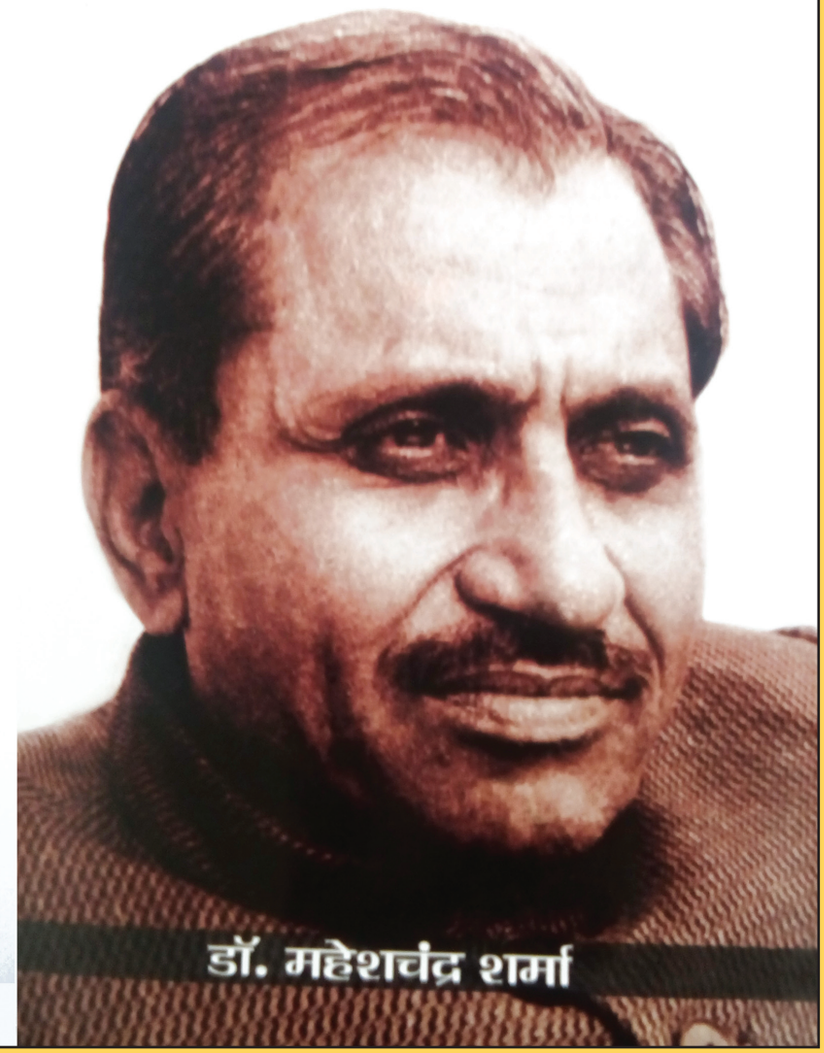

कि राष्ट्रीय नेताओं ने एक भारतीय संविधान की रूपरेखा बनाने का निर्णय लिया।

मद्रास में 1927 के कांग्रेस अधिवेशन में यह विचार बना। इसके परिणाम स्वरूप मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में एक सर्वदलीय समिति का गठन किया गया, जिसने अगस्त 1928 में अपनी रिपोर्ट दी। वह रिपोर्ट लखनऊ में आयोजित सर्वदलीय सम्मेलन की सिफारिशों पर आधारित थी। उसे कांग्रेस ने तो स्वीकार कर लिया। पर जब दिसंबर माह में सर्वदलीय सम्मेलन हुआ तो मुहम्मद अली जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग ने उसे अस्वीकार कर दिया। मोतीलाल नेहरू कमेटी रिपोर्ट में भारत के संविधान के सिद्धांत की एक रूपरेखा थी। संविधान की यात्रा में उसे मील का एक पत्थर माना जाता है। मोतीलाल नेहरू कमेटी की रिपोर्ट में केवल डोमिनियन स्टेटस की मांग की गई थी। जब वह रिपोर्ट कोलकाता के कांग्रेस अधिवेशन में रखी गई तो बहस इस बात पर हुई कि पूर्णस्वराज्य और डोमिनियन स्टेटस में कांग्रेस किसे चुने। गंभीर मतभेद थे। यह बात 1928 की है।

सुभाष चंद्र बोस और जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस के युवा नेता पूर्ण स्वराज्य के पक्ष में थे। लेकिन पहली कतार के नेता डोमिनियन स्टेटस के पक्षधर थे। इसीलिए मतभेद था। महात्मा गांधी ने हस्तक्षेप कर एक समझौता कराया। ब्रिटिश सरकार को एक साल का समय दिया गया। वहां डोमिनियन स्टेटस का ही प्रस्ताव आखिरकार पारित हुआ। कांग्रेस ने चेतावनी दी कि अगर सरकार डोमिनियन स्टेटस घोषित नहीं करती तो वह आंदोलन छेड़ेगी। ब्रिटिश सरकार ने उस मांग को ठुकरा दिया। इसलिए दिसंबर, 1929 में कांग्रेस ने लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वतंत्रता के लक्ष्य का प्रस्ताव पारित किया। वहीं यह निर्णय भी हुआ कि 26 जनवरी को स्वाधीनता दिवस मनाया जाएगा। इस प्रकार हर साल 26 जनवरी को स्वाधीनता दिवस मनाने का क्रम प्रारंभ हुआ। उसका ही रूपांतरण है–गणतंत्र दिवस।

पूर्ण स्वराज्य के लक्ष्य की दिशा में कांग्रेस ने संविधान सभा के लिए 1927 से जो अभियान चलाया उसे पहली बार 1934 में अपना संकल्प बनाया। वह कांग्रेस के

महात्मा गांधी संविधान की औपनिवेशिक अवधारणा के विरोध में थे। इसीलिए वे कांग्रेस की मांग पर तटस्थ रहते थे। वे स्वराज्य की अपनी मूल अवधारणा को ही समझाने और कांग्रेस के गले उतारने का अपने ढंग से प्रयास करते रहते थे

प्रस्ताव में पहली बार प्रकट हुआ। जिसे अंतिम बार 1945 के शिमला सम्मेलन में कांग्रेस ने दोहराया। उस समय संविधान सभा के बारे में ब्रिटिश सरकार, कांग्रेस और मुस्लिम लीग में बात चल रही थी। तब कांग्रेस ने यह कहा कि भारत एक ऐसे संविधान को ही स्वीकार कर सकता है जिसकी रचना जनता ने स्वयं की हो। जिसमें विदेशी सत्ता का कोई हस्तक्षेप न हो। कुछ लोग महात्मा गांधी के एक कथन को खींचतान कर संविधान से जोड़ते हैं। वह कथन 5 जनवरी,1922 का है। महात्मा गांधी ने लिखा था कि 'स्वराज ब्रिटिश संसद का एक उपहार नहीं होगा। यह तो भारत की समस्त मांगों की स्वीकृति सूचक एक घोषणा होगी, जिसे ब्रिटिश संसद एक कानून पास कर हमें प्रदान करेगी। परंतु यह घोषणा तो भारतीय जनता की चिरपोषित मांगों की केवल सौजन्यपूर्ण स्वीकृति ही होगी। यह स्वीकृति बतौर संधि या समझौते के होगी। जिसमें ब्रिटेन एक पक्ष होगा। जब यह समझौता होगा तो ब्रिटिश संसद भारतीय जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों की ओर से व्यक्त की गई मांगों को स्वीकार करेगी।'[3]

महात्मा गांधी संविधान की औपनिवेशिक अवधारणा के विरोध में थे। इसीलिए वे कांग्रेस की मांग पर तटस्थ रहते थे। वे स्वराज्य की अपनी मूल अवधारणा को ही समझाने और कांग्रेस के गले उतारने का अपने ढंग से प्रयास करते रहते थे। लेकिन गोलमेज सम्मेलनों की विफलता[4] से कांग्रेस ने निष्कर्ष निकाला कि उसे संविधान की राह पर बढ़ना है। ऐसी राजनीतिक परिस्थितियों के नए मोड़ पर महात्मा गांधी ने भी अनुभव किया कि संविधान की राह से आजादी के लक्ष्य की ओर बढ़ा जा सकता है। उन्होंने अपनी अवधारणा बदली। यह बात 1937 की है। महात्मा गांधी ने अनुभव किया कि कांग्रेस मृतप्राय हो गयी है। उसमें भविष्य के प्रति उत्साह नहीं दिख रहा है। नेतृत्व में थकान है। निराशा है। उससे कांग्रेस को बचाने के लिए उन्होंने अपनी राह बदली। विचार बदले। रणनीति बदली।

नई सूझ उनमें पैदा हुई। वह संविधान अभियान को बढ़ाने की थी। यही वह निर्णायक मोड़ था जहां गांधीजी करवट ले रहे थे। इतिहास की नई राह पर चलने के लिए उद्यत हुए। जिसे वे खारिज करते थे उस संसदीय राजनीति की राह पर कांग्रेस को उन्होंने बढ़ाया। अपनी दीर्घकालिक योजनाएं उन्होंने स्थगित की जिसे हिंद स्वराज में प्रस्तुत किया था। इस मंथन में दो साल लगे। 'यह प्रक्रिया बतलाती है कि 1931 के बाद जो कूटनीतिक युद्ध चला उसमें ब्रिटिश कूटनीति गांधीजी को उनकी इच्छा के विरूद्ध चुनावी राजनीति के उस मार्ग पर ले जाने में सफल हो गयी जिसको गांधीजी सिद्धांततः स्वीकार नहीं करना चाहते थे।'[5] अतंतः 19 नवंबर, 1939 को हरिजन में उन्होंने लिखा कि 'और बहुत सी बातों के साथ, पंडित जवाहरलाल नेहरू ने मुझे इस बात के लिए भी मजबूर किया कि मैं संविधान–सभा के निहितार्थों का अध्ययन करूं। जब उन्होंने पहली बार कांग्रेस के प्रस्तावों में इसका समावेश किया तो मैंने उसे यह समझकर मान लिया कि प्रजातंत्र की बारीकियों का मुझसे अधिक उन्हें ज्ञान है। वैसे मैं स्वयं इस विषय में संदेहों से मुक्त नहीं था। किन्तु, अब कठोर तथ्यों ने मुझे संविधान–सभा के विचार का जवाहरलाल नेहरू से भी अधिक उत्साही समर्थक बना दिया है क्योंकि जवाहरलाल को शायद ऐसा न लगता हो जैसा मुझे लगता है कि व्यापक राजनीतिक और दूसरे प्रकार की शिक्षा का माध्यम होने के अतिरिक्त संविधान–सभा हमारी सांप्रदायिक तथा अन्य समस्याओं का हल भी बन सकती है। संविधान सभा ही देश की देशज प्रकृति और लोक इच्छा का सही अर्थों में पूरी तरह से निरूपण करने वाला संविधान बना सकती है।'[6]

इस तरह महात्मा गांधी ने संविधान के लिए तीन कसौटियां सुनिश्चित की। एक, सांप्रदायिक समस्या का निवारण। दो, देशज प्रकृति और तीन, लोकइच्छा। 1934 के बाद 1936 में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में संविधान सभा की मांग को सुविचारित रूपरेखा दी।[7] उन्होंने कहा था कि कांग्रेस लोकतंत्र और स्वतंत्रता के लिए संविधान सभा का निर्माण चाहती है। जिसे वयस्क मतदाता चुनेंगे। गांधी और नेहरू से हरी झंडी मिलने पर कांग्रेस कार्यसमिति ने संविधान सभा के लिए 1939 में दूसरी बार प्रस्ताव पारित किया। संविधान सभा ब्रिटिश योजना में बनी। वह परोक्ष निर्वाचन से बनी। सीमित मताधिकार से चुनी गई विधान सभाओं ने संविधान सभा के सदस्यों को चुना[8] उस संविधान सभा में महात्मा गांधी के रहने का कोई सवाल नहीं उठता। उससे बाहर रहकर वे परामर्श के लिए उपलब्ध अवश्य थे।

उनकी सलाह पर ही पत्रकार बी. शिवाराव संविधान सभा के सदस्य बनाए गए। इसी तरह दूसरी बार डॉ. भीमराव अंबेडकर संविधान सभा में गांधीजी के हस्तक्षेप से ही पहुंचे। जब संविधान सभा के लिए निर्वाचन हुए तो डा. भीमराव अंबेडकर सिड्युल्ड कास्ट फेडरेशन की ओर से और मुस्लिम लीग के समर्थन से बंगाल से निर्वाचित हुए थे क्योंकि मुंबई विधान सभा में उनकी संस्था को एक भी स्थान नहीं मिला था। विभाजन के पश्चात उनकी सदस्यता समाप्त हो गई। गांधीजी के हस्तक्षेप से तब डा. राजेंद्र प्रसाद और सरदार पटेल ने मुंबई के मुख्य मंत्री बी.जी. खेर को लिखा कि एम.आर. जयकर के त्यागपत्र से जो स्थान रिक्त हुआ है उस पर डॉ. अंबेडकर को निर्वाचित कराना है। इस तरह वे दूसरी बार 22 जुलाई, 1947 को संविधान सभा के सदस्य बने।

पर यह सवाल हमेशा ही पूछा जाएगा कि क्या गांधीजी की कसौटियों पर संविधान सभा ने काम किया? क्या कांग्रेस के नेताओं ने संविधान सभा के बनते वक्त उनकी सलाह मानी? क्या ब्रिटिश सरकार के पास संविधान सभा संबंधी शर्तों को मानने के अलावा कोई विकल्प नहीं था? यह सर्वविदित है कि संविधान सभा कैबिनेट मिशन की योजना से जन्मी थी, जबकि संविधान जनता के निर्णय से बनता है। उसे शासक से छीनकर बनाया जाता है। यहां विपरीत उदाहरण देख महात्मा गांधी ने कांग्रेस नेताओं को सलाह दी कि वे वायसराय के निमंत्रण को अस्वीकार करें।[9] उस समय की परिस्थितियों में वह सलाह पूरी तरह सही थी।

उस समय की परिस्थितियों से परिचित हो सकें इसलिए यहां कुछ बातें जानना जरूरी है। संविधान सभा पर गतिरोध था। मुस्लिम लीग ने उसके बहिष्कार की घोषणा की थी। लार्ड वेवल कोई समझौता नहीं करा सके। तब पंडित जवाहरलाल नेहरू, जिन्ना और सरदार बलदेव सिंह एकता और समझौता के लिए लंदन गए। लेकिन कोई सकारात्मक परिणाम नहीं निकला। महात्मा गांधी ने भांप लिया था कि ऐसी परिस्थिति में संविधान सभा का बनना और कार्य करना जहां कठिन है वही अनुचित भी है। कांग्रेस ने संविधान सभा के बारे में जो वादे किए थे वे भी टूट रहे थे। जो चुने गए थे वे बालिग मताधिकार से नहीं आए थे। संविधान सभा के लिए निमंत्रण भी वायसराय ने भेजा था। इस प्रकार वह संविधान सभा ब्रिटिश सरकार की योजना में बन रही थी। मुस्लिम लीग के बहिष्कार और रियासतों के प्रतिनिधियों की हिचक से वह एकांगी हो गई थी। ऐसी संविधान सभा सार्वभौम तो हो नहीं सकती थी। लेकिन कांग्रेस का नेतृत्व गांधीजी का तर्क सुनने के लिए तैयार नहीं था।

यह बात 3 दिसंबर, 1946 की है। महात्मा गांधी नोआखाली में थे। उन्होंने श्रीरामपुर में एक नोट लिखा कि 'यह संविधान सभा तो ब्रिटिश सरकार की बनाई हुई है।'[10] यह जिन शर्तों पर बनाई गई है उसमें मुस्लिम लीग, कांग्रेस और देशी रियासतों के प्रतिनिधियों का शामिल होना जरूरी है। मुस्लिम लीग ने संविधान सभा का बहिष्कार कर दिया है। उसी तरह रियासतों के भी प्रतिनिधि संविधान सभा से दूर हैं। ये तथ्य उन शर्तों को तोड़ते थे जो संविधान सभा की योजना के आधार थे। इसलिए महात्मा गांधी ने अपने नोट में सरदार पटेल को लिखा कि अगर इनके बहिष्कार के बावजूद सरकार संविधान सभा बुलाना चाहती है तो उसे कांग्रेस के साथ नया समझौता करना चाहिए। यह थी उनकी सलाह। इसके बाद उन्होंने यह सलाह भी दी कि सरकार अगर कांग्रेस के साथ अलग समझौता नहीं करती तो उसे संविधान सभा में नहीं जाना चाहिए।

उससे पहले गांधीजी ने 26 नवंबर, 1946 को एक पत्र घनश्याम दास बिड़ला को लिखा कि 'अगर संविधान सभा को संगीनों के साये में बैठना है तो ऐसी संविधान सभा का न बैठना ही अच्छा है।'[11] स्पष्ट है कि वह संविधान सभा जिस रूप में प्रारंभ हो रही थी वह गांधीजी को स्वीकार्य नहीं थी। इतिहास साक्षी है कि कांग्रेस नेतृत्व ने महात्मा गांधी की सलाह सुनी नहीं। वही किया जो ब्रिटिश सरकार चाहती थी।

उस समय भारत दो प्रकार के शासन में था। ब्रिटिश भारत और रियासतें। ब्रिटिश भारत के लिए 296 स्थान संविधान सभा में निर्धारित हुए थे। रियासतों के लिए 93 स्थान रखे गए थे। इस तरह संविधान सभा 389 सदस्यों की बनने वाली थी। जिसके लिए परोक्ष रीति से 1946 के जुलाई–अगस्त में चुनाव कराए गए। कांग्रेस को बड़ा बहुमत मिला था। करीब 69 फीसद सीटें उसने जीत ली थी। कारण कि कांग्रेस का जनाधार बहुत व्यापक था। वह एक राष्ट्रीय मंच की तरह काम कर रही थी। कांग्रेस ने ज्यादातर उन्हें ही उम्मीदवार बनाया जो राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय रूप से भागीदारी कर रहे थे। इसके कुछ अपवाद भी थे। संविधान सभा में कम्युनिस्ट पार्टी, सोशलिस्ट पार्टी तथा हिन्दू महासभा का कोई अधिकृत प्रतिनिधि नहीं था। जो थे वे कांग्रेस के निर्णय से चुने गए थे। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कहीं से भी अनुचित नहीं होगा कि संविधान सभा में परंपरागत, प्रचलित और आधुनिक विचारधाराएं अदृश्य थी।

कांग्रेस की तुलना में मुस्लिम लीग के

यहां विपरीत उदाहरण देख महात्मा गांधी ने कांग्रेस नेताओं को सलाह दी कि वे वायसराय के निमंत्रण को अस्वीकार करें। उस समय की परिस्थितियों में वह सलाह पूरी तरह सही थी

संविधान का उद्‌गम स्थल वह कार्यालय ही था। जिसके सूत्रधार संवैधानिक सलाहकार के रूप में एस. बेनेगल नरसिंह राव थे। वायसराय लार्ड वेवेल ने 19 सितंबर, 1946 को संविधान सभा बनाने की घोषणा की। उसके बाद उन्होंने सबसे पहला काम जो किया वह बेनेगल नरसिंह राव को सुधार विभाग में नियुक्त किया।

प्रतिनिधि अपेक्षाकृत कम चुनकर आए। संविधान सभा की पहली बैठक 9 दिसंबर, 1946 को हुई। उस दिन सोमवार था। सभा ने वयोवृद्ध सदस्य डा. सच्चिदानंद सिन्हा को अस्थाई अध्यक्ष के रूप में निर्वाचित किया। उनके नाम का प्रस्ताव आचार्य जे.बी. कृपलानी ने रखा। ऐसा करते हुए उन्होंने दो बातों पर जोर दिया। एक कि डा. सच्चिदानंद सिन्हा पुराने कांग्रेसी हैं। दो कि वे सभा में सबसे वयोवृद्ध हैं। अस्थाई अध्यक्ष का आसन ग्रहण कर डा. सच्चिदानंद सिन्हा ने अमेरिका, चीन और आस्ट्रेलिया से प्राप्त शुभकामना संदेश पढ़े। उसके बाद उन्होंने उद्‌घाटन भाषण दिया। उसमें संविधानसभा के लिए मार्गदर्शक सूत्र हैं। उनके भाषण का सार यह था कि 'भारत जैसे देश के लिए विधान बनाने में तर्क–संगत शर्तो और विवेकपूर्ण समझौतों की जितनी आवश्यकता है, उतनी और कहीं नहीं।' उन्होंने यह स्वीकार किया कि 'आज हम सब इस सभा में ब्रिटिश कैबिनेट मिशन की योजना के अनुसार समवेत हुए हैं।' यह याद दिलाया कि 'भारतीय इतिहास का यह महान और स्मरणीय अवसर है।' डा. सच्चिदानंद सिन्हा ने सदस्यों के शपथ ग्रहण की प्रक्रिया को सरल बनाकर समय बचाया। पहले दिन 207 सदस्यों ने शपथ ली और रजिस्टर पर अपने हस्ताक्षर किए जबकि 296 सदस्य चुने गए थे। जिसमें कांग्रेस के 205 और मुस्लिम लीग के 73 सदस्य थे। जिन सदस्यों ने पहले दिन शपथ ली उनमें एक डा. भीमराव रामजी अबंडेकर भी थे। दो दिन बाद 11 दिसंबर को डा. राजेंद्र प्रसाद संविधान सभा के अध्यक्ष चुने गए। उनके नाम का प्रस्ताव कांग्रेस अध्यक्ष और सभा के सदस्य आचार्य जे.बी. कृपलानी ने किया। पंडित नेहरू और सरदार पटेल ने समर्थन किया। 24 जनवरी, 1947 को डा. एच.सी. मुखर्जी पर उपाध्यक्ष का दायित्व आया।

बेनेगल नरसिंह राव संविधान सभा के 'संवैधानिक सलाहकार' बहुत पहले ही बना दिए गए थे। उनका कार्यालय कई महीनों से काम कर रहा था। उसे वैधानिक रूप देने का प्रस्ताव पंडित जवाहरलाल नेहरू ने 10 दिसंबर को रखा। उन्होंने सभा को बताया कि 'सभा के समवेत होने से कई महीने पहले से कार्यालय काम कर रहा है।'[12] उनके प्रस्ताव को सभा ने पारित किया। संविधान का उद्‌गम स्थल वह कार्यालय ही था। जिसके सूत्रधार संवैधानिक सलाहकार के रूप में एस. बेनेगल नरसिंह राव थे। वायसराय लार्ड वेवेल ने 19 सितंबर, 1946 को संविधान सभा बनाने की घोषणा की। उसके बाद उन्होंने सबसे पहला काम जो किया वह बेनेगल नरसिंह राव को सुधार विभाग में नियुक्त किया। वेवेल के निर्देश पर बेनेगल राव ने 21 नवंबर, 1946 को जवाहरलाल नेहरू से लंबी बात की। उसी बातचीत ने बेनेगल राव के लिए संवैधानिक सलाहकार होने का रास्ता खोला। उन्होंने ब्रिटेन, कनाडा, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका और आयरलैंड के संविधान का अध्ययन कर तीन जिल्दो में दूसरे देशों के उदाहरण संविधान सभा के सदस्यों को दिए। डा. राजेंद्र प्रसाद और जवाहरलाल नेहरू को अपनी सलाह लिखित रूप में भी दी। एक प्रश्नावली भी सदस्यों में बांटी। उनके कार्यालय ने संविधान का प्रारूप बनाया। उसी पर प्रारूप समिति विचार करती थी। जिसके अध्यक्ष डा. भीमराव अंबेडकर थे। प्रारूप समिति के प्रस्ताव पर संविधान सभा विचार करती थी। बेनेगल राव के निधन पर डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने कहा कि उन्होंने संविधान की योजना बनाई और उसकी नींव रखी। लोकसभा अध्यक्ष मावलंकर ने कहा कि संविधान के रूप में उन्होंने एक अमूल्य कृति हमें दी।

कह सकते हैं कि बेनेगल राव का कार्यालय जो खाका बनाता था वह प्रारूप समिति से होकर संविधान सभा में पहुंचता था। जिसे वह सजाती थी। उसका शृंगार करती थी। संविधान में जो प्रस्तावना है वह बाद में बनी। यह एक तथ्य है। लेकिन संविधान निर्माण का लक्ष्य और उसकी दिशा के संकेत उस उद्देश्य संकल्प में हम पा सकते हैं, जिसे 13 दिसंबर, 1946 को पंडित जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा में प्रस्तुत किया। उद्देश्य संकल्प का समर्थन पुरूषोत्तम दास टंडन ने किया था। उस समय पंडित जवाहरलाल नेहरू ने स्वीकार किया कि 'यह जो संविधान सभा है, बिल्कुल उस किस्म की नहीं है जैसा कि हम लोग चाहते थे। खास हालात में यह पैदा हुई है। और इसके पैदा होने में अंग्रेजी हुकूमत का हाथ है।' उनके इस कथन में उस समय का इतिहास छिपा हुआ है। उनका अफसोस भी इससे उजागर होता है कि हमें महात्मा गांधी की सलाह मान लेनी चाहिए थी। थोड़ा इंतजार करना चाहिए था। इसे उन्होंने संकेतों में कहा। यह उनकी खास शैली थी। तब 'देश के राजनीतिक वातावरण में, जहां एक ओर अभूतपर्व उत्साह, दृढ़ संकल्प और नवनिर्माण की अदम्य आकांक्षाओं से जाग्रत राष्ट्र मानस था। वहीं दूसरी ओर अनिश्चिय, संदेह और असमंजस के बादल भी घिरे हुए थे।' ऐसे समय में नेहरू ने कहा कि 'मैं आपके सामने जो प्रस्ताव प्रस्तुत कर रहा हूं उसमें हमारे उद्देश्यों की व्याख्या की गई है। योजना की रूपरेखा दी गई है। यह बताया गया है कि हम किस रास्ते पर चलने वाले हैं।'

यह आम और पक्की धारणा है कि जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा के उद्देश्य प्रस्ताव को स्वयं बनाया। जिसमें मौलिक अधिकार, संघवाद, गणराज्य आदि तत्व के लक्ष्य थे। 1946 आते–आते ये विचार कांग्रेस के कार्यक्रम में सम्मिलित हो गए थे। आश्चर्य तो तब होता है जब जवाहरलाल नेहरू के उद्देश्य प्रस्ताव में 'समाजवाद' का उल्लेख नहीं था। क्यों नहीं था? क्या जवाहरलाल नेहरू सिर्फ दिखावे के समाजवादी थे? यह सवाल नेहरू के जीवनीकार माइकल ब्रेकर ने उठाया है और जवाब दिया है कि 'संभवतः सरदार पटेल ने ऐसा होने नहीं दिया।'[13] उस

समय को पंडित जवाहरलाल नेहरू ने इस तरह परिभाषित किया–'भारतीय इतिहास के अद्भुत अवसर पर हम यहां समवेत हुए हैं। इस परिवर्तन–काल में मुझे कुछ विस्मय सा प्रतीत होता है। वैसा ही विस्मय, जैसा रात से दिन होने में मालूम होता है। विस्मित पंडित नेहरू बोले कि 'एक तरह से यह एक इकरारनामा–सा है।' इकरारनामा उनके साथ वे घोषित कर रहे थे जो संविधान सभा के सदस्य होकर भी एक निर्णय से बाहर थे। वह मुस्लिम लीग थी। स्पष्टतया उनका मन भारत विभाजन की आशंका से ग्रस्त था।

उद्देश्य संकल्प पर सात दिन बहस हुई। उसी दौरान डा. एम.आर. जयकर ने 16 दिसंबर, 1946 को एक संशोधन प्रस्तुत किया। जिसमें उन्होंने सभा से अपील की कि जब तक मुस्लिम लीग और रियासतों के प्रतिनिधि संविधान सभा में न आ जाएं तब तक उद्देश्य प्रस्ताव पर विचार स्थगित रहे। 21 दिसंबर, 1946 को अगले अधिवेशन तक के लिए विचार स्थगित रखा गया। इससे मुस्लिम लीग को एक महीने का समय मिला। संविधान सभा के बहिष्कार का निर्णय उसने नहीं बदला। आखिरकार 22 जनवरी, 1947 को सदस्यों ने सभा में खड़े होकर उद्देश्य प्रस्ताव को स्वीकार किया। संविधान सभा ने अपना काम लगभग पूरा कर लिया था। उसके दसवें अधिवेशन में 17 अक्टूबर, 1949 को थोड़ी बहस के बाद प्रस्तावना स्वीकार की गई।

डॉ. भीमराव आंबेडकर ने प्रस्तावना को समझाते हुए कहा कि इसके तीन हिस्से हैं।[14] पहला घोषणात्मक है। दूसरा वर्णनात्मक है। तीसरा लक्ष्यमूलक है। पहले हिस्से का प्रारंभ उन्होंने 'हम भारत के लोग' शब्द से करने का प्रस्ताव रखा। महावीर त्यागी ने उन्हें टोका। पूछा–'लोग कहां से आ गए। इस कार्य में तो संविधान सभा के सदस्य हैं।' अपनी चुटीली शैली में महावीर त्यागी बड़ी बात कहने के लिए जाने जाते रहे हैं। उस दिन भी उन्होंने एक गंभीर मुद्दा उठा दिया। जिसे डा. भीमराव आंबेडकर ने समझा और जवाब में कहा कि 'मेरे मित्र त्यागी कह रहे हैं कि संविधान सभा का निर्वाचन एक संकीर्ण मताधिकार के आधार पर हुआ था। यह बिल्कुल सत्य है।' इसे

कुख्यात आपातकाल में इंदिरा गांधी ने एक विवादास्पद संशोधन संविधान की प्रस्तावना में कराया। उसमें समाजवाद और पंथनिरपेक्षता ये दो शब्द जोड़े गए। जो संविधान के राजनीतिक दुरूपयोग का उदाहरण है

स्वीकार कर डॉ. अंबेडकर ने कहा कि जो विषय हमारे सामने है उसका इससे कोई संबंध नहीं है। उन्होंने अमेरिका के संविधान का उदाहरण देकर सदस्यों को निरूत्तर किया। इस तरह अमेरिका के तर्ज पर ही प्रस्तावना की शुरुआत 'हम भारत के लोग' से हुई। प्रस्तावना किसी भी संविधान की आत्मा होती है। संविधान का दर्शन उसकी प्रस्तावना में होता है। देश की आस्थाएं, आधारभूत मूल्य और भविष्य की दिशा के संकेत इसमें दिए जाने का चलन तब से है जबसे संविधान बनना शुरू हुआ।

कुख्यात आपातकाल में इंदिरा गांधी ने एक विवादास्पद संशोधन संविधान की प्रस्तावना में कराया। उसमें समाजवाद और पंथनिरपेक्षता ये दो शब्द जोड़े गए। जो संविधान के राजनीतिक दुरूपयोग का उदाहरण है। संविधान विशेषज्ञ मानते हैं कि यह संविधान के साथ मौलिक छेड़छाड़ है। संविधान निर्माता नहीं चाहते थे कि संविधान किसी विचारधारा, वाद और आर्थिक सिद्धांत के साथ संलग्न किया जाए। वे संविधान को बहती नदी की तरह बरत रहे थे। जो जहां जैसी जरूरत पड़े वहां अपना मार्ग खुद बना लेती है। लेकिन जिन दिनों इंदिरा गांधी ने लोकतंत्र की हत्या कर अपनी तानाशाही कायम की थी, उन्हीं दिनों संविधान निर्माताओं के विचार और संवैधानिक दर्शन की उपेक्षा कर उन्होंने अनावश्यक शब्द जुड़वाए। लोकतंत्र की बहाली जनता शासन में हुई तब एक संविधान संशोधन से अनेक विकृतियों को दूर किया गया। परंतु प्रस्तावना में हुई छेड़छाड़ को जनता शासन ने भी ज्यों का त्यों रहने दिया।

संविधान को समझने के लिए यह जरूरी है कि यह जानें कि एक संस्थान के तौर पर संविधान सभा कैसी थी? उसकी निर्माण प्रक्रिया क्या थी और उसमें निर्णय कैसे होते थे? यह जानना इसलिए भी जरूरी है क्योंकि संविधान निर्माण का कार्य विषम परिस्थितियों में हुआ। इसलिए ही संविधान निर्माण की प्रक्रिया का महत्व असाधारण रूप से बढ़ जाता है। इस बारे में ग्रेनविल आस्टिन ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि 'संविधान सभा प्रमुखतया एक दलीय सभा थी। जिसका संचालन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जैसी बड़े जनाधार वाली पार्टी के हाथ में था। लेकिन वह समूचे भारत का प्रतिनिधित्व करती थी। उसकी अंदरूनी प्रक्रिया भी लोकतांत्रिक थी।'[15] संविधान सभा को कांग्रेस तथा कांग्रेस को भारत का पर्याय माना जाता था। कांग्रेस के पास संख्या बल और नेताओं की एक लंबी कतार थी। फिर भी कांग्रेस कार्यसमिति ने इस बात का पूरा ध्यान रखा कि ऐसे प्रतिनिधि संविधान सभा में जरूर पहुंचे जिनमें प्रशासनिक, कानूनी और संवैधानिक योग्यता हो। इसी श्रेणी में सच्चिदानंद सिन्हा, डा. भीमराव अंबेडकर, के.एम. मुंशी, ए.के. अय्यर और डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी आदि के नाम हैं।

संविधान सभा ने तीन चरणों में काम किया। पहले चरण में वह ब्रिटिश सरकार की शर्तों से बंधी थी। उसके हाथ पांव में बेड़ियां थी। यह चरण है–9 दिसंबर से 2 जून 1947। दूसरे चरण में भारत विभाजन की घोषणा होती है। वह बहुत उथल–पुथल और मारकाट से भरा है। यह चरण है 3 जून, 1947 से 14 अगस्त, 1947। तीसरा चरण भारत के विभाजन और स्वाधीनता संग्राम की आंशिक सफलता का है। इसक प्रारंभ 15 अगस्त 1947 को हुआ। परिणाम स्वरूप संविधान सभा संप्रभु हो गई। तब से 26 नवंबर सन् 1949 तक संविधान सभा ने काम किया। संविधान बनाया। लेकिन शुरू के कुछ महीने संविधान सभा के लिए भारी असमंजस के थे। शुरू के 6 महीने इंतजार में बीते। संविधान सभा में और उसके बाहर कांग्रेस अपनी नीतियां परिस्थितियों के दबाव में बदलती रही। अपनी योजनाएं स्थगित करती रही। कांग्रेस नेतृत्व इंतजार करता

रहा कि मुस्लिम लीग आखिरकार संविधान सभा में पहुंचेगी। वैसा हुआ नहीं। ग्रेनविल आस्टिन ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संविधानः राष्ट्र की आधारशिला' में लिखा है कि 'दिसंबर के पूरे महीने नेहरू तथा सभा के अन्य नेता यह उम्मीद लगाए रहे कि शायद लीग अपने सदस्यों से सभा में शामिल होने के लिए कहेगी। इसलिए कांग्रेस सभा के बाहर और भीतर अपनी नीतियों को बदलती या स्थगित करती रही। लेकिन यह उम्मीद निष्फल रही। मुस्लिम लीग को संविधान सभा में लाने की तमाम कोशिशें विफल हो गई। संविधान सभा के दूसरे अधिवेशन यानी जनवरी 1947 के आखिर तक यह लगभग साफ हो चुका था कि लीग अब सभा में कभी शामिल नहीं होगी। लेकिन इसके बावजूद सभा अपना काम करती रही। वह मौलिक अधिकारों और संघीय ढांचे का प्रारूप तय करने तथा रियासतों के साथ वार्तालाप के लिए समितियों का गठन करने जैसे शुरुआती कार्यों में जुटी रही।' उन्होंने यह भी जोड़ा है कि 'अप्रैल के आखिर में जब संविधान सभा का तीसरा अधिवेशन हुआ तो विभाजन का मुद्दा हवा में तैर रहा था। इस कारण संघीय प्रावधानों से संबंधित बहस को स्थगित कर दिया गया। लेकिन मई के पूरे महीने संविधान सभा की विभिन्न समितियां कैबिनेट मिशन योजना के अंतर्गत तय किए गए कार्यों को स्थगित करती रहीं।'

जानने की बात यह है कि संविधान सभा के गठन के लिए हुए चुनाव में हिस्सा लेने के बाद मुस्लिम लीग ने उसका बहिष्कार क्यों किया? इस बारे में डॉ. सुभाष कश्यप ने लिखा है कि 'इस बीच दो घटनाएं ऐसी हुई जिनका मुस्लिम लीग के रुख पर गहरा प्रभाव पड़ा। एक कि ब्रिटिश भारतीय प्रांतों के लिए जो 296 स्थान निर्धारित किए गए थे, उनके लिए चुनाव जुलाई, 1946 में पूरे कर लिए गए। संविधान सभा के चुनावों में ब्रिटिश भारत के 296 स्थानों में से 205 कांग्रेस ने जीते। जबकि लीग को 73 स्थान ही मिले। संविधान सभा में कांग्रेस को इतना भारी बहुमत पाया देखकर जिन्ना को निराशा जहां हुई वहीं आशंकाओं ने उन्हें घेर लिया। गोया कि 10 जुलाई 1946 को एक संवाददाता सम्मेलन में कांग्रेस अध्यक्ष पंडित जवाहरलाल नेहरू ने यह दुर्भाग्यपूर्ण वक्तव्य दे डाला कि प्रांत संघों अथवा समूहों में सम्मिलित होने से मना कर सकते हैं। अर्थात वर्गीकरण ऐच्छिक है अनिवार्य नहीं। यह भी हो सकता है कि कोई वर्गीकरण हुआ ही न हो। उनके इस वक्तव्य के बड़े घातक परिणाम निकले। मुस्लिम लीग को यह कहने का अवसर मिल गया कि कांग्रेस ने वस्तुतः कैबिनेट मिशन को पूरी तरह स्वीकार नहीं किया था।'[16] मौलाना अबुल कलाम आजाद ने भी माना है कि 10 जुलाई का पंडित नेहरू का वक्तव्य उन दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं में से था जिन्होंने इतिहास का रुख बदल दिया।

सार यह है कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग में 'प्रांत समूहों के वर्गीकरण' पर मतभेद हो गया। वह प्रस्ताव कैबिनेट मिशन का था। जो तर्क मुस्लिम लीग का था उसका ब्रिटिश सरकार ने 6 दिसंबर, 1946 को समर्थन कर दिया। स्पष्ट है कि मुस्लिम लीग की पीठ पर ब्रिटिश सरकार ने अपना हाथ रख दिया। उस समर्थन में ही भारत विभाजन की प्रारंभिक रूपरेखा थी। परिणामस्वरूप अपनी पुरानी मांग को पूरा होते देख मुस्लिम लीग ने 9 दिसंबर, 1946 से शुरू संविधान सभा का बहिष्कार किया।

वायसराय लार्ड माउंटबेटन ने भारत विभाजन की घोषणा 3 जून, 1947 को की। उससे संविधान सभा की मूल संरचना बदल गई। मूल संरचना में प्रदेशों से 292 सदस्य और रियासतों से 93 सदस्य चुने जाने थे। भारत विभाजन की योजना से पाकिस्तान के लिए अलग संविधान सभा बनी। इस कारण बंगाल, पंजाब, सिंध, सीमाप्रांत, बलूचिस्तान और असम के सिलहट से जो सदस्य चुनकर आए थे वे भारत की संविधान सभा के सदस्य नहीं रहे। नया चुनाव हुआ। परिणामस्वरूप भारत की संविधान सभा की संख्या जो 389 रहनी थी वह सिकुड़कर 299 रह गई। 26 नवंबर, 1949 को जब संविधान अपनाया गया तो संविधान की मूल प्रति पर 284 सदस्यों ने हस्ताक्षर किए। भारत विभाजन सुनिश्चित हो जाने पर ही मुस्लिम लीग के सदस्य एक दिन के लिए संविधान सभा में आए। तारीख थी 14 जुलाई, 1947। अध्यक्ष ने जब हाजी अब्दुल सत्तार सेठ का नाम जैसे ही परिचय पत्र पेश करने और हस्ताक्षर करने के लिए पुकारा कि तब दिल्ली से स्वाधीनता सेनानी देशबंधु गुप्त ने एक सवाल उठाया और पूछा कि क्या हाजी दो राष्ट्रों के सिद्धांत में विश्वास रखते हैं या नहीं। अध्यक्ष डा. राजेंद्र प्रसाद ने इसे अमान्य कर दिया। देशबंधु गुप्त ने सवाल सही उठाया था। 15 अगस्त, 1947 से संविधान सभा संप्रभु हुई। उससे पहले नहीं थी। विभाजन के बाद संविधान सभा में कांग्रेस का बहुमत बढ़कर 82 फीसद हो गया।

संविधान सभा में वैचारिक विविधता थी। जवाहरलाल नेहरू संसदीय लोकतंत्र और यूरो–अमेरिकन शासन नीति के पक्षधर थे। उनकी संविधान निर्माण में केंद्रीय भूमिका रही। डा. भीमराव रामजी अंबेडकर दलितों की आवाज थे। संविधान को सामाजिक परिवर्तन का उपकरण बनाने में उन्होंने अग्रणी भूमिका निभाई। गांधी को मानने वाले वैसे तो बहुत कम थे। जो थे उनकी आवाज सुनी नहीं गई। वे ग्राम स्वराज्य और पंचायत प्रणाली आधारित विकेंद्रित लोकतंत्र के लिए प्रयासरत थे। के.टी. शाह समतामूलक विचार के थे। डा. श्यामा प्रसाद मुखर्जी और डा. पुरुषोत्तम दास टंडन राष्ट्रीय जीवन दर्शन से प्रेरित थे। उनकी भूमिका नगण्य बना दी गई थी। जो संविधान बना उसका मूल चरित्र यूरो–अमेरिकी है। यह संविधान की बड़ी विडंबना है। संविधान सभा का नेतृत्व जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद और मौलाना अबुल कलाम आजाद मुख्यतः कर रहे थे। ग्रेनविल ऑस्टीन के अनुसार इन चारो नेताओं ने 'संविधान सभा में एक अल्पतंत्र' (जिसे एक गुट कह भी सकते हैं) बना लिया था। ये चार नेता संविधान सभा में सहमति बनाने के लिए अपने पद और प्रभाव का पूरा उपयोग करते थे। इनके अलावा डा. भीमराव

वायसराय लार्ड माउंटबेटन ने भारत विभाजन की घोषणा 3 जून, 1947 को की। उससे संविधान सभा की मूल संरचना बदल गई। मूल संरचना में प्रदेशों से 292 सदस्य और रियासतों से 93 सदस्य चुने जाने थे

अंबेडकर, अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर, टी. टी. कृष्णमाचारी, शरत चंद्र बोस, के. एम. मुंशी, अनंतशयनम अयंगार, एन गोपाल स्वामी अयंगार, जयराम दास दौलत राम, शंकर राव देव, जी दुर्गाबाई, एच.सी. मुखर्जी, पंडित गोविंद वल्लभ पंत, एन माधव राव, सत्य नारायण सिन्हा, डा. पट्टाभि सीतारमैया और बेनेगल नरसिंह राव संविधान सभा में सबसे प्रभावशाली सदस्य थे। संविधान की रचना प्रक्रिया पर इनकी गहरी छाप है। हालांकि बेनेगल नरसिंह राव संविधान सभा के सदस्य तो नहीं थे लेकिन संवैधानिक सलाहकार के रूप में वे ही धुरी की भूमिका में थे। प्रत्येक समिति में वे जरूरत पड़ने पर उपस्थित रहते थे। संवैधानिक इतिहास के वे ज्ञाता थे। यूरो–अमेरिकी संवैधानिक परिपाटी के गहरे जानकार थे। प्रारूप तैयार करने में उन्हें महारथ हासिल थी। उन्होंने ही संविधान को पंडित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में 'अल्पतंत्र'[17] की सहमति से यूरो–अमेरिकी चरित्र दिया।

संविधान सभा के सदस्यों में बहस जो होती थी वह अनौपचारिक ज्यादा थी। उसका समय तय सा था। जब संविधान सभा का सत्र चल रहा होता था उस समय कांस्टीट्यूशन हाउस में वे अपने मन को एक–दूसरे से खोलते थे। तनातनी भी होती थी। तब कांस्टीट्यूशन हाउस आज के दीवान श्री अपार्टमेंट (फिरोज शाह रोड) के परिसर में था। जिन विषयों पर गंभीर मतभेद थे उनमें लोक–सेवा, संपत्ति तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता, संघीय प्रावधान तथा भाषा जैसे मुद्दों पर कांग्रेस बहुत विभाजित थी। संविधान सभा के सामने सबसे बड़ा प्रश्न राज्य व्यवस्था के स्वरूप निर्धारण का था। एक विकल्प यह था कि यूरो–अमेरिकी संवैधानिक परंपरा को अपना कर राज्य व्यवस्था की रचना करें। इसी विकल्प को कांग्रेस की संविधान समिति ने स्वीकार किया। 'यूरोप और अमेरिका की संवैधानिक परंपरा को अपना उदाहरण मानने का अर्थ कुल मिलाकर उसी दिशा में चलते रहना'[18] था जिस दिशा में औपनिवेशिक शासन के दौरान भारत चलता रहा था। संविधान सभा में यह अप्रैल, 1948 की बात है। जिससे भारत में जो राज्य व्यवस्था संविधान से बनी वह औपनिवेशिक शासन का विस्तार और नया संस्करण है।

इसके विकल्प के तौर पर देश की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उसकी समृद्ध धरोहर को खंगाल कर प्राचीन देशज संस्थाओं पर विचार करने की संविधान सभा ने जरूरत ही नहीं समझी। इसे 19 नवंबर, 1949 को डॉ. रघुबीर ने संविधान सभा में इस तरह रखा–'जिस समय हमारे संविधान के सलाह देने वाले मंत्रदाता बी.एन. राव और दूसरे सज्जन आयरलैंड में जा सकते हैं, जिस समय वे लोग स्वीट्जरलैंड और अमेरिका जा सकते हैं, यह देखने के लिए कि दूसरे देश अपने राज्य का कारोबार किस तरह चलाते हैं, तो क्या इस देश में कोई ऐसा जानने वाला लिखने पढ़ने वाला व्यक्ति विद्यमान नहीं था जो आपको यह बताता कि यह देश भी कुछ अनुभव रखता है, इस देश के रक्त में भी कुछ ऐसे विचार हैं जो लोगों के अंदर घुसे हुए हैं और उनसे भी हमको लाभ उठाना चाहिए।'[19] यह तो सुनिश्चित ही था कि लोकतंत्र को अपनाना है। लेकिन राज्य व्यवस्था पर बहस बहुत गंभीर थी। महात्मा गांधी ने कांग्रेस की संविधान समिति के समक्ष दो प्रस्ताव रखे। पहला 1946 में[20] रखा और दूसरा 1948 में[21] दूसरा प्रस्ताव ज्यादा विस्तृत था। जिसे उन्होंने अपने जीवन की अंतिम रात्रि को लिखा था। वास्तव में वही उनकी देश–समाज और विश्व के लिए धरोहर है। कांग्रेस ने गांधीजी के उस प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया। महात्मा गांधी के देहांत के बाद श्रीमन नारायण अग्रवाल ने एक कोशिश की। गांधी विचार आधारित एक संविधान का प्रारूप उन्होंने प्रस्तुत किया। उसे भी ठुकरा दिया गया।

इस तरह संविधान सभा ने दो विकल्प में से एक को चुना। प्रश्न यह था और आज भी है कि भारतीय समाज की संरचना में गैर बराबरी आदि जो दोष गुलामी के दिनों में आए वे किस प्रकार की राज्य व्यवस्था से दूर किए जा सकते हैं। सामाजिक क्रांति क्या औपनिवेशिक काल की भेदभाव परक विघटनकारी नीतियों की निरंतरता से दूर की जा सकती है? यही वह यक्ष प्रश्न है जिसे संविधान सभा के 'अल्पतंत्र' ने न सुनना उचित समझा। ग्रेनविल आस्टिन के शब्द हैं–'भारत को उसके वर्तमान संविधान की दिशा में प्रवृत करने का श्रेय कांग्रेस की विशेषज्ञ समिति[22] को जाता है। इस समिति के अध्यक्ष नेहरू थे। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति द्वारा गठित इस विशेषज्ञ समिति का उद्देश्य संविधान सभा के लिए सामग्री तैयार करना था। उल्लेखनीय है कि कार्यकारी समिति के आठ सदस्य हाल ही में सभा के लिए निर्वाचित किए गए थे हालांकि पटेल इस समिति के सदस्य तो नहीं थे लेकिन उन्होंने समिति की कई बैठकों में भाग लिया था। इन बैठकों की शुरुआत मध्य जुलाई 1946 से हुई और सभा के सत्र के दौरान चार दिनों तक चली। बैठकों का क्रम एक महीने बाद फिर शुरू हुआ और पुनः चार दिनों तक चला। समिति के सदस्य कैबिनेट मिशन योजना की रूपरेखा के अंतर्गत काम करते हुए स्वायत्तशासी क्षेत्रों, प्रांतीय सरकारों और केंद्र की शक्तियों तथा रियासतें व विभिन्न शक्तियों के संशोधन आदि के बारे में सामान्य सुझाव देते थे। इन सदस्यों ने एक प्रस्ताव का प्रारूप भी तैयार किया था जो आगामी दिसंबर में जारी किये जाने वाले उस उद्देश्य संबंधी प्रस्ताव से काफी मिलता था जिसमें संविधान के सामाजिक उद्देश्यों को स्पष्ट करने के अलावा शक्ति को जनता से उत्पन्न बताया गया था। हालांकि कैबिनेट मिशन यह मानकर चला था कि भारत अपने संविधान के लिए 1935 के अधिनियम से प्रेरणा प्राप्त करेगा, परंतु उसमें इस बात की गुंजाइश भी रखी थी कि अगर विशेषज्ञ समिति चाहे तो वह संविधान सभा के अप्रत्यक्ष और पंचायत सरकार की व्यवस्था करने का सुझाव भी दे सके। लेकिन समिति ने गांधीवादी दृष्टिकोण को महत्व न देते

संविधान सभा के सदस्यों में बहस जो होती थी वह अनौपचारिक ज्यादा थी। उसका समय तय सा था। जब संविधान सभा का सत्र चल रहा होता था उस समय कांस्टीट्यूशन हाउस में वे अपने मन को एक-दूसरे से खोलते थे। तनातनी भी होती थी

हुए केवल संसदीय सरकार की संस्थाओं पर विचार किया और एक अनिश्चित किस्म की अनुशंसा की कि संविधान को एक ढीला–ढाला संघ होना चाहिए।'[23] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संविधान सभा की दिशा गांधी विचार से विपरीत थी।

संविधान सभा के पांचवे सत्र में रामनारायण सिंह ने सुझाया कि 'सरकार की प्राथमिक इकाइयां गांव में स्थापित की जानी चाहिए।' वे ग्राम स्वराज आधारित राज्यव्यवस्था का सुझाव दे रहे थे। उन्हें अनसुना कर संविधान सभा ने संसदीय पद्धति को अपनाया। संविधान के लेखन का दायित्व प्रारूप समिति और संवैधानिक सलाहकार बेनेगल नरसिंह राव को सौंप दिया गया। जो प्रारूप बना उसमें परिवार, गांव और पंचायत का कहीं भी उल्लेख नहीं था। इस पर जल्दी ही सदस्यों का ध्यान गया। क्योंकि उन्हें संविधान का प्रारूप पढ़ने के लिए काफी समय मिल गया। संविधान सभा के अध्यक्ष डा. राजेंद्र प्रसाद ने सबसे पहले इस भूल को पकड़ा।[24] उन्होंने 10 मई, 1948 को एक पत्र बेनेगल नरसिंह राव को लिखा।[25] उनसे कहा कि संविधान के प्रारूप में संशोधन करना चाहिए। उनका विचार पत्र में है। जिसमें वे लिखते हैं कि 'संविधान को गांव से शुरू करके केंद्र तक पहुंचना चाहिए। इस देश में आज तक गांव ही बुनियादी इकाई रहे हैं और आगे भी रहेंगे।' गांधी धारा के लोग चाहते थे कि वयस्क मताधिकार से ग्राम पंचायतें चुनी जाएं। विधायक और सांसद परोक्ष निर्वाचन से चुने जाएं। डा. राजेंद्र प्रसाद ने अपने पत्र में इसका पुरजोर समर्थन किया।

यह जानना रोचक है और आश्चर्यजनक भी है कि बेनेगल नरसिंह राव ने संविधान सभा के अध्यक्ष के सुझाव को ठुकरा दिया। क्या वह उनका ही निर्णय था? यह पत्र व्यवहार उस समय हुआ जब संविधान सभा नहीं चल रही थी। जब संविधान सभा की कार्यवाही 8 महीने बाद पुनः प्रारंभ हुई तो उसमें पंचायत का सवाल छाया रहा। डा. भीमराव अंबेडकर ने 4 नवंबर, 1948 को संविधान का प्रारूप प्रस्तुत किया। उन्हें पूरा ज्ञान था कि जिस प्रारूप को परामर्श के लिए जारी किया गया है उस पर क्या–क्या टीका–टिप्पणी हो रही है। दो मुख्य प्रश्न

सदस्यों ने संविधान सभा के प्रारूप पर प्रश्न उठाए। जो केंद्रीयकरण का संदेश लिए हुए थे। सदस्य लोकतंत्र को व्यापक बनाना चाहते थे। इसलिए ग्राम स्वराज्य को साकार करने के लिए पंचायत प्रणाली आधारित राज्य व्यवस्था के तर्क एक के बाद दूसरे सदस्य देते रहे

थे जिस पर गंभीर बहस देश में तब चल रही थी। उसकी ही प्रतिध्वनि संविधान सभा में प्रकट हुई। प्रारूप प्रस्तुत करते हुए डा. अंबेडकर ने जो तथ्य और तर्क दिए उसे सदस्य पचा नहीं पाए। उन पर तीखे तर्कों के बाण की भयंकर बौछार सदस्यों ने की। संविधान सभा की कार्यवाही के शब्द चित्र[26] यही बताते हैं। दो प्रश्न थे। संविधान के मूल में यही प्रश्न कसौटी बनते हैं। पहला कि सरकार का स्वरूप क्या होगा? दूसरा कि उसके लिए किस प्रकार की संवैधानिक व्यवस्था की गई है।

सदस्यों ने संविधान सभा के प्रारूप पर प्रश्न उठाए। जो केंद्रीयकरण का संदेश लिए हुए थे। सदस्य लोकतंत्र को व्यापक बनाना चाहते थे। इसलिए ग्राम स्वराज्य को साकार करने के लिए पंचायत प्रणाली आधारित राज्य व्यवस्था के तर्क एक के बाद दूसरे सदस्य देते रहे। केंद्रीयकरण की आलोचना का एक कारण यह भी था कि सदस्य अनुभव कर रहे थे कि नेतृत्व संघीय प्रणाली के अपने वायदे से विमुख हो रहा है। सदस्य तो पुराने वायदे पर अमल चाहते थे। वे केंद्र की सरकार को बहुत अधिक अधिकार दिए जाने के खतरों से ही परिचित थे। पर संविधान का प्रारूप एकात्मक शासन की ओर झुका हुआ इसलिए था क्योंकि भारत विभाजन ने देश की एकता और एकात्मता को पहली प्राथमिकता पर पहुंचा दिया था।[27] नेतृत्व उसी चुनौती को ध्यान में रखकर संघात्मक शासन के अपने वायदे से एक कदम पीछे हटा था। ज्यादातर सदस्यों ने डा. भीमराव अंबेडकर के भाषण के इस अंश को अत्यंत आपत्तिजनक माना कि 'हमारे ग्राम हैं क्या? ये कूप मण्डूकता के परनाले हैं, अज्ञान, संकीर्णता एवं सांप्रदायिकता की काली कोठरियां हैं। मुझे तो प्रसन्नता है कि संविधान के प्रारूप में ग्राम को अलग फेंक दिया गया है और व्यक्ति को राष्ट्र का अंग माना गया है।'[28] इससे सभा में उत्तेजना की लहर पैदा हो गई। जिससे बहुत तीखी बहस छिड़ी।

जवाहरलाल नेहरू को हस्तक्षेप करना पड़ा। हालांकि जो प्रश्न खड़े हुए थे उसका उन्होंने सीधा उत्तर नहीं दिया। वे दिवास्वप्न के राजनेता जो थे। लेकिन संविधान सभा में 8 नवंबर, 1948 को अपने लंबे भाषण से उन्होंने अनेक संदेश दिए। उनके व्यक्तित्व का चमत्कार कार्यवाही में भी दर्ज है।[29] इस रूप में कि वे जब बोलने के लिए उठे तो पूरी सभा ने 'हर्षध्वनि' की। ऐसा कई बार हुआ। उनके भाषण का यह अंश अक्सर उद्धृत किया जाता है पर आधा अधूरा। उसका प्रासंगिक अंश इस प्रकार है–'हम लोग, जो यहां सभा में समवेत हैं, अवश्य ही भारतीय जनता के प्रतिनिधि हैं, पर इस संविधान के अधीन नया चुनाव होने के बाद, जिसमें कि हर बालिग नर–नारी को मतदान का अधिकार होगा, जो सभा बनेगी–उसका नाम कुछ भी हो–वह वास्तविक प्रतिनिधि–मूलक सभा होगी, जिसमें हमारे प्रत्येक वर्ग के लोग आएंगे। यह उचित है कि इस प्रकार निर्वाचित सभा को यह अवसर मिलना चाहिए कि वह संविधान में इच्छानुसार परिवर्तन कर सके, और संविधान के अनुसार उसको अवश्य ही यह अधिकार दिया जायेगा। पर अपने संविधान को किसी भी हालत में ऐसा अपरिवर्तनशील नहीं बनाना चाहिए जैसे कि अन्य देशों के संविधान हैं, जिसमें कि परिवर्तित स्थितियों के अनुसार आसानी से अनुकूल परिवर्तन किए ही नहीं जा सकते। खासतौर पर आज जबकि समस्त विश्व घोर विप्लव की दशा में है और हम एक द्रुतग्रामी परिवर्तन काल से गुजर रहे हैं, आज हम जो करते हैं, वह हो सकता है कि कल के लिए उपयोगी न हो। इसलिए हमें अपने संविधान को यथासंभव ठोस और बुनियादी तो बनाना ही चाहिए किंतु साथ ही इसे लचीला भी रखना चाहिए और हमें ऐसी सुविधा होनी चाहिए कि कुछ वर्षों तक हम इसमें आसानी

से संशोधन कर सकें।'[30] पंडित जवाहरलाल नेहरू का यह कथन एक दिशा का सूचक है। इससे हर लोकसभा एक पाठ ग्रहण करती रही है। उनका कथन आज भी प्रासंगिक है। पंचायत संबंधी उस बहस को संविधान सभा के दो अग्रणी सदस्यों के. सन्तानम और एम. अनंतशयनम अयंगार ने संभाला।

संविधान के प्रारूप की आलोचना का दूसरा मुद्दा यह था कि उसमें भारत सरकार अधिनियम, 1935 से बहुत बड़ा हिस्सा जस का तस ले लिया गया है। संविधान मौलिक नहीं है। इस पर डा. भीमराव अंबेडकर ने जो कहा वह चिंहित करने योग्य है। 'इस आरोप के संबंध में कि इस प्रारूप में भारत सरकार अधिनियम, 1935 का ही वृहत अंश रख दिया गया है, मुझे क्षमा प्रार्थी होने की कोई आवश्यकता नहीं है।' डा. अंबेडकर जब यह कह रहे थे तब किसी कांग्रेसी नेता ने यह याद नहीं किया कि कांग्रेस ने तो भारत सरकार अधिनियम, 1935 को 1937 के चुनाव में निर्वाचित प्रतिनिधियों के सम्मेलन में खारिज कर दिया था। संविधान विरोधी दिवस मनाने के लिए एक प्रस्ताव भी पारित किया था। उसमें यह कहा गया कि 'यह सम्मेलन हिन्दुस्तान की जनता की इस राय को फिर दोहराता है कि 1935 का भारत शासन अधिनियम इस ढंग का है कि उससे हिन्दुस्तान की गुलामी और उसके शोषण की जड़ मजबूत होती है। उससे हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नींव मजबूत होती है।'[31]

संविधान सभा में लोकतंत्र पर आम सहमति थी। लेकिन उसके स्वरूप और शासन प्रणाली पर गंभीर मतभेद थे। डा. भीमराव अंबेडकर ने अपने लंबे भाषण में स्पष्ट कर दिया था कि शासन प्रणाली की दृष्टि से भारत का संविधान संसदीय लोकतंत्र की स्थापना करता है। जो गांधी विचार आधारित शासन प्रणाली बनाने के पक्षधर थे वे चाहते थे कि ग्राम सभा का चुनाव वयस्क मताधिकार पर हो। राज्य और केंद्र के लिए चुनाव परोक्ष हो। इसके लिए बिहार से संविधान सभा के सदस्य रामनारायण सिंह ने जो बात कही वह आज उनकी सटीक भविष्यवाणी लगती है। उन्होंने कहा कि 'डॉ. अंबेडकर ने सराहना के भाव से संसदीय लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली के प्रावधान का उल्लेख किया है। मुझे विश्वास है कि यह दलीय शासन को जन्म देगी जो पश्चिम में विफल हो चुका है।' एम. अनंतशयनम अयंगार और के. सन्तानम ने बहस के बीच एक ही तरह के संशोधन दिए। बिना देर किए बेहिचक डा. अंबेडकर ने सभा को यह कहकर चैंका दिया कि 'मैं संशोधन को स्वीकार करता हूं।' जिससे संविधान में पंचायत का प्रावधान हो सका। यहां डा. भीमराव अंबेडकर का उदार मन स्पष्टतया सामने आता है। अपने विचार को दरकिनार कर उन्होंने संशोधन को स्वीकार किया। संविधान सभा की भावना का आदर किया। इससे पंचायत के प्रश्न पर मतदान में जाने की जरूरत नहीं पड़ी। यह बात 22 नवंबर, 1948 की है। इससे संविधान सभा में संतोष का भाव प्रकट हुआ। जिसके प्रवक्ता बने डा.टी. प्रकाशम।

इस तरह बीच का एक रास्ता संविधान सभा में निकला। जिससे अनुच्छेद 40 में पंचायतों का उल्लेख हो गया। यह अनुच्छेद कहता है कि राज्य सरकारें ग्राम पंचायतों का संगठन करने के लिए कदम उठाएगी। उन्हें ऐसी शक्तियां और अधिकार प्रदान करेगी जिससे वे स्वायत शासन की इकाई के रूप में काम कर सकें। इस बारे में केंद्र की नेहरू सरकार और राज्यों की कांग्रेसी सरकारें लंबे समय तक उदासीन रहीं। संविधान सभा में एक निर्णय के कारण जयप्रकाश नारायण भी नहीं गए। लेकिन उन्होंने संविधान निर्माण को दूर से देखा–समझा। संविधान का अध्ययन किया। अपने अनुभव से उन्होंने पाया कि राज्य सरकारें पंचायती राज के प्रति अरुचि दिखा रही है। उन्होंने स्वराज्य के लिए एक राष्ट्रीय ग्रामदान सम्मेलन बुलाया। जिसमें अनेक मुख्यमंत्री और बड़े राजनीतिक नेता आए। उन्होंने एक लेख लिखा। जिसका शीर्षक था– 'भारतीय राज्य व्यवस्था की पुनर्रचनाः एक सुझाव।'[32] जयप्रकाश नारायण ने अपने लेख में दो बातें सुझाई। पहली यह कि संविधान की आत्मा में स्वतंत्रता और लोकतंत्र रचा–बसा है। लेकिन वह उल्टे पिरामिड पर खड़ा है। यानी स्वराज्य ऊपर से टपकाया जा रहा है। दूसरी बात उन्होंने यह कही कि 'यह उचित है कि पिछले दस साल की अवधि के अपने लोकतंत्रीय अनुभव का लेखा–जोखा किया जाए। यह लेखा–जोखा हमें एशिया और अफ्रीका के अन्य देशों और पश्चिम के पुष्ट लोकतंत्रों के अनुभवों की पृष्ठभूमि में करना होगा।' यह उनके विचार का निचोड़ है। वे चाहते थे कि ग्राम स्वराज्य की अवधारणा को साकार करने के लिए संविधान में उचित संशोधन किया जाए। यह बात 1959 के आस पास की है।

उनके उस लेख का पूरे देश में प्रभाव पड़ा। बहस छिड़ी। प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने बलवंत राय मेहता कमेटी बनाई थी। उसके बाद भी अनेक कमेटियां बनीं। हर कमेटी ने पंचायत प्रणाली को लाने के लिए सुझाव दिए। लेकिन प्रशासन के औपनिवेशिक मानसिकता से ग्रस्त तंत्र और राजनीतिक नेतृत्व ने उन सिफारिशों की अनदेखी की। परिणामस्वरूप वे सिफारिशें ग्रामीण विकास मंत्रालय के तहखाने में पड़ी रही। राजीव गांधी जब अपने प्रधानमंत्रित्व काल में बोफोर्स तोप खरीद में रिश्वतखोरी के आरोपों में फंसे तब उन्होंने एक ईमानदार अफसर को बतौर सजा ग्रामीण विकास मंत्रालय में सचिव बनाकर भेजा। वे थे– विनोद पांडे। उस अफसर ने तहखाने को तलाशा। बलवंत राय मेहता कमेटी की रिपोर्ट का अध्ययन कर प्रधानमंत्री राजीव गांधी को सुझाया कि अगर आप संविधान में संशोधन कर गांवों में पंचायत प्रणाली और शहरों में स्वशासित निकाय बनवाते हैं तो हो सकता है कि भ्रष्टाचार के आरोप लोग भूल जाए और दूसरी बार भी कांग्रेस को चुनाव में जीता दें।

इसीलिए संविधान का संशोधन प्रस्ताव आया।[33] लेकिन राजीव गांधी के सलाहकारों ने उन्हें एक नई सलाह दे

जिससे अनुच्छेद 40 में पंचायतों का उल्लेख हो गया। यह अनुच्छेद कहता है कि राज्य सरकारें ग्राम पंचायतों का संगठन करने के लिए कदम उठाएगी। उन्हें ऐसी शक्तियां और अधिकार प्रदान करेगी

प्रभात

नवनूतन प्रकाशन की गौरवशाली परंपरा

दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाङ्मय (पंद्रह खंडों का सैट)

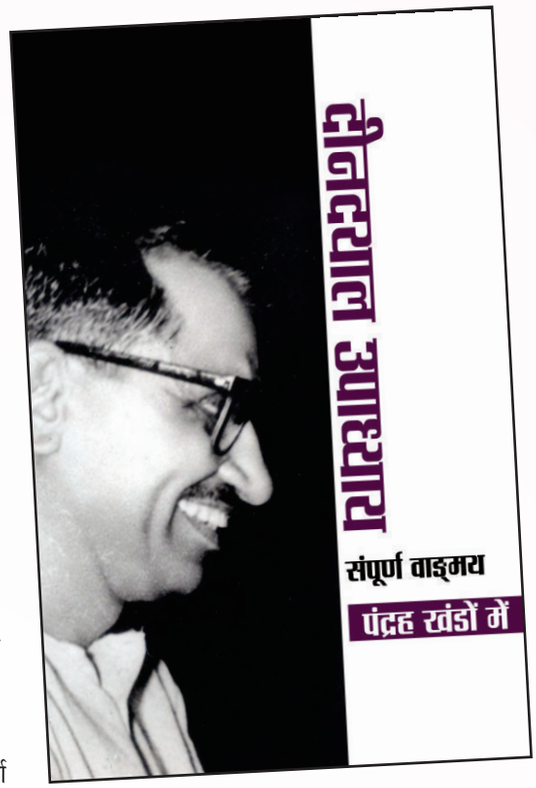

संपादक मंडल

• प्रो. देवेंद्र स्वरूप • श्री रामबहादुर राय • श्री अच्युतानंद मिश्र • श्री जवाहरलाल कौल
• श्री नंदकिशोर त्रिखा • श्री के.एन. गोविंदाचार्य • श्री ब्रजकिशोर शर्मा • डॉ. विनय सहस्रबुद्धे
• श्री अशोक टंडन • डॉ. सीतेश आलोक • श्री आलोक कुमार • श्री बलबीर पुंज
• डॉ. चमनलाल गुप्त • डॉ. भारत दहिया • श्री बनवारी • श्री हितेश शंकर • श्री प्रफुल्ल केतकर
• डॉ. रामप्रकाश शर्मा 'सरस' • श्री अतुल जैन • डॉ. राजीव रंजन गिरि • डॉ. वेद मित्र शुक्ल
• श्री राहुल देव • श्री उमेश उपाध्याय • श्री जगदीश उपासने • श्री सुशील पंडित
• श्री ज्ञानेंद्र बरतरिया • श्री भरत पंड्या • श्री मुज़फ़्फ़र हुसैन • श्री प्रभात कुमार • श्री स्वदेश शर्मा

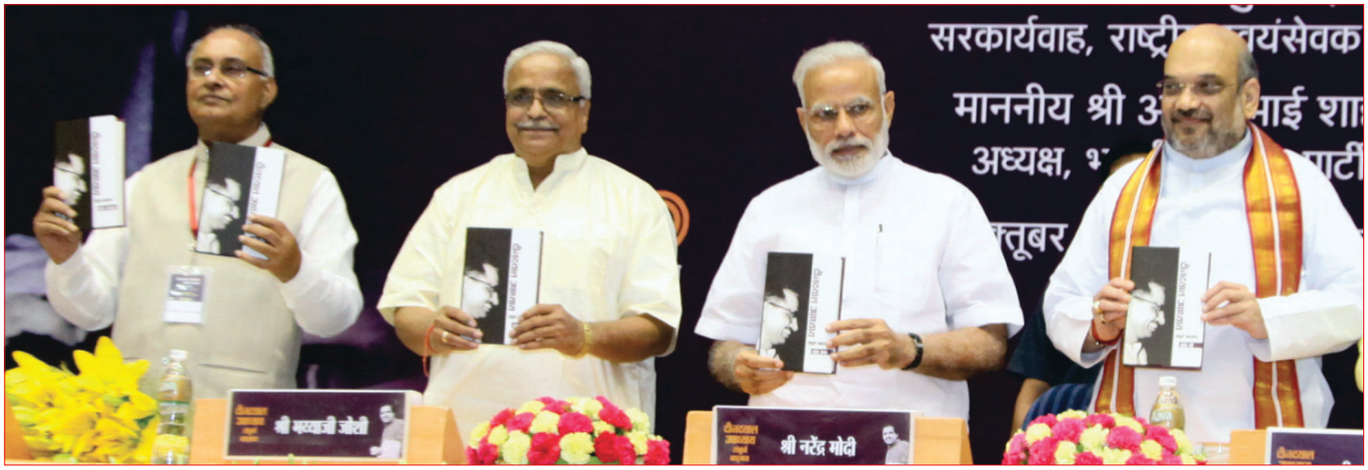

9 अक्तूबर, 2016 को नई दिल्ली के विज्ञान भवन में पं. दीनदयाल उपाध्याय जन्म शताब्दी वर्ष के अवसर पर डॉ. महेश चंद्र शर्मा द्वारा संपादित एवं प्रभात प्रकाशन द्वारा प्रकाशित 'दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाङ्मय' के पंद्रह खंडों का लोकार्पण भारत के प्रधानमंत्री मान. श्री नरेंद्र मोदी, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरकार्यवाह मान. श्री सुरेश (भय्याजी) जोशी व भारतीय जनता पार्टी के राष्ट्रीय अध्यक्ष मान. श्री अमित शाह के करकमलों द्वारा संपन्न हुआ।

''यह पंडितजी की जीवन-यात्रा, विचार-यात्रा और संकल्प-यात्रा की त्रिवेणी है। यह दिन इस त्रिवेणी का प्रसाद लेने का दिन है। पं. दीनदयाल उपाध्यायजी कहा करते थे कि अपने सुरक्षाबलों को मजबूत किए बिना कोई राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता को अक्षुण्ण नहीं रख सकता, इसलिए सुरक्षा-तंत्र मजबूत होना ही चाहिए। पंडितजी द्वारा कही गई बातें आज भी इतनी ही प्रासंगिक हैं।''

–श्री नरेंद्र मोदी, प्रधानमंत्री, भारत

''विचारों का छोटा सा बीज पं. दीनदयालजी ने बोया था, आज वह वटवृक्ष के रूप में खड़ा होकर न केवल भारत बल्कि पूरे विश्व की समस्याओं को सुलझाने की दिशा में अग्रसर है। उनका साहित्य उनकी सरलता, दूरदर्शिता और संकल्पशक्ति का परिचय कराएगा।''

–श्री अमित शाह, राष्ट्रीय अध्यक्ष, भाजपा

प्रभात प्रकाशन

ISO 9001:2008 प्रकाशक

4/19 आसफ अली रोड, नई दिल्ली-110002

हेल्पलाइन नं. 7827007777 ☎ 011-23257555

E-mail : prabhatbooks@gmail.com ✤ Website : www.prabhatbooks.com

एकात्म मानवदर्शन

अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान

28 मीना बाग, नई दिल्ली-110001

☎ 011-23062611

इ-मेल : ekatmrdfih@gmail.com

9867089326,22071127

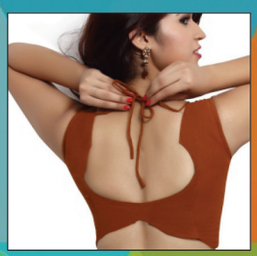

KOTHARI

FABRICS

INDIA'S PREMIUM BLOUSE FABRICS

RANG JO DIL CHAHE

KOTHARI FABRICS

TWO x TWO RUBIA

- Skin Friendly
- Wrinkle resistence
- Cotton Rich
- Washing Fastness
- Controlled Shrinkage

KOTHARI FABRICS
RANG JO DIL CHAHE

100% COTTON RUBIA
TWO X TWO RUBIA
& DRESS MATERIAL

AANTARIK FILMS
PVT. LTD.
STRESS FREE ENTERTAINMENT

"TO GET RICH NEVER RISK YOUR HEALTH"
EURO Quality is our Mission
World's Finest Olive Oil
Product of Spain

Kothari Group of Companies

KOTHARI INFRASTRUCTURE
सच हो सपना, आशियाना हो अपना

Ken Hari
Single Destination
Globe Satisfaction

Smt. Varjudevi Bhanwarlal Kothari Charitable Trust
सेवा, शिक्षा, चिकीत्सा

दी कि लोकसभा से पारित कराकर उसे राज्यसभा में अटका देना चाहिए। उसका आरोप विपक्ष पर थोप दें तो जीत सुनिश्चित हो जाएगी। लोग सत्ता के विकेंद्रीकरण के ऐतिहासिक निर्णय कराने में बाधक बनने का क्षोभ विपक्ष पर निकालेंगे। जो भी हो, पीवी नरसिंम्हा राव की सरकार ने उसे ही 73वें और 74वें संविधान संशोधन का रूप दिया। संविधान के 73वें संशोधन से पंचायतों को संवैधानिक मान्यता मिली। उसके लिए कानून बनाने का अधिकार राज्यों को दिया गया। इस तरह 24 मार्च 1993 के बाद देश में जम्मू–कश्मीर, दिल्ली और अरूणाचल प्रदेश को छोड़कर जिला, मध्यवर्ती और ग्राम स्तर की पंचायतें बनी। इनके निर्वाचित प्रतिनिधियों की संख्या 34 लाख है। पंचायत प्रणाली में तीन स्तर के प्रतिनिधि हैं। गांव के स्तर पर ग्राम पंचायत, जिले के स्तर पर जिला पंचायत और जिन राज्यों की जनसंख्या बीस लाख से अधिक है वहां एक मध्यवर्ती पंचायत की व्यवस्था है। संविधान के 74वें संशोधन से नगरों में लोकतांत्रिक प्रणाली को विस्तार और गहराई दी गई है। स्वायत निकायों की स्थापना की गई है।

क्या इन संशोधनों से ग्राम स्वराज्य आया है? क्या गांवों में पंचायत प्रणाली लागू हुई है? क्या शहरों में विकेंद्रित निकाय बने हैं? ये कुछ प्रश्न हैं जो संविधान के सामने आज भी खड़े हैं। इसलिए ये प्रश्न बने हुए हैं क्योंकि संविधान के अनुच्छेद 40 तथा 243 (जी) में पंचायत को 'सेल्फ गवर्मेंट' के रूप में अधिकार और दायित्व सौंपा गया है। यहां तक तो ठीक है। जो गड़बड़ी का मूल कारण है वह अब तक ज्यों का त्यों बना हुआ है। वह यह है कि 'सेल्फ गवर्मेंट' को परिभाषित नहीं किया गया है। इसे जनरल क्लाजेज एक्ट, ब्लैक की डिक्शनरी अथवा ला–लेक्सिकान में भी परिभाषित नहीं किया गया है। इसे परिभाषित करने की जरूरत है। संविधान में एक और संशोधन कर राज्यों के लिए यह अनिवार्य बनाया जाना चाहिए कि वे पंचायतों को अधिकार और दायित्व सौंपे। इसी तरह पंचायतों के विषयों के लिए बनाई गई ग्यारहवीं अनुसूची को संविधान की सातवीं अनुसूची में एक चौथी सूची जोड़कर 'सेल्फ गवर्मेंट' का उल्लेख कराया जाना चाहिए। इस तरह दो जरूरी बातें हैं। 'सेल्फ गवर्मेंट' का जो हिन्दी में 'स्वशासन' शब्द चलाया जा रहा है उसकी परिभाषा जरूरी है।

संविधान की व्यवस्था में 'तीसरी सरकार' के लिए अध्ययन, शोध और वर्षों से अभियान चला रहे चंद्रशेखर प्राण कहते हैं कि अगर ऐसा हो गया तो आज का पूरा परिदृश्य बदल जाएगा। ग्राम स्वराज्य की दिशा में वह बड़ा कदम होगा। ऐसे अनेक प्रशासनिक उपाय और संविधान में संशोधन करना आवश्यक हो गया है। यह कार्य केंद्र के स्तर पर हो, तो ही उसका देशव्यापी कार्यान्वयन संभव है। स्पष्ट है कि ग्राम स्वराज्य की गंगा आज भी संविधान की जटाओं में उलझी हुई है। वह मुक्ति की प्रतीक्षा में है। कोई भगीरथ ही उसे धरती पर उतार सकेगा। इतना तो सुनिश्चित और प्रमाणित हो गया है कि संविधान में 40वें अनुच्छेद का समावेश एक यथार्थयुक्त निर्णय था। लेकिन वह मात्र दिशासूचक ही बना हुआ है। लोगों की स्वशासन, विकास और स्थानीय अर्थ व्यवस्था के निर्माण में भागीदारी आज भी सुनिश्चित नहीं किया जा सका है। लोग चाहते हैं कि यह अधिकार और दायित्व उन्हें मिले। यह अधिकार उन्हें 1948 में ही मिल सकता था अगर कांग्रेस गांधीवादी होती।

इसे ग्रेनविल आस्टिन ने भी माना है[34] कि 'कांग्रेस ने गांधी के बुनियादी आदर्श को स्वीकार नहीं किया था।' संविधान सभा ने भारत का संविधान करीब तीन साल में बनाया। दो साल ग्यारह महीने और अठारह दिन इस कार्य में लगे। 26 नवंबर, 1949 को उसे अपनाया गया। 26 जनवरी, 1950 को संविधान पूरी तरह प्रभावी हो गया। उससे पहले 24 जनवरी, 1950 को संविधान सभा की अंतिम बैठक हुई। उस दिन सदस्यों ने संविधान पर हस्ताक्षर किए। मूल संविधान में एक प्रस्तावना, 22 भाग, 395 अनुच्छेद और 8 अनुसूचियां थी। अब तक संविधान में 102 बार संशोधन किए गए हैं। 22 संशोधन प्रस्तावित हैं। आज जो संविधान है उसमें मूल संविधान की प्रस्तावना भी संशोधित कर दी गई है। आज संविधान 25 भागों में बटा हुआ है। उसमें 465 अनुच्छेद हैं। अब 12 अनुसूचियां हो गई हैं। यह दुनिया के लिखित संविधानों में विशालतम है। अमेरिकी संविधान दुनिया में सबसे पुराना और सबसे छोटा लिखित संविधान है। जिसमें बहुत थोड़े संशोधन हुए हैं। संत कबीर होते तो बोल पड़ते कि संविधान की लंबी चादर में छेद ही छेद है। जिसे पैबंदों से ढका गया है। बेहतर यही होगा कि नई चादर बुनो। ■

संदर्भ संकेत

1. *संविधान सभा वाद–विवाद की सरकारी रिपोर्ट, अंक–एक, संख्या–5, हिंदी संस्करण, लक्ष्य संबंधी प्रस्ताव पर पं. नेहरू का भाषण, पृष्ठ–7*
2. *साइमन कमीशन के सदस्य थे– क्लीमेंट एटली, एडवर्ड केडोगेन, जार्जलेन फाक्स, वेरहोन हेहस्थान, डोनाल्ड हावर्ड, हेनरी लेवी लासन, सर जान एल्सब्रुक साइमन (संयुक्त संसदीय आयोग में चार कंजरवेटिव, 2 लेबर, और एक लिबरल पार्टी के एक सदस्य थे।) इसमें कोई भारतीय सदस्य नहीं था।*
3. *यंग इंडिया, 1919–1922, संकलन, पृष्ठ–111–117, संविधान सभा के अस्थायी अध्यक्ष डॉ. सच्चिदानंद सिन्हा ने सभा के उद्घाटन भाषण में महात्मा गांधी के इस कथन का उल्लेख किया था। संविधान सभा वाद–विवाद, अंक–एक। पृष्ठ–9–10*
4. *साइमन कमीशन की सिफारिशों पर 1930–32 के दौरान तीन गोलमेज सम्मेलन हुए। उनका पूरा संदर्भ समझने के लिए समाज विज्ञान विश्वकोश, संपादक–अभय कुमार दुबे, खंड चार के पृष्ठ–1254–55, और भारत का सांविधानिक विकास और संविधान, लेखक डॉ. सुभाष कश्यप पृष्ठ, 125–134, यह संविधान– हमारा या अंग्रेजों का। लेखकः देवेन्द्र स्वरूप, पृष्ठ–143–144*
5. *भारतीय संविधान की औपनिवेशिक*

पृष्ठभूमिः देवेन्द्र स्वरूप, पृष्ठ–200

6. संपूर्ण गांधी वांगमय, खंड–70, पृष्ठ–407–410, प्रकाशन विभाग, 1978, 16 जुलाई से 30 नवंबर, 1939।
7. दी फ्रेमिंग ऑफ इंडियाज कांस्टीट्यूशन, सेलेक्ट डाकुमेंट, संपादक– बी. शिवाराव, खंड–एक, भाग–एक, पृष्ठ–81
8. वही, पृष्ठ– 214, 16 मई, 1946 को केविनट मिशन और वाइसराय के वक्तव्य का 18वां बिंदू।
9. संपूर्ण गांधी वांगमय, खंड–86, पृष्ठ–208–209 प्रकाशन वर्ष 1998
10. वही– पृष्ठ–216
11. वही – पृष्ठ –181
12. भारतीय संविधान सभा के वाद–विवाद की सरकारी रिपोर्ट, हिंदी संस्करण, लोकसभा सचिवालय, खंड–एक, पुस्तक संख्या–दो, पृष्ठ–12
13. नेहरू, ए पोलिटिकल बायोग्राफी, माइकल ब्रेकर पृष्ठ 330
14. भारतीय संविधान सभा के वाद–विवाद की सरकारी रिपोर्ट, हिन्दी संस्करण, लोकसभा सचिवालय, खंड–10, पुस्तक संख्या–9, 17 अक्टूबर, 1949, पृष्ठ–3445
15. भारतीय संविधानः राष्ट्र की आधारशिला, ग्रेनविल आस्टिन, हिंदी अनुवाद– नरेश गोस्वामी, पृष्ठ–30
16. मुंबई में आयोजित एक प्रेस कांफ्रेंस में जवाहरलाल नेहरू का बयान। देखें– आई.ए.आर. 1946 प्प् पृष्ठ–145–147
17. ग्रेनविल आस्टिन ने संविधान सभा की दृष्टि और उसके दायरे में 'अल्पतंत्र' के रूप में जवाहरलाल नेहरू, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, सरदार वल्लभ भाई पटेल और मौलाना अबुल कलाम आजाद के समूह को यह संज्ञा दी है। देखें–भारतीय संविधान : राष्ट्र की आधारशिला के पहले अध्याय का संदर्भ सूची और टिप्पणियां– संख्या–72, पृष्ठ–61
18. भारतीय संविधान : राष्ट्र की आधारशिलाःग्रेनविल आस्टिन हिंदी संस्करण, अध्याय–दो, पृष्ठ–65
19. भारतीय संविधान सभा के वाद–विवाद की सरकारी रिपोर्ट, (हिंदी संस्करण खंड–11) पुस्तक–संख्या–10 डॉ. रघुवीर का भाषण– 19 नवंबर 1949, पृष्ठ–3848।
20. महात्मा गांधी की दोनों योजनाओं का विवरण एन.वी. राजकुमार की पुस्तक–डेवलपमेंट ऑफ दी कांग्रेस कांस्टीट्यूशन में मिलता है।
21. वही
22. कांग्रेस कार्य समिति ने विशेषज्ञ समिति का गठन 8 जुलाई, 1946 को किया था। इसमें जवाहरलाल नेहरू, आसफ अली, कन्हैया लाल मानिकलाल मुंशी, एन.जी. आयंगार, के.टी.शाह, के संथानम, हुमायूं कबीर और डी. आर. गाडगिल थे। जवाहरलाल नेहरू अध्यक्ष थे।
23. भारतीय संविधान : राष्ट्र की आधारशिलाः ग्रेनविल आस्टिन, पृष्ठ–71–72।
24. संविधान के प्रारूप की भयंकर भूल पर गांधीवादी दृष्टि से एक लेख किसी वैंकटरमानी ने स्वतंत्र जरनल में 24 अप्रैल, 1948 को लिखा था। उसी को आधार बनाकर डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने संविधान सभा के सलाहकार को पत्र लिखा।
25. डॉ राजेन्द्र प्रसाद : करेसपांडेंस एंड सेलेक्ट डाकुमेंट ऑफ, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, खंड–9, पृष्ठ–51–53। संपादक : वाल्मिकी चौधरी।
26. इसे जानने के लिए संविधान सभा के वाद–विवाद की सरकारी रिपोर्ट में 4 नवंबर, 1948, 8, नवंबर, 1948 और 17 से 26 नवंबर, 1949 को सदस्यों के उद्गार क्षोभ और टिप्पणियां को पढ़े।
27. भारतीय संविधानः रचना एवं कार्य शिबानी किंकर चौबे, हिंदी अनुवाद– संघ, अध्याय–सात, पृष्ठ–58 का तीसरा पैराग्राफ।
28. संविधान सभा के वाद–विवाद की सरकारी रिपोर्ट खंड–7 (क) पुस्तक संख्या 3, पृष्ठ–77
29. वही, 8 नवंबर, 1948, पृष्ठ–303–316
30. वही, पृष्ठ 314
31. जवाहरलाल नेहरू वांग्मय, खंड–8 के पृष्ठ–63 पर पूरा प्रस्ताव पढ़ें।
32. उसे सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी ने पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया। पुस्तक का शीर्षक है–भारतीय राज्य व्यवस्था की पुनर्रचनाः एक सुझाव–जयप्रकाश नारायण। इस पुस्तक में 7 अध्याय हैं।
33. इसलिए 19 मई, 1989 को संविधान संशोधन विधेयक पेश किया गया। जो लोकसभा से पारित भी हो गया था लेकिन उसे राज्यसभा में राजीव गांधी ने अटकाए रखा।
34. भारतीय संविधानः राष्ट्र की आधारशिला, ग्रेनविल आस्टिन, हिंदी, पृष्ठ–78

> मुझे लगता है कि कुछ समय बाद या भविष्य में हमें समुचित एवं क्रांतिकारी स्वयं की संविधान सभा को बुलाना पड़ेगा। इसका मतलब यह नहीं है कि हमें इसका फायदा नहीं उठाना चाहिए और अपने फायदे के लिए काम करना चाहिए। यदि हम संविधान सभा के गठन में सफल नहीं होते हैं तो हम अपनी रणनीति बदल देंगे। यह केवल संविधान सभा में जाने के लिए हमारी सहमति का प्रश्न है। बस इतना ही और इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। हम इस संविधान सभा में तब तक बने रहेंगे जब तक हमें लगे कि यह भारत के लिए अच्छी है और हम तब इससे बाहर आएंगे जब हमें लगेगा कि यह हमारे उद्देश्य को भटका रहा है और फिर अपने युद्ध का ऐलान करेंगे। हम अन्य किसी बात के लिए वचनबद्ध नहीं हो रहे हैं। केवल इस क्षण हमें यह तय करना है कि संविधान सभा में जाएं कि नहीं।
>
> **–पं0 जवाहर लाल नेहरू**

प्रो. बिद्युत चक्रवर्ती

भारत के संवैधानीकरण की राजनीतिक और वैचारिक आधार शिला

भारत संभवतया उन उपनिवेशों में से है जो 1947 में राजनीतिक रूप से स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत भी औपनिवेशिक प्रभाव व मानसिकता में ही फंसा हुआ है। इसके कई कारणों में से प्रमुख निश्चित ही राष्ट्रवादियों के द्वारा समय के साथ विकसित हुई वैचारिक तथा संस्थागत ताने बाने पर बनी आम सहमति थी जिसका निर्माण न केवल उपनिवेशवादियों ने किया था बल्कि साथ ही उसे उपनिवेशवादी शासन के दृष्टिकोण में समेकित भी किया था

एक संविधान मात्र प्रावधानों का वक्तव्य ही नहीं होता है बल्कि देश के शासन की पद्धति का निर्माण करने वाली अवधारणात्मक बुनियाद को भी प्रतिबिंबित करता है। भारत के मामले में यह कहानी बहुमुखी है क्योंकि भारत संभवतया उन उपनिवेशों में से है जो 1947 में राजनीतिक रूप से स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत भी औपनिवेशिक प्रभाव व मानसिकता में ही फंसा हुआ है। इसके कई कारणों में से प्रमुख निश्चित ही राष्ट्रवादियों के द्वारा समय के साथ विकसित हुई वैचारिक तथा संस्थागत ताने बाने पर बनी आम सहमति थी जिसका निर्माण न केवल उपनिवेशवादियों ने किया था बल्कि साथ ही उसे उपनिवेशवादी शासन के दृष्टिकोण में समेकित भी किया था। आखिर यह कैसे संभव था! इस विरोधाभास की व्याख्या इस आधार पर मांगी जानी चाहिए कि आखिर पहचान संबंधी अनुकूलता का पोषण इस सीमा तक राष्ट्रवादी उपनिवेशी शासकों के साथ किस प्रकार साझा करते हैं। यह संभवतया इस लिए हुआ होगा क्योंकि राष्ट्रवादियों का पोषण एक ऐसे परिवेश में हुआ प्रतीत होता है जिसमें वर्तमान प्रणाली के लिए समर्थक विचारों को प्रोत्साहित किए जाने वाले सामाजिक राजनीतिक प्रतिवेश में उदारवादी संविधानवाद को विशेषाधिकार प्राप्त था। प्राथमिक रूप से यह राष्ट्रवादियों के द्वारा विचारात्मक पहचान थी जिसने बदले में एक ऐसे परिवेश का निर्माण किया जहां संविधानात्मक लोकतंत्र के पश्चिमी रूप को ही प्राथमिकता प्रदान की गई थी। इसका परिणाम अपरिहार्य हुआः कुछ राष्ट्रवादी इस विषय में बिलकुल भी सहमत नहीं थे कि उपनिवेशवाद के दौरान जो प्रयोग हमने किया है वही स्वतंत्रता के उपरांत भी चालू रखना चाहिए। परंतु उनके इस विरोध के बावजूद उदारवादी संविधानवाद स्वतंत्र भारत के लिए एक स्वीकृत विकल्प बन गया। यहां पर यह तर्क निविर्वाद है कि अंग्रेजी राज के दौरान भारत में जो संकल्पना विकसित हुई, वह कहीं से भी ऐसा नहीं लगता है कि जबरन लागू की गई है बल्कि यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि यह समय के साथ स्वतः ही विकसित हुई है क्योंकि काफी लोग जो उपनिवेशवाद का विरोध करते थे उन्होनें इस व्यवस्था को यह सोचकर उपनिवेशवाद के उपरांत भी लागू रखा कि यह व्यवस्था उपयोगी हो सकती है। यह तर्क काफी हद तक विचारधारा के प्रति समर्थन के कारण यह साबित करता है कि पश्चिमी शासन व्यवस्था को भारत में अपनी जड़ें जमाना अत्यंत ही आसान था।

ब्रिटिश उदारवादी विचार

ब्रिटिश विचारकों के एक समूह के विचारों का विश्लेषण यह प्रदर्शित करता है कि जैसे ही भारत अंग्रेजों का एक उपनिवेश बना, वैसे ही शासकों द्वारा भारत को सभ्य बनाने की आकांक्षा ने भारत पर शासन किया। जो लोग उपनिवेशवाद की बोधात्मक समझ को आकार दे रहे थे उन लोगों के मध्य बहुत ही अधिक मतभेद नहीं था तथा उपनिवेशवाद शासन की निरंतरता को तब तक कोई विरोध भी नहीं झेलना पड़ा था जब तक अंग्रेजों की सत्ता को राष्ट्रवादियों के द्वारा गंभीर चुनौती नहीं मिली थी। प्रत्यक्ष आर्थिक लाभों के अतिरिक्त भारत कुछ ऐसे रोचक विचारों की प्रयोगशाला बन गयाा था जिन्हें उपनिवेशवादियों

के मूलभूत सभ्य किए जाने वाले अभियान के साथ व्यापक रूप से जोड़ा जा सकता है। इस पर कभी भी गंभीरता पूर्वक प्रश्न नहीं उठाया गया तथा महान विचारक स्वतंत्रता, बंधुता तथा करूणा के प्रति अपनी सघन चिंता के बावजूद उपनिवेश प्रक्रियाओं का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं क्योंकि कहीं न कहीं उन्हें भी यह अनुभव हुआ कि उपनिवेश सभ्य होने का एक बेहतर चरण था। जैसा ज्ञात है कि यह जेम्स मिल थे जिन्होनें उपनिवेशवाद को देशज नागरिकों के लिए रामबाण बताते हुए उस निरंकुश शासन की उपेक्षा करने के लिए कहा था जो जिसमें कर्मकांड व पुरोहित कर्मों को उचित ठहराया गया था। अंग्रेजों के भारत पर एक महत्वपूर्ण आलेख के रूप में विख्यात होने के बावजूद ब्रिटिश भारत के इतिहास में मिल के विचार इतने सरलीकृत तथा इतने उथले हैं, सूक्ष्म अंतर करने की विफलता में इतने विद्रूप हैं कि उनकी आलोचना उनमें कहीं अंदर तक बसे स्व–आसक्त जातीय पूर्वाग्रहों के कारण होती है। मिल के विचारों ने भारत में उपनिवेशवाद के उदय के समय उपनिवेशवादियों के दृष्टिकोण को आकार देने के लिए एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया, जैसा प्रमाणों से स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उपनिवेशवादियों के लिए, अंग्रेज असभ्य भारतीयों को सभ्य करने के लिए एक रामबाण थे क्योंकि यह उन्हें न केवल सभ्य होने में सहायता करेंगे बल्कि उनके अनुसार यह अंग्रेज ही थे जो उन्हें स्वतंत्रता, समानता तथा बंधुता के भावों को जाग्रत करने के दर्शन को प्रदान कर उन्हें ज्ञान प्रदान कर सकते थे। इस प्रकार यह आश्चर्यजनक नही था कि एडमंड बुर्के जिन्होनें भारत में प्रथम गर्वनर जनरल वारेन हेस्टिंग्स के विरूद्ध 1788 में किए गए दुष्कृत्यों के लिए महाभियोग प्रस्ताव पेश किया था, उन्होनें भी भारत को उपनिवेश बनाने के लिए अंग्रेजों के कृत्यों पर प्रश्न नहीं उठाए थे। वह भारत में उदारवादी संविधानीकरण के रूप में सरकार के गठन के लिए अत्यंत ही उत्सुक थे, स्पष्ट है कि अंग्रेज शासन के कहने पर ही किया था। ऐसे ही संज्ञान से दो महत्वपूर्ण प्रक्रियाओं का आरंभ हुआः एक तरफ तो भारत में संविधानिक लोकतंत्र को स्थापित करने के लिए धीरे धीरे प्रयास किए जा रहे थे, जैसा इतिहास से प्रदर्शित होता है जबकि दूसरी ओर उपनिवेशवाद को स्थापित करने वाले संस्थागत शासन की संरचना को अपना रूप उन वैचारिक संसाधनों से प्राप्त हुआ जो उपनिवेशवादियों ने भारत का प्रशासन करते समय उपनिवेश के नागरिकों से साझा किया था। अवधारणात्मक रूप से यह एक बहुत ही खूबसूरत संकल्पना थी जिसकी जड़ें अमेरिका के स्वतंत्रता संग्राम (1775-83) में अंग्रेजों की पराजय में थी। अमेरिका के युद्ध में बहुत ही बुरी तरह से पराजित होने के उपरांत, शासकों ने भारत में एक ऐसी शासन व्यवस्था का निर्माण कर भारतीयों के असंतोष को कम करने के एक ऐसी रणनीति का विकास किया जिसमें भारतीयों को भी भाग लेने की अनुमति दी गई। अंग्रेज शासकों ने इस योजना को ज्ञान के दर्शन के विस्तार के रूप में यह कहते हुए न्यायोचित ठहराया कि यह वह प्रणाली है जिसे समय के साथ उपनिवेशवासियों ने स्वीकार कर लिया है। यह खंड मुख्य तर्क के लिए इसलिए इतना महत्वपूर्ण है क्योंकि यह इस तथ्य को समझने में सहायता करता है कि किस प्रकार ज्ञान का विचार जिसने भारत में उपनिवेशवाद को मजबूत होने का मौका दिया, समय के साथ उपनिवेश के वासियों के लिए एक सशक्तिकरण का माध्यम बन गया।

यदि हम औपनिवेशिक शासन के दौरान कुछ चुनिंदा परंतु मुख्य, उल्लेखनीय संस्थागत कदमों को बिना किसी आलोचनात्मक दृष्टिकोण के साथ देखेंगे तो पाएंगे कि इससे कोई भी इस निष्कर्ष पर पहुंच सकता है कि यह अंग्रेजों के द्वारा भारतीयों के लिए उठाए गए कदम थे। इस प्रकार राष्ट्रवाद की भावना को कम कर आंका गया है। अगर कोई भी अंग्रेजों के द्वारा भारतीयों को प्रशासन में सम्मिलित करने के जाहिर कृत्य को गहराई से देखता है तो उसे यह शीघ्र ही पता चल जाएगा कि यह और कुछ नहीं बल्कि लोगों में व्यापक रूप से फैले असंतोष को कम करने के लिए अंग्रेजों के द्वारा उठाए गए कदम थे। इस प्रकार यह तर्क कि हर संवैधानिक कदम शासन के द्वारा आरंभ किया गया था, तार्किक प्रतीत नहीं होता है। इतिहास यह बताता है कि कई ऐसी स्थितियां उत्पन्न हुईं जिन्होनें अंग्रेजी अधिकारियों को आंदोलन को नियंत्रित करने के लिए उपाय अपनाने के लिए बाध्य किया। उदाहरण के लिए 1880 में कॉग्रेस के अभियान ने 1893 के सुधारों के लिए नींव डाली। 1909 के मुरलो मिंटो सुधारों के पीछे स्वदेशी आंदोलन तथा क्रांतिकारी चरमवाद था। इसी प्रकार 1919 के मोंटेग चेम्सफोर्ड सुधारों का उद्देश्य उन संकटों को हल करना रहा जो होमरूल लीग के साथ आरंभ हुए थे तथा 1919 में रॉलेट सत्याग्रह व 1910–21 के असहयोग आंदोलन के साथ अपने चरम पर पहुंच गए थे। महात्मा गांधी द्वारा आरंभ किया गया सविनय अवज्ञा आंदोलन (1930.32) जन प्रशासन में भारतीय राजनेताओं को शामिल करने के लिए संवैधानिक उपायों कों सम्मिलित करने के लिए काफी हद तक उत्तरदायी था।

इसके अतिरिक्त इन संवैधानिक संकल्पनाओं की व्याख्या तब तक आंशिक रहेगी जब तक इन्हें उन वृहद सामाजिक–आर्थिक तथा राजनीतिक प्रक्रियाओं के साथ जोड़ा नहीं जाता जिनमें उनकी अवधारणा का निर्माण किया गया है। एक वृहद सामाजिक मैटिक्रस तथा आर्थिक बंधन के संदर्भ के बिना संविधानिक नीतियों की संरचना तथा विशेषताओं का विश्लेषण करने का प्रयास व्यर्थ है क्योंकि राजनीतिक व संवैधानिक संरचना आर्थिक व सामाजिक नेटवर्क, धार्मिक व सांस्कृतिक विश्वासों तथा यहां तक कि राष्ट्रवादी विचारधारा को प्रतिबिंबित करती है जो प्रशासन तथा संविधानिक संरचना के संगठित संसार पर प्रभाव डालती है। तो एक विश्लेषक का

इतिहास यह बताता है कि कई ऐसी स्थितियां उत्पन्न हुई जिन्होंने अंग्रेजी अधिकारियों को आंदोलन को नियंत्रित करने के लिए उपाय अपनाने के लिए बाध्य किया

1950 में भारत का संविधान एक ऐसी प्रक्रिया का पूर्ण होना था जिसमें परस्पर विरोधी विचारों ने एक सामाजिक-सांस्कृतिक तथा आर्थिक रूप से भिन्न नागरिकों के लिए एक स्वीकृत सिद्धांतों के समूह को विकसित किया गया। यह कार्य इसलिए भी ऐतिहासिक है

तत्कालिक तथा अनुपेक्षित कार्य एक वृहद सामाजिक–आर्थिक संदर्भ को अनदेखा कर देना न होकर एक विशेष संविधानिक कदम को आकार देकर उसकी संवैधानिक महत्ता प्रदान करना है। उदाहरण के लिए, 1932 के साम्प्रदायिक सम्मान की शुरूआत अंग्रेजों के द्वारा बंगाल तथा पंजाब के मुसलमानों के बीच राजनीतिक गतिविधियों को विस्तारित करने के लिए की गई थी। परंतु अध्ययन यह भी दिखाते हैं कि यह अंग्रेजों के द्वारा एक प्रकार की छूट थी जो उस समुदाय को इस लिए दी गई थी जिससे अंग्रेज अपना शासन सुचारू रूप से चला सकें।[1] देशज कुलीनों के साथ सत्ता को साझा किया जाना भी अंग्रेजों द्वारा उठाए गए सोचे समझे कदम थे न कि महज उनके द्वारा उठाए गए कुछ कदम।

संविधानिक उल्लेखनीय निर्णय उन साम्राज्यवादी प्रयासों का स्पष्ट उदाहरण है जिन्होनें विपक्ष को अधिकतर अवसरों पर विफल कर दिया। अंग्रेजों के उपनिवेशवाद की सबसे बडी सफलता अंग्रेजों के द्वारा लागू की गई को शासित जनता के मन में भरोसा दिलवाना। यह संभवतया वैचारिक लोगों को उदारवादी राजनीतिक मूल्यों व प्रकृति के प्रति मोड़ने में उनकी विजय के कारण संभव हुआ था। चरम राष्ट्रवादियों को छोड़कर अधिकांश राष्ट्रवादी तीन पी अर्थात (petition, prayer and protest) याचिका, प्रार्थना तथा प्रतिरोध की पद्धति को ही अपनाने में भरोसा रखे हुए थे, परंतु गांधी के आने के बाद जैसे सब बदल गया। गांधी जी ने अंग्रेजों के विरोध के पूरे स्वरूप को बदल दिया। यह दृश्य हालांकि चरमवादी राष्ट्रवादियों के जैसा नहीं था जिन्होनें हिंसक माध्यमों से भारत को स्वंतत्र कराने की शपथ ली थी। वे कानून की एक लंबी प्रक्रिया के उपरांत ही चरम बने थे जिसका प्रबंधन हालांकि अंग्रेज अधिकारियों ने इस प्रकार किया था कि अंग्रेजी साम्राज्य की छवि अपनी प्रजा के प्रति प्रतिबद्धता की बन गई थी। यह भी आश्चर्यजनक नहीं हैं कि राष्ट्रवादियों ने भी अपने साथियों को उत्पीड़न से बचाने के लिए कानूनी माध्यमों का ही प्रयोग किया, जिसने इस तथ्य की पुनः पुष्टि की कि संविधानिक स्थिति से गठित शासन संस्थान की स्वीकार्यता अंग्रेज शासन के घनघोर विरोधियों में भी बढ़ रही है। यहां भी यह तर्क स्थापित होता है कि राष्ट्रवादियों ने उन्हीं उदारवादी मूल्यों का पालन किया जिन्हें वह समझते थे कि समकालीन राजनीतिक संस्थानों के द्वारा संरक्षित किया जा रहा है। यहां पर यह बात भी महत्वपूर्ण है कि जो भी कानूनी नियम तथा संस्थान लाए गए उनके द्वारा पहले अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने राष्ट्रवादियों के खुद के लिए खतरा बनने से पहले राष्ट्रवादी विरोध को पहले निबटाया और उसी के साथ उन्ही नियमों के माध्यम से देशभक्त ताकतों को विफल किया व उपनिवेशवाद को इन्ही नियमों व संस्थानों के माध्यम से मजबूत किया। इस प्रक्रिया में, यह संस्थान भारत के एक संवैधानिक लोकतंत्र बनने के विकास के साथ आंतरिक रूप से जुडे हुए संस्थानों के रूप में विकसित हुए जो एक संवैधानिक भारत के प्रति अंग्रेजी प्रयास में सम्मिलित था, तथा यह एक ऐसा प्रयास था जिसे राष्ट्रवादियों से भी उतना ही समर्थन प्राप्त हुआ जो इस शासन के खिलाफ थे।

राष्ट्रवादी विचार

1950 में भारत का संविधान एक ऐसी प्रक्रिया का पूर्ण होना था जिसमें परस्पर विरोधी विचारों ने एक सामाजिक–सांस्कृतिक तथा आर्थिक रूप से भिन्न नागरिकों के लिए एक स्वीकृत सिद्धांतों के समूह को विकसित किया गया। यह कार्य इसलिए भी ऐतिहासिक है क्योंकि वह विचार जो संविधान सभा में पहले से ही आवश्यक मान लिए गए थे, उनकी जड़ें भारत के स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में समाहित थीं और उनमें कई तरह के विचार सम्मिलित थे। इस विषय में बहस कर कि भारत का संविधान भारत के स्वतंत्रता संग्राम के विभिन्न चरणों में एक जटिल पहचानपरक युद्ध का परिणाम था, यह पुस्तक उस परंपरागत विचार को चुनौती देती है कि भारत के संविधान के प्रावधानों को कहीं और से उधार लिया गया है तथा यह प्रक्रियाएं कहीं और भी पालन की जा रही हैं, तथा उधार का यह विचार अपने आप में अत्यंत ही घातक है। इस तर्क को समर्थन देना कि भारतीय संविधान एक उधार लिया हुआ संविधान है, वह इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए अत्यंत ही अजीब लगता है यह क्षण हमारे अतीत से अलग होकर एक नई शुरूआत थी। जो सबसे महत्वपूर्ण शुरूआत थी वह थी एक वैश्विक वयस्क मताधिकार के माध्यम से अपने असंबद्ध रूप में प्रतिनिधि सरकार के सिद्धांत को संविधानिक रूप से पहचानना, जिसकी मांग 1928 में मोतीलाल नेहरू रिपोर्ट को अपनाने के बाद से ही राष्ट्रवादी लगातार कर रहे थे। विभाजन के उपरांत आकस्मिक स्थितियों की लगातार उभरती मांगों के अतिरिक्त, जिन्होंनें उपलब्ध औपनिवेशिक प्रशासनिक मशीनरी की निरंतरता की मांग की थी, हमारे देश के निर्माताओं ने एक ऐसे मजबूत प्रशासन की आवश्यकता का अनुभव किया था जो उनकी महत्वाकांक्षी परिवर्तन की योजना को यथार्थ में उतार सके। इस प्रकार यह दृढता से तर्क दिया जाता है कि संभवतया पुरानी परंपरा को लागू रखते हुए ही इस शुरूआत को बेहतर तरीके से आरंभ किया जा सकता था।' तर्कों का एक सावधानीपूर्वक अध्ययन इस बिंदु की पुष्टि करता है जिन्हें औपनिवेशिक युग से तंत्र व संस्थानों को सम्मिलित करने के पक्ष में गढ़ा गया था।

यहां पर यह लक्ष्य यह पता लगाना है कि किस प्रकार अंग्रेजी संविधानवाद जिसने भारत में उपनिवेशवाद को मजबूत किया तथा स्थापित किया, वह समय के साथ उस विदेशी शासन का विरोध करने वालों के लिए एक सशक्तिकरण का माध्यम होता गया। उपनिवेश के वासियों के लिए उपनिवेशवाद और कुछ नहीं बल्कि शोषण का एक माध्यम था फिर भी इसने एक

ऐसा माहौल तैयार किया जिसमें स्वतंत्रता की मांग भी उसी उपनिवेशी भाषा में की गई क्योंकि कहीं न कहीं यहां के लोग भी उस भाषा को ज्ञान की ही भाषा मानते थे। यहां यह भी तर्क दिया जा सकता है कि इसे इसलिए इतनी स्वीकृति मिली क्योंकि यह कुछ ऐसे मौलिक विचारों के अनुरूप हैं जिनकी जड़ें स्वदेशी हैं। इस विषय पर बहुत ही कम असहमति हो कि भारत के लिए स्वतंत्रता, समानता तथा बंधुत्व के विचार अनंत काल से वासुदेव कुटंबकम की सुपोषित परंपरा के चलते कहीं से भी अजनबी या विदेशी नहीं थे। यह कहीं से भी अतिरंजित तर्क नहीं लगता है क्योंकि यह विचार भारत की आत्मा का विचार है। भारत की आपस में जुड़ी विविधता को ध्यान में रखते हुए, पूरा विश्व एक परिवार है का विचार बहुत ही प्रमुखता से उभर कर आया, परंतु इसमें काफी विचलन तथा गड़बड़ी भी हुई थी, जिनमें अति प्रचारित द्विराष्ट्र सिद्धांत के आधार पर पाकिस्तान का निर्माण करने का भी उदाहरण है। फिर भी यह तर्क देना उचित ही है कि उदारवादी संवैधानिकतावाद ने भारत में उपनिवेशवाद के दौरान जिन जैविक जड़ों का विकास किया था वह बाद में समय के साथ बदलीं क्योंकि यह अराजकता तथा अनिश्चितता के मध्य अलग अलग भारतीयों को एक साथ लाने के लिए एक प्रभावी तरीका रहा।

भारत मे संवैधानिकवाद को प्रभावित करने वाली प्रक्रियाओं पर गंभीर नजर डालने पर यह पता चलता है कि सामाजिक न्याय, उदारवादी संवैधानिकता तथा समूह प्रतिनिधित्व सहित तीन महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं जिनमें उन लोगों की एक विचारधारात्मक संघर्ष हुआ था जो भारत के संविधान के लिए एक विशेष कार्य करने के लिए उत्तरदायी थे। अतीत का एक सजग विश्लेषण जिसमें राष्ट्रवादियों ने भारत को संविधानीकृत करने का प्रयास किया, वह यह बताता है कि चूंकि ज्ञान मूल्यों का पोषण स्वदेशी बौद्धिक विरासतों के द्वारा हुआ था तो इन्हें ही स्वाभाविक रूप से विशेषाधिकार प्राप्त हुआ होगा। संविधान सभा में भी जब देश के नीतिनिर्माताओं ने जो विमर्श किए तथा शासन के उस प्रारूप को लागू करने किया, जिसका विरोध उन्होनें उपनिवेशवाद के दौरान किया था, से भी यही पुष्टि हुई। भारत को संविधानीकृत करने के लिए उनकी चिंताएं उन प्रयासों में पूर्णतया परिलक्षित होती हैं जिनका अंत संविधान सभा के रूप में आया, जब देश के नीतिनिर्माता एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में स्वतंत्र भारत के लिए उस संविधान का निर्माण करने के लिए एक साथ आए जो निर्देशात्मक तथा संदर्भ संचालित था, क्योंकि यह उस उदारवाद पर निर्मित था जिसका भारत में कोई समानांतर नहीं था तथा संदर्भ संचालित इसलिए क्योंकि यह भारतीय सामाजिक–आर्थिक तथा पहचान संबंधी वास्तविकता उदारवादी सामाजिक–आर्थिक तथा राजनीतिक परंपराओं के अनुकूल नहीं है।

संविधान सभा तथा संविधान का निर्माण

संविधान सभा के द्वारा स्वतंत्र भारत के संविधान को तीन वर्षों से अधिक समय में मूर्त रूप देना उन प्रयासों का प्रतिबिंब है जो कि हमारे देश के निर्माताओं ने उपनिवेशवाद से मुक्त होने के उपरांत एक स्वतंत्र नीति की राष्ट्रवादी तथा लोकतांत्रिक अपेक्षाओं को वास्तविकता में परिवर्तित करने के लिए किए। इसके अतिरिक्त जहां संविधान संरचनात्मक तथा प्रक्रियात्मक आधार पर निरंतरता है, यह अतीत से एक ब्रेक भी है क्योंकि 1950 का संविधान एक ऐसी विचारधारा पर बना जो एक उपनिवेशवाद की समाप्ति के बाद एक उदारवादी लोकतांत्रिक राजनीति को स्थापित करना चाहती थी। विभाजन की दुखद घटना के कारण उत्पन्न गंभीर स्थितियों के बावजूद हमारे देश के नीति निर्माताओं की संविधान तथा कानून के शासन के प्रति प्रतिबद्धता का और बेहतर प्रमाण नहीं मिल सकता है। उदार लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता संविधान के निर्माण में सबसे महत्वपूर्ण बनी रही जैसा कि संविधान सभा की कार्यवाही बताती है।

यह तर्क दिया जाता है कि युद्ध के उपरांत भारत में संभावित संवैधानिक व्यवस्था पर कैबिनेट मिशन के सदस्यों तथा राष्ट्रवादी नेताओं के बीच बातचीत के परिणामस्वरूप स्थापित संविधान सभा का गठन किसी राष्ट्रवादी अस्थाई सरकार के द्वारा न होकर अंग्रेजी सरकार के द्वारा मुख्य राजनीतिक दलों के द्वारा सभी मुख्य दलों के प्रतिनिधियों को साथ लाने के लिए किया गया था।[2] संविधान सभा का कार्य भारत के लिए एक संविधान का मसौदा तैयार करना था। भीमराव अंबेडकर के अनुसार जवाहर लाल नेहरू ने जो उद्देश्य बताया था वह था इस देश के लाखों लोगों की भावनाओं की अभिव्यक्ति।[3] अपने उद्देश्य संकल्प का बचाव करते हुए नेहरू ने लोकतंत्र तथा समाजवाद के लिए बहुत ही मजबूती से तर्क दिया था तथा उन्होनें लोकतंत्र को सरकार की ऐसी सबसे उचित प्रणाली के रूप मे बताया जो हमारे नागरिकों की प्रवृत्ति के अनुकूल है तथा उनके प्रति उत्तरदायी है। इसी प्रकार उनका मानना था कि समाजवाद ही भारत में आर्थिक लोकतंत्र लाएगा। उनके लिए, राजनीतिक स्वतंत्रता तब तक बेकार है जब तक कि इसका समर्थन लोकतांत्रिक शासन तथा सामाजिक दृष्टिकोण न करे। इस प्रकार वह उन राजशाही रियासतों के विरोध मे थे जो लोकतंत्र पर राजतंत्र को स्थापित करने की इच्छुक थीं। एक सच्चे लोकतांत्रिक व्यक्ति के रूप मे जिन्हें इस विषय में कोई संदेह नहीं था कि समाजवाद भारत की गरीबी को हटाएगा, नेहरू ने स्वतंत्र भारत के संविधान की दार्शनिक रूपरेखा प्रदान करने के द्वारा सभा मे चर्चा की दिशा तय कर दी थी।

यह तर्क देना उचित ही है कि उदारवादी संवैधानिकतावाद ने भारत में उपनिवेशवाद के दौरान जिन जैविक जड़ों का विकास किया था वह बाद में समय के साथ बदलीं क्योंकि यह अराजकता तथा अनिश्चितता के मध्य अलग अलग भारतियों को एक साथ लाने के लिए एक प्रभावी तरीका रहा

फिर भी वह राजनीतिक संदर्भ जिसमें संविधान पर विचार विमर्श किया जा रहा था वह कई प्रकार की अनिश्चितता से निम्न कारणों से भरा था क्योंकि एक तो हिंदू व मुसलमानों के बीच शत्रुता थी तथा अधिकतर रियासतें भारत के साथ आने के लिए तैयार नहीं थीं। जहां हिंदू तथा मुसलमानों के बीच शत्रुता ने भारत में 1947 मे अंग्रेजों के जाने के बाद असंतोष पैदा किया तो वहीं दूसरे कारण ने राजशाही रियासतों के वर्तमान शासकों के दावे को बाईपास करने के द्वारा कई बार जोरजबरदस्ती को लागू करने की धमकी देने या जोरजबरदस्ती करने की आवश्यकता भारत को राजनीतिक रूप से एक रखने के लिए महसूस की गई। संविधान सभा से दूर रहकर मुस्लिम सदस्यों ने स्पष्ट रूप से पाकिस्तान के प्रति अपनी प्रतिबद्धता का प्रदर्शन कर दिया था जिसे 1940 के लाहौर संकल्प को अपनाने के बाद और भी समर्थन प्राप्त होने लगा था। 1946 के कोलकता तथा बाद में नोआखाली के दंगों ने कॉग्रेस के इस विचार की पुष्टि कर दी कि खूनखराबे को रोकने के लिए विभाजन को स्वीकार करना ही रणनीतिक रूप से सही है। जब संविधान सभा की बैठक सविधान का निर्माण करने के लिए हुई तो यह स्पष्ट था कि पाकिस्तान का निर्माण अवश्यंभावी था तथा इसके सामाजिक तथा आर्थिक लक्ष्यों की पूर्ति करने के लिए एक मजबूत रणनीति की आवश्यकता थी।

परिणाम

395 प्रावधानों सहित 1950 का भारत का संविधान शायद दुनिया का सबसे बड़ा संविधान है। भीमराव अंबेडकर के अनुसार ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि देश के नीतिनिर्माता अपनी व्याख्याओं के लिए कोई संदेह का स्थान नहीं छोड़ना चाहते थे। संविधान में जो भी संशोधन आवश्यक थे वह विधि के द्वारा स्थापित प्रकिया के अनुसार किए गए। यह उन उदार मूल्यों के प्रति हमारे देश के नीतिनिर्माताओं की चिंताओं का प्रमाण है जिनका प्रभाव सभा में चर्चा में तथा संविधान के प्रावधानों के निर्माण मे रहा था। जहां संविधान निर्माता उदारवादी संविधानवाद के प्रति प्रतिबद्ध थे

भारत को संवैधानिक बनाने वाली प्रक्रियाओं की सावधानीपूर्वक जानकारी से पता चलता है कि यह स्वदेशी और बाहरी दोनों के प्रभावों का एक रचनात्मक मिश्रण था

जो कि अन्य परंपराओं से उत्पन्न नहीं है, तो वहीं वह भारतीय होने के नाते अपने सीखे गए अनुभवों के प्रति भी उतने ही सम्मान से भरे थे। इसका परिणाम था 1950 का संविधान जो हालांकि लिखा तो गया था उदारवादी संविधानवाद परंतु फिर भी इसमें राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों के अध्याय में गांधी जी के ग्राम स्वराज्य को भी स्थान प्राप्त है।

1950 में संविधान को लागू करने के बाद यदि हम संविधानिक मार्ग का अवलोकन करते हैं तो हम पाएंगे कि जो हमारे देश के नीतिनिर्माताओं ने संविधान का निर्माण करते समय जो योगदान दिया था वह आज तक उतना ही प्रभावी है। यह सत्य है कि इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि भारत का संविधान न तो एकदम सही है और न ही सनकी रूप से लचीला है, इसकी तुलना पूरी दुनिया में स्थापित उदारवादी संविधान से नहीं की जा सकती है। यहां पर भीमराव अंबेडकर का एक चेतावनी नोट निर्देशक प्रतीत होता है। बाबासाहेब एक कठोर संविधान के पक्ष में नहीं थे क्योंकि उनके अनुसार इसे तेजी से बदलते सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक माहौल में अनुकूलित करने की आवश्यकता थी; जब तक, यह स्वीकार्य नहीं हो जाता, तब तक एक संविधान समाज के लिए जीवित नहीं होता, स्पंदन नहीं करता और यह केवल निर्जीव दस्तावेज बन जाता है जिसमें प्रावधान प्रभावी नहीं होते हैं। यह लचीला होना चाहिए तथा इसे इस संदर्भ में समझा जाना चाहिए कि इसमें किन परिस्थितियों में संशोधन आवश्यक है; और, यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि तब तक पूरी तरह से परिवर्तन की अनुमति है जब तक कि यह संविधान के मूल चरित्र पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालता है। इसलिए, अम्बेडकर की सावधानी हमें यह समझने में मदद करती है कि समकालीन दुनिया में अन्य कार्यात्मक संविधानों के बीच भारत का संविधान इतना विशिष्ट क्यों है।

एक अंतिम शब्द है। भारत को संवैधानिक बनाने वाली प्रक्रियाओं की सावधानीपूर्वक जानकारी से पता चलता है कि यह स्वदेशी और बाहरी दोनों के प्रभावों का एक रचनात्मक मिश्रण थाः बाहरी को इसलिए प्रभाव प्राप्त हुआ क्योंकि (क) उन्हें स्पष्ट रूप से विशेषाधिकार प्राप्त हुआ था और (ख) वह स्वदेशियों के साथ मिल गए। शिकागो के विश्व धर्मों की संसद से पहले अपने 1893 के भाषण में स्वामी विवेकानंद ने उद्घोषित किया था कि उन्हें उस धर्म से जुडे होने में गर्व था जिसने दुनिया को सहिष्णुता और सार्वभौमिक स्वीकृति दोनों को सिखाया है तथा वह न केबल वैश्विमक सहिष्णुता में यकीन करते थे बल्किम वह यह भी स्वीककार करते थे कि सभी धर्म एक हैं। यह शायद वसुधैव कुतुंबकम के व्यापक रूप से स्वीकार्य दावे की स्पष्ट अभिव्यक्ति है जो वैचारिक रूप से स्वतंत्रता, समानता और बंधुता के मौलिक ज्ञान सिद्धांतों के समान है; जब तक इसे अपनाया नहीं जाता तब तक कोई भी (परिवार के हिस्से) के रूप में खुद को नहीं समाहित कर सकता है। इसलिए, शायद स्वाभाविक रूप से स्वदेशी परंपराओं में ज्ञान मूल्यों की जडों ने यदि प्राकृतिक रूप से नहीं परंतु जडों से जुडे रहने के लिए व्युत्पन्न विचारों के लिए एक अवसर का निर्माण किया। ■

संदर्भ संकेत

1 *इस प्रकार महाभारत के युद्ध को लड़ने की आवश्यकता से संबंधित सभी पहलुओं की व्याख्या करने के बाद, सामाजिक विचारों के प्रस्तुतीकरण के उपरान्त, मनुष्य तर्क कर सकता है कि कृष्ण ने अर्जुन पर अंतिम निर्णय छोड़ दिया था। देखें, श्रीमद्भगवतगीता, 18.63*

2 *देखें–भतृहरि की वाक्यपदीय, I.9*

3 *भारतीय परम्परा में ज्ञान, व्यक्तिगत*

रविशंकर प्रसाद

संवैधानिक लोकतंत्र और मूलभूत ढांचे की अवधारणा

(मूलभूत ढांचे की एक दृष्टि से अधिकारपरक विधिशास्त्र का निरीक्षण)

जिन संस्थानों के अधीन हम जीते हैं, उनका स्वरूप संसद द्वारा निरन्तर बदला जा रहा है क्योंकि हम उनसे कभी संतुष्ट नहीं होते। कई बाद इनके स्थान पर नए संस्थान प्रतिस्थापित किए जाते हैं', कभी उनमें परिवर्तन किया जाता है और कई बार उन्हें बाधा मानकर समाप्त कर दिया जाता है। [1]

बर्नार्ड शॉ

हमारा संविधान सर्वोच्च राजनीतिक दस्तावेज है जिसके द्वारा हमारे समाज में राजनैतिक प्रशासन और कानून का राज्य स्थापित है। क्योंकि समाज की आवश्यकताएं उसकी नैतिक प्रकृति के कारण निरन्तर बदलती रहती हैं इसलिए हमारे राजनीतिक दस्तावेज (संविधान) को भी उसके अनुरूप सक्षम बनाया गया है ताकि वह जैविक रूप में विकसित हो सके। संविधान की धारा 368 के अनुसार, संसद की संविधान संशोधित करने की व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं

प्रस्तावना

कभी–कभी संविधान को राष्ट्रीय विकास की आवश्यकताओं के अनुरूप ढालने, भविष्य में आने वाली कठिनाइयों से निपटने और लोगों की इच्छानुसार राजनीतिक प्रणाली को बदलने के लिए, संशोधित करना पड़ता है। हमारा संविधान सर्वोच्च राजनीतिक दस्तावेज है जिसके द्वारा हमारे समाज में राजनैतिक प्रशासन और कानून का राज्य स्थापित है। क्योंकि समाज की आवश्यकताएं उसकी नैतिक प्रकृति के कारण निरन्तर बदलती रहती है इसलिए हमारे राजनीतिक दस्तावेज (संविधान) को भी उसके अनुरूप सक्षम बनाया गया है ताकि वह जैविक रूप में विकसित हो सके। संविधान की धारा 368 के अनुसार, संसद की संविधान संशोधित करने की व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं जिनमें संविधान के प्रावधान में कुछ जोड़ना, बदलना व रद्द करना समाहित है। (संविधान में समाहित (24वां संशोधन) कानून 1971)।

इस शक्ति से एक प्रश्न उठता है कि जिस संविधान में उसे पूरी तरह बदलने का अलग कोई प्रावधान नहीं है और केवल उसे संशोधन के माध्यम से बदला जा सकता है? सम्माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने 'संविधान के मूलभूत ढ़ांचे की संकल्पना न्यायिक पुनरीक्षण के माध्यम से की है और कहा है कि संविधान के कुछ अवयव ऐसे मूलभूत हैं जिनमें संशोधन करने से संविधान का चरित्र ही बदल जाएगा और इसलिए उन्हें संशोधित नहीं किया जा सकता तथा धारा 368 के अन्तर्गत संसद को उन्हें बदलने के निरंकुश अधिकार नहीं हैं।

मूल अधिकारों की संशोधन परकता का ऐतिहासिक विकास :

संभवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धांत जो कि संविधान में उल्लिखित नियमों से निःसृत है, वह है 'केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य'[2] में बहुसंख्यक निर्णय के आधार पर स्थापित 'मूलभूत ढ़ांचे' का सिद्धांत है। इसी पर आगे विस्तार से प्रकाश डाला जाएगा।

केशवानन्द भारती पूर्व की स्थिति

संसद की संविधान संशोधनक्षमता को विशेषकर नागरिकों के मौलिक अधिकारों को संशोधित करने की शक्ति को 1951 में पहली बार चुनौती दी गई थी। शंकरी प्रसाद बनाम केन्द्र सरकार[3] के प्रतिवाद में धारा 31 में प्रदत्त संपत्ति के अधिकार में हुए पहले संविधान संशोधन अधिनियम 1951 (प्रथम संशोधन) की वैधता को चुनौती दी गई थी। इसमें मुख्य तर्क यह दिया गया था कि धारा 13 में 'मूल अधिकारों' को बदलने वाले किसी भी कानून को पारित करने का निषेध किया गया था और यह 'कानून' शब्द, धारा 13 के अनुसार संविधान संशोधन से बने कानून पर भी लागू होता है और ऐसे कानून की वैधता मूल अधिकारों के परिप्रेक्ष्य में ही जांची जानी चाहिए जिनके उल्लंघन का अधिकार संसद को प्राप्त नहीं है।

संविधान की शाब्दिक व्याख्या न करते हुए, सर्वोच्च न्यायालय ने 1951 के संविधान संशोधन को वैध स्वीकार किया। सर्वोच्च न्यायालय ने प्रतिवादी के तर्क को अस्वीकार करते हुए धारा 13 में लिखित 'कानून' शब्द के विषय में कहा कि 'इसके अन्तर्गत धारा 368 के अधीन किए गए संविधान संशोधन से बने कानून नहीं आएंगे।

इस विषय को पुनः सज्जन सिंह बनाम राजस्थान सरकार[4] के मुकद्दमे में उठाया गया जिसमें संविधान के 1964 में पारित 17वें संशोधन को चुनौती दी गई थी। संदेहास्पद संविधान संशोधन, संपत्ति के अधिकार को अभी भी क्षति पहुंचा रहा था। उच्चतम न्यायालय ने इस तर्क को 3:2 के बहुमत से निरस्त कर दिया और निर्णय दिया कि इस संशोधन का सार तत्व यह है कि इससे राज्य विधायिका द्वारा भूमि–सुधारों को प्रभावी और कुशल ढ़ंग से लागू करने में सक्षम बनाना था। इस प्रकार न्यायालय ने शंकरी प्रसाद के मामले में दिए अनुपात को स्वीकार किया।

मूल अधिकारों की संशोधनीयता की स्थिति को लेकर शंकरी प्रसाद बनाम सज्जन सिंह के मामले में आनुपातिक आधार पर स्वीकृति मिली थी, 1951 के प्रथम संविधान संशोधन, 1955 के चतुर्थ संविधान संशोधन और 1964 के सातवें संविधान संशोधन को आई सी गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य[5] की 11 सदस्यीय संविधान पीठ ने 615 से शंकर प्रसाद बनाम सज्जन सिंह के मुकद्दमें में दिए निर्णय का उत्तर दिया गया और इसका आधार बनाया गया कि धारा 368 के अन्तर्गत संसद को नागरिकों के मूल अधिकारों को संशोधित करने का अधिकार नहीं है। अल्पमत के न्यायाधीशों का मानना था कि पूर्व में दिए न्यायालयों के दो निर्णयों की तर्क प्रणाली से सहमत थे। बहुमत ने यह निर्णय दिया कि मूल अधिकारों का हमारे संविधान में सर्वोपरि स्थान है इसलिए संविधान के अधीन कार्यरत कोई भी संस्था धारा 368 के अंतर्गत कार्य करती हुई संसद भी आ जाती है, इन अधिकारों को संशोधित करने का अधिकार नहीं रखती। यह भी टिप्पणी की गई कि धारा 368 के माध्यम से, संविधान संशोधन की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है, इसके द्वारा संविधान संशोधन का अधिकार संसद को प्राप्त नहीं हो जाता।

गोलकनाथ मुकद्दमें में आए निर्णय को निष्प्रभावी बनाने के लिए 7 अप्रैल 1967 को लोकसभा में एक अधिनियम पारित किया गया जिसके द्वारा संसद के, 'मूल अधिकारों' को संशोधित करने के अधिकार को पुनः स्थापित किया गया। इस अधिनियम का लक्ष्य संविधान की धारा 368 के अंतर्गत, संसद के संविधान संशोधन की स्थिति को पूर्ववत स्थिर करना था।

गोलकनाथ प्रतिवाद के उपरान्त निम्नलिखित संशोधन किए गए जिनसे केशवानन्द भारती के मुकद्दमे की पृष्ठभूमि तैयार हुई।

1971 के 27वें संविधान संशोधन के माध्यम से धारा 13 और 368 में कुछ बदलाव पारित किए गए जिससे संसद की, संविधान संशोधन की शक्ति को पुनः स्थापित किया गया।

25वें संविधान संशोधन के माध्यम से धारा 31सी को जोड़ा गया। (कुछ राजकीय नीति के निर्देशक सिद्धांतों को कार्य रूप देने वाले कानूनों की सुरक्षा करना)।

29वें संविधान संशोधन द्वारा 'केरल के भू–सुधार कानून' संशोधन 1969 और 1971 की 9वीं अनुसूची में शामिल करने का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

'केशवानंद भारती' के पश्चात् की स्थितिः

केशवानंद भारती के मुकद्दमे में संवैधानिक कानून और दर्शन के क्षेत्र में एक ऐतिहासिक निर्णय दिया गया जिसकी परिणति मूलभूत अधिकारों की संशोधनीयता के विषय में सदा के लिए कानून की स्थिति स्पष्ट कर दी गई।

इस प्रतिवाद में प्रतिवादी ने केरल के भू–सुधार अधिनियम (1963) को चुनौती देते हुए इसे 'असंवैधानिक' कहा था। आगे यह तर्क दिया गया था कि इस सुधार के कारण प्रतिवादी के धारा 14, 19(एफ) 25, 26 और 31 में दत्त अधिकारों का भी हनन हुआ है। जिस समय यह मुकद्दमा उच्चतम न्यायालय के विचाराधीन था उसी बीच संसद ने 1971 का 24वाँ संविधान संशोधन अधिनियम और 29वाँ संविधान संशोधन (1912) पारित किया। इस संविधान संशोधन को भी न्यायालयों में चुनौती दी गई। 13 सदस्यीय संविधान पीठ के न्यायाधीशों ने अलग–अलग अपने निर्णय दिए। जिन मुख्य मुद्दों पर निर्णय होना था वे थेः

1. क्या संसद के पास धारा 368 के अधीन संविधान संशोधित करने का असीमित अधिकार है?
2. क्या संविधान के मूलभूत स्वरूप को बदला जा सकता है?
3. संविधान के मूल ढ़ांचे के अन्तर्गत क्या आता है अर्थात् संविधान के मूलभूत अवयव कौन से हैं?

सात न्यायाधीशों के बहुमत वाले निर्णय से, संविधान संशोधन वाले निर्णयों को उचित करार दिया गया और संसद की संशोधन की शक्ति को असीमित माना गया। इस प्रकार गोलकनाथ मुकद्दमे में दिए निर्णय को निरस्त कर दिया गया। संसद संविधान के किसी भी भाग में संशोधन कर सकती है, इसमें इसकी प्रस्तावना तक सम्मिलित है। परन्तु इन संशोधनों से संविधान के मूलभूत ढांचे पर असर नहीं पड़ना चाहिए। परन्तु न्यायालय में 'मूलभूत ढ़ांचे' को परिभाषित नहीं किया। परन्तु इसे कुछ उदाहरणों से समझा जा सकता है। संविधान के 42वें संशोधन के माध्यम से धारा 368 के अंतर्गत उपधारा (4) और (5) को जोड़ा गया जिससे व्यवस्था की गई कि धारा 368 के अंतर्गत किए गए किसी भी संशोधन को, किसी भी आधार पर, भारत के किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती और संसद की संविधान–संशोधन की शक्तियों पर कोई अंकुश नहीं है। तत्पश्चात् 42वाँ संशोधन, सभी निर्देशक सिद्धांतों को नागरिकों के

संसद संविधान के किसी भी भाग में संशोधन कर सकती है, इसमें इसकी प्रस्तावना तक सम्मिलित है। परन्तु इन संशोधनों से संविधान के मूलभूत ढांचे पर असर नहीं पड़ना चाहिए

मूलाधिकारों पर वरीयता देता है। इस संशोधन को 'मिनर्वामिल बनाम केन्द्र सरकार'[6] के प्रतिवाद के माध्यम से चुनौती दी गई और उच्चतम न्यायालय ने इसे निरस्त कर दिया और माना कि यह प्रावधान, असंवैधानिक है क्योंकि इनसे संविधान के मूलभूत स्वरूप को क्षति पहुँचती है।

मूलभूत ढांचे का सिद्धांत : मूलभूत का आधार :

भारतीय राजनीतिक ढांचे का मूलाधार एवं सबसे बड़ी विशेषता यह है कि संसद किसी भी तरह का कानून बना सकती है, निरस्त कर सकती है अथवा उसमें संशोधन कर सकती है। परन्तु ऐसा करने पर कुछ सीमाएँ और प्रतिबंध भी लगाए गए हैं क्योंकि किसी को निरंकुश शक्ति प्रदान करना भारतीय संविधान की आत्मा के विरूद्ध है। संविधान की धारा 245(1) के अनुसार, संसद की विधायिका शक्तियों को 'संविधान के प्रावधानों के अनुरूप सीमित किया गया है।[7] संविधान की धारा 245(1) के अधीन, संसद की विधायिनी को 'संविधान के प्रावधानों के अनुरूप सीमित किया गया है। इस प्रकार भारतीय संसद को संविधान की सीमाओं के अन्तर्गत काम करना पड़ता है। जिससे उसकी विधायनी शक्तियों का उत्स हुआ है। अब प्रश्न उठता है कि क्या केन्द्रीय विधायिका उन प्रतिबंधों और रूकावटों को समाप्त कर सकती है जो संविधान संशोधन की अपनी शक्तियों को बिना किसी मर्यादित आचरण के प्रयोग कर सकती है? इस प्रश्न का उत्तर मूलभूत ढ़ांचे का सिद्धांत ही है।

विधिक विकास के इतिहास में मूलभूत ढ़ांचे की अवधारणा संविधानवाद के क्षेत्र में नए मोड़ की सूचक है। इसके कारण संविधान के तीसरे खण्ड में लिखित मूल अधिकारों की संवैधानिक संशोधन के तीसरे खण्ड में लिखित मूल अधिकारों की संवैधानिक संशोधनपरकता के परिप्रेक्ष्य को ही बदल दिया है। संविधान में संशोधन करने के विभिन्न तरीके हैं। धारा 368 में संविधान संशोधन की प्रविधि को स्पष्ट किया है जो कि 'मूल अधिकारों' पर भी लागू होती है। केन्द्रीय विधायिका की संविधान संशोधन की शक्तियों को न्यायिक घोषणाओं द्वारा रोका नहीं जा सकता।[8]

यह आवश्यक है कि हम संविधान के उन मूल अवयवों की चिन्हित करें जिन्हें धारा 368 के अंतर्गत संशोधित नहीं किया जा सकता। केशवानन्द भारती विषयक निर्णय में[9] माननीय उच्चतम न्यायालय ने संविधान की सर्वोच्चता, शक्तियों के वितरण, संविधानिक धर्मनिरपेक्षता और संघीय ढ़ांचे आदि को संविधान के मूलभूत ढ़ांचे का अंग बनाया था। न्यायालय ने इससे आगे कहा कि यह अनन्तिम सूची नहीं है और न्यायिक घोषणाओं द्वारा इसमें वृद्धि की जा सकती है।

इन्दिरागांधी बनाम राजनारायण के मुकद्दमे[10] में, उच्चतम न्यायालय ने मूलभूत संवैधानिक ढ़ांचे विषयक कुछ महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किए हैं।

मूलभूत ढांचे का पार्थिव परिकल्पना ही हो सकती है जो कि संविधान की सीमाओं में आबद्ध हो। मूलभूत ढांचा 'संविधान के ऊपर चमकता कोई सितारा नहीं है। यह किन्हीं सूक्ष्म आदर्शों पर आश्रित नहीं जो कि संवैधानिक प्रावधानों के बाहर कहीं स्थित है।

मूल अधिकारों के क्षेत्र पर विचार करते हुए माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने अशोक कुमार ठाकुर बनाम केन्द्र सरकार मामले[11] में टिप्पणी करते हुए कहा कि संविधान के खण्ड तीन में दिए मूल अधिकार, संविधान के मूलभूत ढांचे का अंग हैं। उससे भी बढ़कर समता की अवधारणा जो कि 'कानून के राज्य' का मूलाधार है, जिसे धारा 14 के अन्तर्गत गणतन्त्र की सर्वाधिक महत्वपूर्ण मान्यता माना जाता है और जो संविधान में 'समता के सिद्धांत' में उल्लिखित है, को कानून के राज्य का मूलाधार माना गया है और यह संविधान के मूलभूत ढांचे का अंग है।[12]

इस सिद्धांत का एक महत्वपूर्ण अवयव यह है कि वह विकासशील है जैसा कि अनेक न्यायिक घोषणाओं से स्पष्ट है जिनसे न्यायालय ने 'मूलभूत अवयवों' विषयक सूची को अंतिम रूप देने से इन्कार किया है। यह कार्य–पद्धति इस तर्क पर आधारित है कि संविधान एक जीवंत दस्तावेज है न कि कोई निर्जीव दस्तावेज और यह समय के प्रवाह में विकसित होता है।

मूल अधिकारों की संशोधनीयता : एक पहेली :

1976 का 42वाँ संविधान संशोधन भारतीय संवैधानिक इतिहास का सर्वाधिक विवादास्पद और चर्चित संविधान संशोधन था। इस संशोधन के विरुद्ध मूलभूत आक्षेप यह था कि इससे कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच का शक्ति संतुलन बाधित हुआ है क्योंकि इससे न्यायपालिका की शक्तियों को सीमित किया गया है और कार्यपालिका के पक्ष में झुकाव बढ़ा है। इससे भी बढ़कर संविधान संशोधनों को न्यायिक पुनरीक्षण से पूरी तरह मुक्त कर दिया गया था। कार्यविधि और तात्विक आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह संविधान के मूलभूत नियमों की अवहेलना करता था और निमर्वामिल के मुकद्दमे में इस संशोधन को निरस्त करने का मुख्य आधार यही बात बनी।[13]

संविधान निर्माताओं ने संसद के हाथ में संविधान संशोधन की शक्तियाँ देते हुए इन्हें न तो अति नमनीय बनाया और न ही कठोर बनाया, जिसका उद्देश्य यह था कि संसद 'देश के नागरिकों' की बदलती आवश्यकताओं के अनुरूप इसमें संशोधन कर सके। संसद अपनी संवैधानिक शक्तियों का प्रयोग करते हुए संविधान के किसी भी अंश का धारा 368 के अनुरूप संशोधन कर सकती है। यहाँ तक कि संशोधन विधेयक धारा 368 में भी संशोधन कर सकती है। मूलभूत ढांचे का सिद्धांत, न्यायाधीशों द्वारा दिया गया सिद्धांत है जिससे संसद की संविधान की शक्ति को सीमित किया गया है

मूलभूत ढांचे का पार्थिव परिकल्पना ही हो सकती है जो कि संविधान की सीमाओं में आबद्ध हो। मूलभूत ढांचा 'संविधान के ऊपर चमकता कोई सितारा नहीं है। यह किन्हीं सूक्ष्म आदर्शों पर आश्रित नहीं जो कि संवैधानिक प्रावधानों के बाहर कहीं स्थित है

ताकि संशोधन करने की अपनी संवैधानिक शक्तियों का प्रयोग करते समय 'देश के मूलभूत कानून' को ही न बदल दे। इस प्रकार प्रश्न उठता है कि क्या संसद की संविधान संशोधन क्षमता पर कोई अंकुश है? यदि इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक नहीं है तो कहा जा सकता है कि संविधान निर्माता कोई ऐसा अंकुश लगाना ही नहीं चाहते थे और यदि वे ऐसा चाहते तो संविधान में इसके लिए प्रावधान अवश्य करते।

इसके पश्चात यह प्रश्न उठता है कि संसद, किस सीमा तक देश के मूलभूत कानून (संविधान) को बदल सकती है? और यदि संसद की इस शक्ति पर कोई अंकुश संभव नहीं तो क्या अपनी विधायिका शक्तियों की आड़ में संसद इसका दुरुपयोग नहीं कर सकती जैसा कि आपातकाल के दौरान 42वें संविधान संशोधन के द्वारा विशेष रूप से बात सामने आई थी।

संसद की संविधान संशोधन की शक्तियों पर एक अंतर्निहित एवं अव्यक्त नियंत्रण रहता है जो जर्मनी के संवैधानिक सिद्धांतों से निःसृत है। निर्दिष्ट तर्क को नॉनी पालखीवाला ने केशवानंद भारती के मुकद्दमें में सफलतापूर्वक सिद्ध करने में सफलता प्राप्त की थी जबकि इस तर्क को गोलकनाथ मामले में एम.के. नाम्बियार ने इसी तर्क का असफल प्रयोग किया था।

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 'केशवानंद भारती' मामले में स्थापित 'मूलभूत ढ़ांचा' विषयक सिद्धांत का आलोचनात्मक विश्लेषण

पैंतीस वर्ष से भी अधिक वर्ष पूर्व उच्चतम न्यायालय के तेरह सदस्यीय पीठ ने एक कानून स्थापित किया, वास्तव में बनाया। इस पीठ ने परमपवित्र केशवानंद भारती श्रीपाद मलबरू बनाम केरल सरकार (1973) 4 एस.सी.सी. 225 के अनुसार निर्णय दिया कि भारतीय संविधान के किसी भी भाग को संशोधित कर सकती है जिसके अन्तर्गत 'मूल अधिकारों' विषयक संविधान का तीसरा खण्ड भी शामिल है परन्तु शर्त यह है कि ऐसा करते समय संविधान के मूलभूत ढ़ांचे को क्षति न पहुँचे। न्यायालय के इस निर्णय के माध्यम से पूर्व गठित ग्यारह सदस्यीय न्यायपीठ के निर्णय को बदला गया था कि

निःसंदेह, जैसा कि मुख्य न्यायाधीश सीकरी ने केशवानंद प्रतिवाद में कहा था मूल ढ़ांचे का सिद्धांत संसद के संविधान संशोधन की मनमानी शक्तियों के विरूद्ध सुरक्षा बाल्व का काम करेगा

संसद, संविधान के खण्ड 3 में दिए मूल अधिकारों को छोड़कर किसी भी भाग का संशोधन कर सकती है, यह निर्णय आई.सी. गोलकनाथ बनाम पंजाब सरकार के मुकद्दमे में दिया गया था। केशवानंद भारती मुकद्दमें में इसके विपरीत निर्णय लेते हुए कहा गया कि मूल अधिकारों को भी छीना जा सकता है परन्तु शर्त यह है कि मूलाधिकार निरस्त करने से संविधान के मूलभूत ढ़ांचे पर आघात न हो।

निःसंदेह, जैसा कि मुख्य न्यायाधीश सीकरी ने केशवानंद प्रतिवाद में कहा था "मूल ढ़ांचे का सिद्धांत संसद के संविधान संशोधन की मनमानी शक्तियों के विरूद्ध सुरक्षा बाल्व का काम करेगा।" और इन्दिरागांधी के आपातकालीन तानाशाही जैसे शासनतंत्र से लोगों की आजादी और स्वायत्ता को सुरक्षित रखा जा सकेगा। परंतु आज हमारे समक्ष प्रश्न यह है कि यदि न्यायालय मूलभूत ढ़ांचे की संकल्पना के आधार पर हर लोक अनुमोदित संविधान संशोधनों को परखने लगे और शक्तियों के पारस्परिक वितरण के सिद्धांत के विपरीत, विधायिका की शक्तियों में हस्तक्षेप करे, तब क्या होगा।

यह एक रोचक तथ्य है कि जिस मूलभूत ढ़ांचे के सिद्धांत को केशवानंद भारती मामले में न्यायालय ने प्रतिपादित किया उसकी रत्ती भर भी चर्चा या उल्लेख संविधान के पाठ में नहीं मिलता। तदोपरान्त जब न्यायालय के समक्ष प्रश्न आया कि मूलभूत ढ़ांचा क्या है तो सात न्यायमूर्तियों के बहुसंख्यक निर्णय को लिखते हुए मुस्तैदी से यह कहा गया कि मूलभूत ढांचा प्रजातंत्र, धर्म निरपेक्षता जैसे जीवन मूल्यों आदि से बनता है परन्तु इसका निर्णय आवश्यकता पड़ने पर न्यायालय द्वारा किया जाएगा। संविधान की धारा 368 संसद को संविधान संशोधन की वैधानिक शक्ति प्रदान करती है। धारा 245 तथा तदनन्तर जोड़ी गई धाराएँ ऐसी वैधानिक शक्तियाँ प्रदान करती हैं जिनके अनुसार संसद विभिन्न अधिनियम पारित करती है। (उनके लिए यह आवश्यक है कि वे धारा 13(2) की इस कसौटी पर खरे हो – संसद ऐसा कोई कानून नहीं बनाएगी जो कि खण्ड तीन में दिए प्रावधानों का उल्लंघन करता हो।

यदि हम संविधान की मूल धारा 368 को पढ़ें जैसी कि वह 24वें संविधान संशोधन से पूर्व थी, वह है –

368 संसद की संविधान संशोधन की शक्ति और उसकी प्रक्रिया

1. संसद संविधान में दिए सभी प्रावधानों के रहते हुए भी अपनी संवैधानिक शक्तियों का प्रयोग करते हुए संविधान में कुछ जोड़ने, परिवर्तित करने अथवा किसी भी प्रावधान को रद्द करने का कार्य इस धारा में दी गई प्रविधि के अनुसार कर सकती है।
2. संविधान संशोधन की प्रक्रिया का प्रारम्भ दोनों सदनों में से किसी एक में बिल प्रस्तुत करने से होगा और जब बिल दोनों सदनों में उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से पारित हो जाए तदोपरान्त उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाए और स्वीकृति मिल जाने के पश्चात बिल के अनुसार संविधान संशोधन स्वीकृत माना जाएगा।
3. धारा 13 का कोई प्रावधान इस धारा के अनुसार किए गए किसी भी संशोधन पर लागू नहीं होगा।

इस धारा के हाशियों पर दी गई टिप्पणी में संविधान संशोधन की संसद की शक्तियों को परिभाषित किया गया है। तेरह न्यायाधीशों का पारस्परिक विवाद हमारी चर्चा का विषय नहीं है तथापि केशवानंद निर्णय के पश्चात उच्चतम न्यायालय ने अत्यधिक शक्तियों को हस्तगत कर लिया। न्यायालय, संविधान के पाठ को व्याख्यायित करने के अपने अधिकार से आगे चला गया और प्रावधानों

का वह अर्थ निकाल लिया जो संविधान निर्माताओं को अभिप्रेत नहीं था।

एक अन्य बात जो अत्यधिक महत्वपूर्ण है जिसे हमें नहीं भूलना चाहिए जब हम उच्चतम न्यायालय द्वारा इस सिद्धांत के प्रयोग की सीमाओं पर विचार करें, वह यह है कि यह सिद्धांत केवल 'संविधान संशोधन' को परखने के लिए ही निर्मित हुआ है न कि संसद के किसी कानून अथवा अधिनियम को परखने के लिए क्योंकि उनका पुनरीक्षण तो खण्ड तीन के अनुसार पूर्व निर्धारित ही है। इस हेतु यह आवश्यक है कि संशोधन में ऐसा कुछ अवश्य होना चाहिए तभी न्यायालय के अनुसार किसी संशोधन की वैधता को परखा जा सकता है। इसका उत्तर मूलभूत ढांचा है।

असंख्य निर्णयों में जैसे कि इन्दिरा नेहरू गाँधी बनाम राजनारायण, किहोतो होलोहोन, एस आर बोम्मई बनाम केन्द्र सरकार, पूदयाल बनाम केन्द्र सरकार आदि में न्यायालयों से भिन्न–भिन्न घोषणाएँ कीं जैसे कि बोम्मई मामले में उच्चतम न्यायालय ने धर्म निरपेक्षता को संविधान के मूल ढांचे का अंग बताया, राजनारायण मामले में न्यायालय ने कहा कि लोकतंत्र, संविधान के मूल ढ़ांचे का अंग है। परन्तु इन घोषणाओं का बहुत कम न्यायिक पुनरीक्षण हुआ है जैसे चुनी हुई सरकारों को 'धर्म निरपेक्षता' और मूलभूत ढ़ांचे के सिद्धांत के अनुसार वैध ठहराया गया जबकि संवैधानिक व्यवस्था के अंग होने का कोई चिन्ह वहां नहीं था, यह विचारणीय है।

जैसा कि देश ने देखा चौथे न्यायाधीश मामले में जिसे 'नेशनल ज्यूडिशियल एप्वाइंटमेंट कमीशन (2015) के रूप में जाना जाता है उसमें उच्चतम न्यायालय ने न्यायपालिका की सर्वोच्चता और स्वतंत्रता को संविधान के मूल ढ़ांचे का अंग घोषित कर दिया। न्यायालय ने एन जी ए सी के गठन को निरस्त करते हुए असंवैधानिक करार दिया और घोषित किया कि कोलिजियम प्रणाली की जगह 'कमीशन' प्रणाली लागू करने से न्यायालय की स्वतंत्रता का उल्लंघन हुआ है।

न्यायालय द्वारा 'मूलभूत ढांचा सिद्धांत' का ऐसा प्रयोग, चिन्ताजनक है। परन्तु यह कहना उचित नहीं है कि बहुमत विरोधी संस्थान है और वह लोकभावनाओं के विरूद्ध

न्यायपालिका द्वारा किए गए इस प्रकार के निर्णयों के साथ दुहरी समस्या है। जब न्यायालय किसी संविधान संशोधन को मूलभूत ढ़ांचे का अंग उल्लंघन घोषित करते हुए आगे के लिए उस मुद्दे को मूलभूत ढांचे का अंग घोषित कर देती है

कार्य करता है क्योंकि हमारे जैसे संवैधानिक प्रजातंत्र में न्यायपालिका की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण है। न्यायपालिका को राज्य के अन्य अंगों की कार्यप्रणाली के निरीक्षण का दायित्व दिया गया है ताकि वे अपने अधिकार क्षेत्रों का अतिक्रमण न करें ऐसे में क्या यह उचित है कि न्यायपालिका स्वयं मूलभूत ढांचे की आड़ में अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करे? संसद का दायित्व है कि वह जनभावनाओं का प्रतिनिधित्व करे क्योंकि वहाँ संसद के चुने हुए प्रतिनिधि हैं। इसलिए संसद में बनाए गए कानून, जनभावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इसलिए यह निरन्तर बनी रहनेवाली चिंता है कि अस्पष्ट मूलभूत ढांचे के सिद्धांत के आधार पर संसद द्वारा पारित किसी भी संशोधन को मूलभूत ढांचे का उल्लंघन करार दे कर निरस्त कर सकती है। एन.बी.ए.सी. विषयक निर्णय में बहुमत इस विचार को व्यक्त करता प्रतीत होता है कि अनुच्छेद 141 का मूक और अदृश्य निष्कर्ष यही निकाला जा सकता है कि संसद द्वारा पारित कानून, न्यायपालिका की प्राथमिकता के मूलभूत ढांचे के अंग का उल्लंघन करता है। न्यायालय ने धारा 124 में उल्लिखित 'विचार विमर्श' शब्द को आधार बनाकर तय किया कि न्यायपालिका की प्रमुखता और स्वतंत्रता मूलभूत ढांचे का अंग है।

न्यायपालिका द्वारा किए गए इस प्रकार के निर्णयों के साथ दुहरी समस्या है। जब न्यायालय किसी संविधान संशोधन को मूलभूत ढ़ांचे का अंग उल्लंघन घोषित करते हुए आगे के लिए उस मुद्दे को मूलभूत ढांचे का अंग घोषित कर देती है। अत्यधिक अकादमिक ढंग से कहें तो पूर्व प्रभावी रूप में निर्णय को लागू करना होगा क्योंकि संसद को संशोधन करते हुए पता ही नहीं कि भविष्य में इसे न्यायपालिका मूलभूत ढांचे का अंग करार देने वाली है और इस प्रकार वह मूलभूत ढांचे के सिद्धांत का उल्लंघन कर रही है। दूसरे मूलभूत ढांचे के सिद्धांत का विस्तार 'मिनर्वा मिल बनाम केन्द्र सरकार' में दिए निर्णय के अनुसार हुआ, कहा गया, "संसद की संशोधन करने की सीमित शक्ति भी संविधान के मूलभूत ढांचे का अंग है। जो न्यायपालिका को अदृश्य शक्ति प्रदान करता है।

जब न्यायालय स्थापित नियम से इतर निर्णय करते हुए कहता है कि संवैधानिक सूक्ष्म मूल्य जैसे समानता, स्वतंत्रता, प्रजातंत्र आदि मूलभूत ढ़ांचे का अंग है तो यह 'मिनर्वा मिल' जैसे निर्णयों के माध्यम से सभी मर्यादाओं को ध्वस्त कर देता है और ऐसे अर्थ गढ़ता है जिससे दूरस्थ और आनुवंशिक विषय की मूलभूत ढांचे का अंग बन सकते हैं।

इस सिद्धांत के पक्ष में यह कहा जाता है कि सरकारें निरंकुश होती है और नागरिकों के अधिकारों पर गिद्ध दृष्टि लगाए रखती हैं ताकि उन्हें जब भी अवसर मिले उन्हें सीमित कर सकें। यह स्पष्ट रूप से वितण्डा है और लोगों के भय को बढ़ावा देना है। यदि संसद के पास लोगों के अधिकार छीनने का अधिकार है तो चुनावों में उन्हें जनता के समक्ष भी जाना पड़ता है और अपने कार्यों की सफाई देनी पड़ती है। न्यायाधीशों के मामले में ऐसा कुछ नहीं होता।

विविध न्यायिक घोषणाओं में 'मूल ढांचे' का सिद्धांत :

इस प्रकार केशवानंद प्रतिवाद में 7 और 6 के अत्यंतअल्प बहुमत से यह स्थापित हुआ कि संविधान के कुछ भाग असंशोधनीय है और संसद धारा 368 के अन्तर्गत उनमें संशोधन नहीं कर सकती। इसी प्रकार संविधान सभा की तरह 'मूलभूत ढांचे में संशोधन' केवल वर्तमान संविधान को बदल कर ही किया जा सकता है।

संविधान सभा की चर्चाओं को पढ़ते समय यह देखा जा सकता है कि हमारे पूर्वजों ने न तो इस प्रकार के वर्गीकरण की योजना बनाई और न ही संवैधानिक प्रावधानों

का कोई ऐसा वर्गीकरण संविधान में डाला जिसमें धारा 368 के अन्तर्गत संशोधन न किया जा सके। परन्तु केशवानंद के प्रतिवाद के पश्चात, धारा 368 के अन्तर्गत, संविधान संशोधन का संसद का अधिकार सीमित हो गया और इस कसौटी पर परखा जाने लगा कि अमुक संशोधन संविधान के मूलभूत ढांचे का उल्लंघन तो नहीं करता।

मुख्य न्यायाधीश सीकरी के अनुसार 'मूलभूत ढांचा' जिस मूल आधार पर निर्मित है वह है, मनुष्य की स्वतंत्रता और सम्मान; उन्होंने विचार व्यक्त किया–

"पैरा 292..... वास्तविक स्थिति यह है कि संविधान के किसी भी प्रावधान को बदला जा सकता है, परन्तु शर्त यही है कि संविधान की नींव और ढांचा अपरिवर्तित रहे। मूलभूत ढांचे के अन्तर्गत निम्नलिखित बातों को लिया जा सकता है :

1. संविधान की सर्वोच्चता।
2. गणतंत्रीय और प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली।
3. संविधान का धर्म निरपेक्ष चरित्र।
4. विधायिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका में शक्तियों का बंटवारा।
5. संविधान का संघीय चरित्र न्यायमूर्ति जे. जे. ग्रोवर के अनुसार।

"पैरा 582 ..... यदि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, प्रस्तावना तथा संविधान के संपूर्ण स्वरूप को जिसमें धारा 368 भी शामिल है दृष्टिगत रखा जाए तो यह स्पष्ट करने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि निम्नलिखित बातों को संविधान का मूल ढांचा करार दिया जा सकता है (इनको सूचिबद्ध नहीं किया जा सकता परन्तु उन्हें उदाहरण स्वरूप ही प्रस्तुत किया जा सकता है।)

(1) संविधान की सर्वोच्चता
(2) गणतन्त्रीय एवं प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली तथा राष्ट्र की संप्रभुता।
(3) संविधान का धर्मनिरपेक्ष और संघीय ढ़ांचा।
(4) विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका में 'शक्तियों' का बंटवारा।
(5) विभिन्न प्रकार की आजादी मूल अधिकारों द्वारा संरक्षित व्यक्ति का सम्मान जैसा कि खण्ड तीन में दिया है और खण्ड चार के अनुरूप कल्याणकारी राज्य स्थापित करने का अधिकार।
(6) राष्ट्र की एकता और अखण्डता।

इस प्रकार गोलकनाथ प्रतिवाद के पश्चात किसी भी मूलाधिकार को छीना अथवा सीमित नहीं किया जा सकता और केशवानंद के प्रतिवाद के पश्चात न्यायालय तय करेगा कि कोई मूल अधिकार अथवा संविधान का अन्य कोई प्रावधान संविधान का मूल ढांचा है अथवा नहीं। यदि ऐसा है तो इसे संशोधित अथवा सीमित नहीं किया जा सकता।

इन्दिरा गांधी बनाम राज नारायण (ए. आई.आर. 1975 एस सी 22991 उच्चतम न्यायालय ने केशवानंद भारती मामले में मूल ढांचे के अंतर्गत तय सूची में निम्नलिखित अवयवों को जोड़ा –

(1) कानून का राज्य
(2) न्यायिक पुनरीक्षण
(3) प्रजातंत्र, जिसका अर्थ है मुक्त और निष्पक्ष चुनाव।
(4) धारा 32 के अन्तर्गत, न्यायपालिका का अधिकार क्षेत्र।

इसे आगे मिनर्वा मिल्स लि. बनाम यू.ओ. आई (ए.आई.आर. 1960, एस.सी. 1789); सम्मानीय उच्चतम न्यायालय ने 411 के बहुमत से धारा 368 के अनुच्छेद (4) और (5) को इस आधार पर निरस्त कर दिया कि ये संविधान के मूल ढ़ांचे के अवयवों को नष्ट करते हैं। न्यायालय ने घोषित किया कि मूलभूत ढांचे के निम्नलिखित अवयव हैं–

(1) संविधान को संशोधित करने की संसद की शक्ति सीमित है।
(2) मूल अधिकारों और राजकीय नीति के निर्देशक तत्वों में संगति और असंतुलन।
(3) कुछ मामलों में मूल अधिकार।
(4) कुछ मामलों में न्यायिक पुनरीक्षण।

इस प्रकार यह निर्णय स्पष्ट करता है कि संसद, संविधान सभा द्वारा निर्मित है और संविधान से ही इसे सारी शक्तियाँ प्राप्त हैं जिनमें धारा 368 के अंतर्गत संशोधन की शक्तियाँ भी हैं और किसी भी संविधान संशोधन की न्यायिक व्याख्या ही भारत में मान्य होगी न कि संसदीय संशोधन। संसद को, न्यायपालिका को यह विश्वास दिलाना होगा कि उसके संशोधन से मूल ढांचे का उल्लंघन नहीं हुआ है। साथ ही न्यायालय ने यह भी घोषित किया कि मूल ढांचे विषयक सिद्धांत केवल संवैधानिक संशोधनों पर लागू किया जाएगा, साधारण कानूनों की वैधता पर नहीं।

संवैधानिक ढांचे की वर्तमान स्थिति :

मिनर्वा मिल प्रतिवाद में 'मूलभूत ढांचा' विषयक सिद्धांत की पुष्टि और विस्तार हुआ। इसके पश्चात यह तय है कि जब तक किसी अन्य पूर्व पीठ द्वारा 'केशवानंद भारती' में हुए निर्णय को पलटा नहीं जाता तब तक संसद द्वारा पारित किसी भी संविधान संशोधन में न्यायपालिका 'संविधान के मूल ढ़ांचे के किसी अवयव के उल्लंघन के आधार पर बनाकर उसमें हस्तक्षेप कर सकती है।

तदोपरान्त, न्यायिक व्याख्याओं द्वारा माननीय उच्चतम न्यायालय संविधान के द्वारा अनेक अवयवों को आवश्यक और आधारभूत बताकर उस सूची में शामिल किया जाता रहा है, जिन्हें संसद संशोधित नहीं कर सकती। केशवानन्दोत्तर एक बड़ी बात जो इस सिद्धांत में नहीं हुई है वह यह है कि न्यायालय ने मूल ढांचे की उस सूची को अन्तिम रूप देने से इन्कार कर दिया है जो केशवानन्द प्रतिवाद के फैसले में विभिन्न न्यायाधीशों ने दी थी। इंदिरा गांधी प्रतिवाद के विषय में न्यायालय ने यह तय किया कि संविधान का कोई अवयव 'मूल ढांचे' के अन्तर्गत आता है अथवा नहीं इसका फैसला स्थिति के अनुसार न्यायालय ही करेगा।

यद्यपि अभी तक, विभिन्न न्यायाधीशों ने विभिन्न निर्णयों में मूलभूत ढांचे के अवयवों पर अनेक निर्णय देते हुए अनेक अवयव चिन्हित किए हैं, तथापि उनमें अवयवों को लेकर आम सहमति का अभाव है, विशेषकर

(क) धर्मनिरपेक्षता आई.आर.कोइलो बनाम तमिलनाडु सरकार (ए. आई आर 2007, एस.सी 861), वाल्समा पॉल (श्रीमती) बनाम

बनाम कोहिन विश्वविद्यालय (1996) 3 एस सी सी 545,

(ख) 'मूल अधिकारों का सार खण्ड तीन है (वामन बनाम केन्द्र सरकार (ए आई टी 1981 एस.सी 271),

(ग) उच्चतम न्यायालय की धारा 32, 136, 141, और 142 के अधीन शक्तियाँ (दिल्ली ज्यूडिसियल सर्विस एशोसिएसन बनाम गुजरात सरकार (1991) 4 एस सी सी 406,

(घ) संसदीय प्रजातंत्र एवं बहुदलीय प्रणाली (कुलदीप नैय्यर बनाम केन्द्र सरकार (2006), एस सी सी,)

(च) सार्वजनिक नौकरियों में सेवा का अधिकार (कर्नाटक सरकार बनाम उमा देवी; 2006) 4 एस. सीसी।,

(छ) खण्ड चार संपूर्ण, राजकीय नीति के निर्देशक तत्व (भीम बनाम भारत सरकार ;ए आई आर 1981 एस.सी. 234 (जे कृष्णा अय्यर, पैरा 18),

(ज) मूल अधिकारों और राजकीय नीति के निर्देशक सिद्धांतों में संतुलन मिनर्वा मिल्ज और आई. आर कोइलो प्रतिवाद (सुपरा),

(झ) न्यायपालिका की स्वतंत्रता गुप्ता बनाम भारत सरकार; ए आई आर 1982 एस सी 149, उच्चतम न्यायालय ए.ओ. आर एशो. बनाम केन्द्र सरकार;(1993) 4 एस सी सी 441)

99 वे संविधान संशोधन को चुनौती देने वाले हाल ही के एक मुकद्दमें में जिसके माध्यम से एन.जे.ए.सी. के गठन को व्यापक राजनीतिक आम सहमति से मंजूरी दी गई थी ताकि न्यायिक नियुक्तियों को पारदर्शी बनाया जा सके जो कि कोलिजयम प्रणाली की स्थानापन्न थी, उच्चतम न्यायालय ने 4:1 के बहुमत से इस आधार पर इसे निरस्त कर दिया कि यह संविधान के मूलभूत ढांचे का उल्लघन करती है। अपरोक्ष तौर पर यह घोषित किया गया कि कॉलेजियम प्रणाली, मूलभूत संवैधानिक ढांचे का अंग है। परन्तु यहां यह बताना उपयुक्त होगा कि ऐसी किसी प्रणाली का उल्लेख न संविधान सभा की चर्चाओं में है, न ही हमारे लिखित संविधान में है और न ही 1990 से पूर्व इसका कोई अस्तित्व था।

यह जानना भी अत्यावश्यक है कि यदि मूलभूत ढांचे का सिद्धांत, तेरह न्यायधीशों द्वारा प्रतिपादित एवं तदोपरान्त अन्य निर्णयों द्वारा पुष्ट सिद्धांत है तो यह न्यायपालिका पर भी पूरी तरह लागू होता है। न्यायपालिका की स्वतंत्रता आवश्यक है कि इसलिए ठीक ही संविधान के मूल ढांचे का अंग है, परन्तु उतना ही महत्वपूर्ण गणतंत्रीय और प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली और शक्तियों का बंटवारा है। इसका यह अर्थ भी है कि कानून निर्माण का कार्य वहीं करे जिन्हें जनता ने चुना है और चुने हुए लोग ही शासन व्यवस्था देखें। मूलभूत ढांचे के अवयवों में उचित आंतरिक शक्ति–संतुलन होना चाहिए।

मूलभूत अवयवों की समीक्षा

न्यायपालिका ने संविधान के आवश्यक और अनावश्यक अवयवों को अलगाने का दायित्व अपने ऊपर ले लिया है यद्यपि व्याख्या के नियमों के अनुसार लिखित संविधान के सभी अंश, किसी विशिष्ट विरोधी प्रावधान के अभाव में, समान रूप से महत्वपूर्ण माने जाने चाहिए। आवश्यक और अनावश्यक अवयवों की खोज का प्रयास खोखला है। पुनः प्रश्न उठता है कि यह वर्गीकरण कौन करेगा (डीडीवासु–कम्पैरेटिव कॉन्सटीट्यूशनल लॉ, द्वितीय संस्करण, पृ.318,)

एच. एम. सीखाई के अनुसार संविधान के आवश्यक तत्वों एवं मूल ढांचे के बीच अलगाव गलत है। 'अनावश्यक' प्रावधानों और मूलभूत के बीच, विभिन्न स्तरीय महत्व रहता है जिसे कोई भी 'अनावश्यक' नहीं कह सकता। (कॉन्सीटयूशनल लॉ ऑफ इंडिया, संस्करण, खण्ड तीन पृ.3159)

ऊपर दी गई चर्चा से स्पष्ट है कि मूलभूत ढांचे विषयक सिद्धांत न्यायविदों में गंभीर वाद–विवाद का विषय है।

निष्कर्षः

कोई भी निरन्तर विकासशील सिद्धांत न्यायिक व्याख्या का विषय नहीं हो सकता। मूलभूत ढांचा' विषयक सिद्धांतों में न्यायिक कसौटी पर कसने के लिए पर्याप्त स्थिरता होनी चाहिए। न्यायपालिका और विधायिका में दिखाई पडने वाले विरोध से बचना चाहिए। 'मूलभूत ढांचा सिद्धांत' और 'शक्तियों के बॅटवारे' में तालमेल तभी बिठाया जा सकता है जब कि दोनों पक्ष 'संयम के सिद्धांत' अथवा विवेक का प्रयोग कर तय करें कि उन्हें कब इन शक्तियों का प्रयोग करना है।

संसद और न्यायपालिका, दोनों ही भारत के जीवन्त प्रजातन्त्र और विकास में सहभागी हैं इसलिए यह उचित होगा कि इस लेख का लार्ड बायरन की इन पंक्तियों से समापन किया जाए।

"एक राज्य के निर्माण में सौ वर्ष भी कम पड़ते है परन्तु एक घण्टे में यह धूल में मिल सकता है।" लार्ड बॉयरन ■

संदर्भ संकेत

1 *सर जॉर्ज बर्नार्ड शॉ*
2 *केशवनंद भारती बनाम केरल राज्य, एआईआर 1973 एससी 1461*
3 *शंकर प्रसाद बनाम भारतीय संघ, एआईआर 1951 एससी 459*
4 *सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य, एआईआर 1965 एससी 845*
5 *आईसी गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य, एआईआर 1967 एससी 1643*
6 *मिनर्वा मिल्स बनाम यूनियन ऑफ इंडिया, एआईआर 1980 एससी 1789।*
7 *भारत के संविधान के अनुच्छेद 245, 1950*
8 *केशवनंद भारती बनाम केरल राज्य, एआईआर 1973 एससी 1461*
9 *वही*
10 *इंदिरा गांधी बनाम राज नारायण, एआईआर 1975 एससी 22 99*
11 *अशोक कुमार ठाकुर बनाम संघ (2008) 6 एससीसी 1*
12 *नचने अश्विनी शिवराम बनाम महाराष्ट्र राज्य, एआईआर 1998 बोम 1*
13 *मिनर्वा मिल्स बनाम यूनियन ऑफ इंडिया, (1980) 3 एससीसी 625*

प्रो. रेखा सक्सेना

भारतीय संविधान एवं संघीयता

भारत की भौगौलिक और क्षेत्रीय विविधताओं को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान के रचनाकारों ने ब्रिटिश संसदीय प्रणाली के साथ संघीय मॉडल के समागम का चयन किया। संसदीय शासन विधायी सर्वोच्चता के केन्द्रीकरण का सूचक है तथा इसके विपरीत संघीय संरचना और संसदीय शासन के समावेश से रचित हुई संघीय प्रणाली, जिसे संवैधानिक विशेषज्ञ अतिआवश्यक मानते हैं, संघीय प्रणाली राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण को दर्शाती है

लगभग 200 वर्षों के ब्रिटिश शासन के दौरान इस प्रायद्वीप में भारतीय रजवाड़ों के बीच संघर्ष को केन्द्र की मजबूत औपनिवेशक शक्ति द्वारा रोका गया था। 1947 में सत्ता हस्तांतरण के समय दोनों ही पक्षों ब्रिटिश शासकों और स्वतंत्र भारतीयों ने संघीय योजना को आवश्यक माना था। संघीय जड़ें भारतीय संविधान में आज़ादी के पूर्व से देखी जा सकती हैं, उस समय से जब ब्रिटिश संसद ने भारत सरकार अधिनियम, 1935 को अधिनियमित किया था। इस अधिनियम में कई संघीय विशेषताओं का प्रावधान किया गया था जैसे कि संघीय प्रणाली वाली सरकारों की स्थापना आदि। भारत की भौगौलिक और क्षेत्रीय विविधताओं को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान के रचनाकारों ने ब्रिटिश संसदीय प्रणाली के साथ संघीय मॉडल के समागम का चयन किया। संसदीय शासन विधायी सर्वोच्चता के केन्द्रीकरण का सूचक है तथा इसके विपरीत संघीय संरचना और संसदीय शासन के समावेश से रचित हुई संघीय प्रणाली, जिसे संवैधानिक विशेषज्ञ अतिआवश्यक मानते हैं, संघीय प्रणाली राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण को दर्शाती है। संघीय प्रणाली समाज के सभी वर्गों के हितों को समायोजित करते हुए तथा केन्द्रीय और केन्द्रापसारक बलों को सुलझाते हुए सभी क्षेत्रों की अपेक्षाओं को पूरा करने वाली प्रणाली है।

संविधान सभा की बहस संघवाद पर दो तर्कों को दर्शाती है। 13 दिसंबर 1946 को जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रस्तुत किए गए उद्देश्य संकल्प को स्वायत्त इकाइयों के साथ एक संघ की कल्पना की उद्घोषणा कह सकते हैं।[1] आसन्न विभाजन के संदर्भ में, केंद्रीय संविधान समिति ने अपनी दूसरी बैठक में एक मजबूत केंद्र[2] के साथ संघीय ढांचे की सिफारिश की। साथ ही संविधान का प्रारूप प्रस्तुत करते हुए, डॉ बी. आर. अम्बेडकर ने बुनियादी मामलों में एकरूपता सुनिश्चित करते हुये महासंघ और एकता में सामंजस्य स्थापित करने की आवश्यकता पर बल दिया। इस प्रकार, संविधान सभा में मुख्यतः दृष्टिकोण यह रहा कि देश में मजबूत केंद्र के साथ एक संघीय ढांचे को अपनाया जाए। हालाँकि, कुछ सदस्य थे जैसे ब्रजेश्वर प्रसाद और के.एम. पन्निकर जिन्होंने एकात्मक राज्य का पक्ष लिया।[3] पन्निकर ने कहा कि एक संघ के परिणामस्वरूप प्रांतों के बीच आर्थिक असमानता होगी और सभी मोर्चों पर राष्ट्र कमजोर पड़ेगा।[4] दूसरी तरफ, लोकनाथ मिश्रा, महबूब अली बेग, मोहम्मद इस्माइल साहब और बी.एम. गुप्ते जैसे सदस्य थे, जिन्होंने मजबूत संघ–राज्य इकाइयों के साथ–साथ संघ इकाई 'मॉडल' का पक्ष लिया, जैसा कि उद्देश्य संकल्प में परिकल्पित है।[5] गुप्ते ने केंद्र पर संघ की इकाइयों की आर्थिक निर्भरता के खिलाफ बात की।[6] संघवाद अनेकता में एकता के सिद्धांत पर आधारित है, इसका मतलब विविधता की पुष्टि करते हुए एकता का निर्माण करना है। हालाँकि, दीनदयाल उपाध्याय जैसे कुछ विचारकों और नेताओं ने एक राष्ट्र, एक संस्कृति और एक राष्ट्रीयता की विचारधारा को प्रतिपादित किया। उपाध्याय ने राज्यों के भाषाई पुनर्गठन का विरोध किया। उन्होंने कहा, "आज भी हमारी संस्कृति पर नए हमले किए जाते हैं। भाषा आधारित राज्य सीमांकन केवल एक नमूना मात्र है। राष्ट्र को विकृत करने के लिए अंग्रेजों और कम्युनिस्टों की एक साजिश है ... यह कहना कि हर राज्य की एक अलग भाषा और संस्कृति है, एक वैचारिक भूल के समान ही है। ऐसे द्वेष के प्रसार की वास्तव में आवश्यकता

नहीं है। इसलिए, यह हमारी विचारधारा है कि यह एक राष्ट्र, एक संस्कृति और एक राष्ट्रीयता है"।[7]

भारतीय संविधान के अनुच्छेद एक में भारत को "राज्यों का संघ" परिभाषित किया गया है। इस परिभाषा की व्याख्या डॉ अम्बेडकर ने इस प्रकार की– राज्य, संघ का अभिभाज्य हिस्सा है। भारतीय संविधान में 'संघीय' शब्द का उल्लेख कहीं भी नहीं किया गया है, लेकिन फिर भी इसका प्रयोग विधानसभा की बहस में अक्सर किया जाता था। इसका कारण यह था कि, विभिन्न ऐतिहासिक कारणों से संविधान के रचयिता एक सशक्त केन्द्र चाहते थे, इसलिए के. सी व्हीयर ने भारत और कनाडा को 'अर्द्ध संघीयता' के रूप में वर्णित किया, लेकिन एक दिलचस्प अन्तर यह बताया कि कनाडाई संविधान अर्द्ध संघीय था लेकिन 1960–1970 के दशक में कनाडा अपने संविधान से अधिक संघीय हो गया है, जबकि भारतीय संविधान, अभ्यास और संवैधानिक तरीके से 'अर्द्ध संघीय' हैं।[8]

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के एक पक्षीय प्रभुत्व में भारत ने केंद्रीकृत संघ के रूप में शुरुआत की लेकिन 1989 से भारतीय राजनीतिक व्यवस्था धीरे–धीरे बड़े संघीयकरण की ओर अग्रसर है। डगलस वर्नी ने यह तर्क तक दिया है कि भारतीय दलीय प्रणाली के परिवर्तित स्वरूप तथा क्षेत्रीय बहुपक्षपात ने भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को अर्द्ध–संघ से अर्द्ध महासंघ के लिए प्रोत्साहित किया।[9] बड़े संघीकरण के कारण हैं–सामाजिक संगठनात्मकता, पहचान की राजनीति में वृद्धि, राष्ट्रीय पार्टियों में अपने बल पर बहुमत हासिल करने में गिरावट, क्षेत्रीय–राज्य दलों का उदय, गठबंधन राजनीति का आगमन, राज्य स्वायत्तता को न्यायिक का साथ, उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण (एलजीपी)। इन सभी कारणों की वजह से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को वैश्विक अर्थव्यवस्था के साथ जोड़ने का दबाव बना और इसके उपोत्पाद प्रभाव ने देश में जमीनी स्तर पर सत्ता को विकेंद्रीकृत करने का दबाव पैदा किया। सिंह और सक्सेना गहन अध्ययन के बाद अपनी समीक्षा में यह मानते हैं कि, भारत में संघवाद ऐतिहासिक रूप से बढ़ा है और अब यह अपनी सफलता की ओर अग्रसर है।

इसका ऐतिहासिक चरण ब्रिटिश साम्राज्य संबंधी राजस्व से, विधि और व्यवस्था प्रतिरूप से, योजनाबद्ध विकास से, सहकारी संघवाद रूप से तथा सौदेकारी रूप मार्ग से होते हुए संयोगपूर्ण रूप तक पहुंचा है।[10]

आजादी के बाद, भारत ने भाषा के आधार पर राज्य के निर्माण हेतु कई कोनों से आई मांगों को देखा है। इन मांगों को देखते हुए और क्षेत्रीय हितों का ध्यान रखते हुए केंद्र सरकार ने बहुभाषी राज्य बनाए जाने पर सहमति जताई है। भारतीय सरकार ने प्रथम राज्य पुनर्गठन आयोग की रिपोर्ट के आधार पर जिसमें नए राज्यों की मांग को लेकर गहन अध्ययन किया गया। नए राज्य के लिए सीमाओं को पुनर्निर्मित किया है। इस संबंध में भारतीय संविधान के अनुच्छेद 3 में भारतीय संसद को राज्यों को एकत्रित करने के लिए एक तरफा कानूनी शक्ति दी है जो कि संवैधानिक संशोधन से अलग है। सामान्यतया एक संघीय रूप में देखा गया है कि संघ के ऊपर यह दायित्व है कि वह राज्यों से परामर्श ले, और परामर्श का अर्थ सहमति नहीं होता। हालांकि यह कम या ज्यादा परन्तु सर्वसम्मति का मुद्दा है, लेकिन जब तेलंगाना को भारत का 29वां राज्य घोषित किया गया तब यह विवादास्पद मुद्दा बन गया क्योंकि मूल राज्य आंध्र प्रदेश इस पक्ष में नहीं था।[11]

संघीय योजना

संघीय संविधान की प्रमुख विशेषता है विधायी शक्तियों का संघ और राज्यों के मध्य वितरण। शक्तियों का वितरण और संघीय योजना प्रणाली भारतीय संविधान की 7वीं अनुसूची के तहत अंकित है। भारतीय संविधान ने संसदीय संघीय सरकार की स्थापना की है। संघीय संसद के दो सदन हैं, राज्यों की परिषद–राज्य सभा और आम लोगों का सदन–लोक सभा। संघीय राज्य के अंतर्गत कुछ राज्यों में द्विसदनीय विधानमंडल (विधानसभा/विधान परिषद्) है, लेकिन कुछ राज्यों में एकल विधायिका यानी कि विधानसभा है।

भारत के राष्ट्रपति राज्य के संवैधानिक प्रमुख हैं। केंद्र सरकार राज्यपाल को प्रांतीय राज्य के संवैधानिक प्रमुख के रूप में नियुक्त करती है। राष्ट्रपति और राज्यपाल दोनों ही नाम मात्र के प्रमुख हैं जो संवैधानिक मापदंडों की रक्षा करते हैं। प्रधानमंत्री और राज्यों के मुख्यमंत्री सरकार के कार्यकारी प्रमुख होते हैं।

राष्ट्र की एकता बनाए रखने के लिए भारतीय संविधान ने सभी बुनियादी मामलों में समानता का प्रावधान किया है। संविधान पूरे राष्ट्र के लिए एकल नागरिकता प्रदान करता है। मौलिक, नागरिक और आपराधिक कानूनों में एकरूपता के लिए एकल न्यायपालिका है। न्यायपालिका भारतीय संविधान की संरक्षक होने के साथ–साथ राज्यों के बीच संतुलन बनाए रखने की भूमिका भी निभाती है। संविधान ने न्यायपालिका को संघ और राज्यों की विधायिका कार्रवाई तथा कार्यकारी कार्रवाई की समीक्षा करने के लिए सशक्त किया है। भारतीय संविधान राज्यों में एकसमान रूप से अखिल भारतीय सेवा, (जिसमें आईएएस, आईपीएस, आईएफएस शामिल हैं) की व्यवस्था करती है। इनमें यूपीएससी के द्वारा भर्ती की जाती है और उम्मीदवारों को राज्यों के मध्य आवंटित किया जाता है। चयनित उम्मीदवार कुछ समय के लिए ही केंद्र सरकार के लिए काम करते हैं।

संघ और राज्यों के बीच मामलों में समन्वय और समाधान सुनिश्चित करने के लिए भारतीय संविधान ने अनुच्छेद 262 के तहत राष्ट्रपति को अधिकार दिया है कि, वह प्रधानमंत्री की अध्यक्षता और मुख्यमंत्रियों को सदस्यों के रूप में शामिल करते हुए अंतरराज्यीय परिषद की स्थापना कर सकते

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के एक पक्षीय प्रभुत्व में भारत ने केंद्रीकृत संघ के रूप में शुरुआत की लेकिन 1989 से भारतीय राजनीतिक व्यवस्था धीरे-धीरे बड़े संघीयकरण की ओर अग्रसर है

हैं। 1990 में तत्कालीन प्रधानमंत्री वी.पी. सिंह ने सरकारिया आयोग की सिफारिशों पर अंतरराज्यीय परिषद का गठन किया था। परिषद ने जनहित की नीतियों पर चर्चा करने के लिए राज्यों को एक मंच प्रदान किया था।

इसी तरह 1952 में राष्ट्रीय विकास परिषद की स्थापना केंद्रीय मंत्रिमंडल के प्रस्ताव पर की गई। यह परिषद योजना और नीति के क्षेत्र में उच्चतम विचारात्मक निकाय है। प्रधानमंत्री इसकी अध्यक्षता करते हैं। यह परिषद आर्थिक नीतियों के मुख्य पहलुओं पर समीक्षा करती है तथा राष्ट्रीय योजनाओं को लागू करने के उपायों की सिफारिश करती है।

संविधान में शक्ति साझा करने के असममित प्रावधानः

भारतीय संदर्भ में, संघवाद भारतीय विविधता को समायोजित करता है और राष्ट्र में मौजूद कई विभाज्य सामाजिक वर्गीकरण के अनुकूल है। संविधान के क्षेत्र को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान, राज्यों की बाह्य सीमा को बांटता है। इस अभ्यास को असममित संघवाद कहते हैं। तुलनात्मक राजनीति सिद्धांत में[12] रोनाल्ड वॉट्स राजनीतिक असममितता और संवैधानिक असममितता के बीच एक रोचक अंतर बताते हुए कहते हैं कि भौगोलिक और जनसंख्या के आधार पर राजनीतिक असममितता प्रत्येक संघ में मौजूद हैं। जबकि संवैधानिक असममिता संविधान द्वारा विभिन्न क्षेत्रीय इकाइयों में विधायी और कार्यकारी शक्तियों की नियुक्तियों में अंतर को कहते हैं। वह भारत को दोनों ही प्रकार की विषमता के उदाहरण के रूप में वर्गीकृत करते हैं।[13]

राजनीतिक असमानता का उदाहरण राज्य सभा को मानते है, जिसे राज्यों की परिषद कहा जाता है। राज्य सभा एक सतत निकाय है जिसे भंग नहीं किया जा सकता। भारतीय संविधान की चौथी अनुसूची राज्य सभा में राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों की सीटों के आवंटन के बारे में बताती हैं। सीटों का आरक्षण राज्य की जनसंख्या के आधार पर किया जाता है राज्यों के पुनर्गठन से और नए राज्यों के बनने के

भारतीय संदर्भ में, संघवाद भारतीय विविधता को समायोजित करता है और राष्ट्र में मौजूद कई विभाज्य सामाजिक वर्गीकरण के अनुकूल है। संविधान के क्षेत्र को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान, राज्यों की बाह्य सीमा को बांटता है

परिणामस्वरूप 1952 से राज्य सभा में राज्यों और केंद्र प्रशासित राज्यों की सीटों की संख्या में समय–समय पर बदलाव हुए हैं। अर्थात भारत में, संयुक्त राज्य अमरीका जैसे औपचारिक समानता की तरह राज्यसभा में राज्यों का प्रतिनिधित्व नहीं किया जाता। भारत में राज्यों का प्रतिनिधित्व उनकी जनसंख्या शक्ति के आधार पर होता है, इसे 'भारिता आनुपातिक प्रतिनिधित्व' कहते हैं। उत्तर प्रदेश 31 सीटों के साथ राज्य सभा में प्रतिनिधित्व करता है जबकि छोटे राज्य जैसे कि मेघालय, मिजोरम, मणिपुर, पांडिचेरी और गोवा राज्य सभा में एक–एक सीट का प्रतिनिधित्व करते हैं।[14] संवैधानिक असममितता निम्न राज्यों महाराष्ट्र, गुजरात, असम, आंध्र प्रदेश, सिक्किम, मणिपुर और अरुणांचल प्रदेश के आदिवासी क्षेत्रों का प्रशासन और अंतरराज्यीय क्षेत्रीय असमानताओं के लिए किए गए कानून और व्यवस्था के विशिष्ट प्रावधानों में देखी जा सकती है। उदाहरण के तौर पर अनुच्छेद 371, महाराष्ट्र या गुजरात के राज्यपाल को कुछ पिछड़े क्षेत्रों के विकास के लिए अलग विकास मंडल की स्थापना करना, तकनीकी शिक्षा, व्यावसायिक प्रशिक्षण और रोजगार के अवसर प्रदान करने की विशेष जिम्मेदारी का दायित्व देता है।

ऐसे ही, अनुच्छेद 371ए नागालैंड राज्य के लिए विशेष प्रावधान प्रदान करता है। भारतीय संसद ने 13वें संशोधन अधिनियम, 1962 को पारित किया और 1963 में अनुच्छेद 371ए को इसमें जोड़ा जिसके परिणामस्वरूप नागालैंड राज्य का गठन हुआ। इस प्रावधान को केंद्र और नागा पीपल कंवेशन के बीच 16 अंक समझौते पर हस्ताक्षर किए जाने के बाद शामिल किया गया। 371ए के अनुसार यदि भारतीय संसद नागा या नागा परंपरागत कानून और प्रक्रिया के धार्मिक या सामाजिक प्रथाओं से संबंधित या नागा परंपरागत कानून या स्वामित्व और भूमि और उसके संसाधनों के हस्तांतरण के लिए किसी भी बिल को पास करती है तो राज्य विधायिका की सहमति अनिवार्य है। यह अनुच्छेद नागालैंड के राज्यपाल को तुएनसांग जिले में कानून व्यवस्था में होने वाली आंतरिक गड़बड़ी के तहत विशेष जिम्मेदारी भी प्रदान करता है।

अनुच्छेद 371 बी और सी भारत के राष्ट्रपति को असम और मणिपुर राज्यों में विधानसभा की एक समिति की स्थापना करने का विशेष अधिकार दिया है। इस समिति के सदस्य जनजाति/पहाड़ी इलाकों के चुने गए सदस्य होते है, जिनका काम समुदाय कल्याण की देखभाल है। इसके अलावा अनुच्छेद 371डी और ई भारत के राष्ट्रपति को बराबर अवसर और सुविधाएं देने का आदेश करता है। यह आदेश आंध्र प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों के लोगों के सार्वजनिक रोजगार और शिक्षा के लिए राज्य में केंद्रीय विश्व विद्यालय की स्थापना के लिए लागू किया गया है। अनुच्छेद 371 एफ और आई यह प्रत्याभूत करता है कि सिक्किम और गोवा की विधानसभा में 30 से कम सदस्य नहीं होंगे। संबंधित अनुच्छेद राज्यों के राज्यपाल को राज्य में शांति और विभिन्न वर्गों के लोगों के सामाजिक और आर्थिक उन्नति के लिए विशेष जिम्मेदारी देता हैं। अनुच्छेद 371 एच अरुणांचल प्रदेश के राज्यपाल को राज्य के कानून व्यवस्था की विशेष जिम्मेदारी देता है, और राज्यपाल को मंत्रियों की परिषद से परामर्श करने के बाद 'व्यक्तिगत निर्णय' लेने का अधिकार देता है।

सभी अनुच्छेदों में सबसे महत्वपूर्ण है अनुच्छेद 370 भारतीय संविधान का अनुच्छेद 370 जम्मू–कश्मीर राज्य को स्वायत्त दर्जा देता है। इस अनुच्छेद को भारतीय संविधान के अंतर्गत सबसे बड़ी असममिता की श्रेणी में रखा जाता है।

यह अनुच्छेद जम्मू–कश्मीर को ''अस्थाई, परिवर्ती और विशेष प्रावधान'' प्रदान करता है। अनुच्छेद 370 जम्मू–कश्मीर के लोगों को अपनी पहचान और सुरक्षित भविष्य के लिए स्वशासन का दायरा प्रदान करता है। स्मरण करे भारत में एकीकरण के समय जम्मू–कश्मीर रियासत के शासक महाराजा हरि सिंह ने भारत के साथ 'विलय के दस्तावेज' पर हस्ताक्षर किए थे। वह दस्तावेज जम्मू कश्मीर को अलग संविधान विशेष प्रावधान के साथ देता है। भारत के साथ जम्मू कश्मीर की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि संसद का कोई भी अधिनियम जम्मू कश्मीर पर सीधे लागू नहीं होता। किसी भी अधिनियम को लागू करने के लिए राज्य विधानसभा का समर्थन जरूरी है।

इसके अलावा संवैधानिक विषमता का एक उदाहरण है उत्तरपूर्वी राज्यों को मिला हुआ खास दर्जा जो कि संविधान की पांचवी और छठी अनुसूची में अंकित है। यह खास दर्जा इन राज्यों को इनकी ऐतिहासिक विशिष्टता के कारण मिला है। पांचवीं अनुसूची वर्तमान राज्यों के अंतर्गत कुछ क्षेत्रों पर विशेष कारवाई का आवंटन करती है। राज्य के राज्यपाल, राज्य के मंत्रिमंडल की सहायता से यह ऐलान कर सकते हैं कि केंद्रीय संसद या राज्य का कोई भी कानून अनुसूचित क्षेत्र में पूछताछ के समय लागू नहीं होगा। इसमें बड़ी विधायी शक्ति है जो कि संसद या राज्य विधायिका के कार्यों को बदलने या रद्द करने में सक्षम है। इसके अलावा अगर राष्ट्रपति अपना मत दें तो संबंधित क्षेत्र के लिए जनजाति सलाहकार परिषद की स्थापना भी कर सकते हैं। छठी अनुसूची अधिक जटिल है और असम, मेघालय, त्रिपुरा और मिजोरम के जनजातीय क्षेत्रों से संबंधित है। वह जिला और क्षेत्रीय परिषदों द्वारा प्रशासित क्षेत्रों को स्वायत्त क्षेत्रों में परिवर्तित कर सकते हैं। वह अपने जिले या क्षेत्र के लिए प्रासंगिक विषयों पर कानून बना सकते हैं और ग्राम अदालत का गठन भी कर सकते हैं। हालांकि यह दोनों ही अनुसूचियाँ एक साथ संसद के एक साधारण विधान से संशोधित की जा सकती हैं। उपराज्य स्वायत्तता की मांगों को पूरा करने के लिए संविधान में कई प्रावधान है। ''यह कहता है कि संघीय शासन बिना महासंघ में उथलपुथल और अपगमन की धमकी का दबाव बनाए संघटनात्मक राजनीति की सेवा करे''।[15]

संघ और राज्यों के बीच राज्यपाल की भूमिका को लेकर भी विवाद है। राज्यपाल दोहरी भूमिका निभाते हैं। पहले वह प्रांतीय राज्य के संवैधानिक प्रमुख हैं, जहाँ वह संविधान के अभिभावक के रूप में कार्य करते हैं

भारतीय संविधान में, वित्तीय असममिता भी है जिसकी चर्चा बाद में होगी।

संवैधानिक असममितता का एक और उदाहरण :– भारतीय संघ में एक विशेष इकाई है जिसे केंद्र शासित प्रदेश (यू.टी.) कहते हैं। अभी भारत में सात यू.टी. हैं, जिनका गठन केंद्र सरकार द्व ारा समय–समय पर किया गया है। केंद्र शासित प्रदेश भौगोलिक दृष्टि से एक राज्य के रूप में कार्य करने के लिए छोटे और अविभाज्य हैं। केंद्र सरकार, केंद्र शासित प्रदेशों में उपराज्यपाल को प्रशासनिक प्रमुख के रूप् में नियुक्त करती है। पुडुचेरी और दिल्ली दूसरे केंद्र शासित राज्यों से अलग है। दोनों में एक सदनी विधायिका है। भारतीय संसद ने क्रमशः संविधान (चौदहवां संशोधन) अधिनियम 1962 और संविधान (उनहत्तरवें संशोधन) अधिनियम 1991 में पुडुचेरी और दिल्ली में अलग विधायी निकाय बनाने के लिए पारित किए। दोनों राज्यों के उपराज्यपाल औपचारिकता पूर्वक समस्त प्रबंधन कार्य करते हैं। दिल्ली और पुडुचेरी में भूमि, बिजली, पुलिस, कानून व्यवस्था का नियंत्रण संघ के पास है। दिल्ली और पुडुचेरी का यह अनूठा दर्जा केंद्र और दोनों राज्यों की सरकार के बीच विवाद का मुख्य विषय है।[16]

प्रशासनिक संबंधः–

केंद्र सरकार और राज्य सरकार के कार्यकारी नियंत्रण विधायी अधिराज्य के साथ यह टर्मिनस है। अनुच्छेद 256 यह निर्धारित करता है कि राज्य अपनी कार्यकारी शक्ति का प्रयोग संसद द्वारा बनाए गए कानून की रक्षा का अनुपालन करते हुए करेगा। इसके अतिरिक्त संघ की कार्यकारी शक्ति राज्य को ऐसी दिशाओं को देने के लिए विस्तारित होगी जैसे कि भारत सरकार को उस उद्देश्य के लिए जरूरी है। विवाद का एक महत्वपूर्ण विषय संविधान के अनुच्छेद 253 के तहत अंतरराष्ट्रीय संधि या सम्मेलनों पर हस्ताक्षर करने के लिए केंद्र की कार्यकारी से संबंधित है जो कि कार्यकारी शक्ति से संबंधित है, जिसके लिए संसदीय कानून की आवश्यकता है। वैश्वीकरण के संदर्भ में यह प्रावधान विवादास्पद हो गया, विशेष रूप से जब भारत ने 1995 में विश्व व्यापार संधि पर हस्ताक्षर किए, इसमें संघीय राज्यों पर उन क्षेत्रों का दायित्व शामिल किया गया जो कि राज्यों के अधिकार में थे, जैसे कृषि। इस मुद्दे पर पंजाब, राजस्थान, ओडीशा और तमिलनाडु राज्यों ने सुप्रीम कोर्ट में याचिका दायर की, कि उनसे इस मुद्दे पर परामर्श नहीं किया गया था। केंद्र सरकार ने इन राज्यों को आश्वासन दिया कि भविष्य में उनसे परामर्श किया जाएगा, और याचिका वापस लेने को कहा।

अनुच्छेद 253 भी, 2007 में संसद में भारत–अमेरिका असैनिक परमाणु समझौते पर हस्ताक्षर करने के समय विवादास्पद हो गया था, जब विपक्षी दलों विशेष रूप से वामपंथी दल ने कांग्रेस नेतृत्व वाली यूपीए सरकार से समर्थन वापल ले लिया था। बहु ब्रांड खुदरा कारोबार में एफडीआई की भूमिका पर हुई बहस में भी यह मुद्दा उजागर हुआ।[17]

संघ और राज्यों के बीच राज्यपाल की भूमिका को लेकर भी विवाद है। राज्यपाल दोहरी भूमिका निभाते हैं। पहले वह प्रांतीय राज्य के संवैधानिक प्रमुख हैं, जहाँ वह संविधान के अभिभावक के रूप् में कार्य करते हैं इस बात की पुष्टि करने के लिए राज्य मंत्रालय विधायिका को जवाब देने के लिए बाध्य हैं। दूसरा, वह भारतीय संविधान के बड़े प्रावधानों के अनुरूप राज्य के प्रशासन को सुरक्षित रखने के लिए राष्ट्रपति की

आंखों और कानों के रूप में राज्य में संघ के अभिकर्ता हैं। हालांकि, केंद्र में सत्ताधारी पार्टी द्वारा राज्यपाल की पक्षपातपूर्ण नियुक्ति के संबंध में केंद्र सरकार और राज्य सरकार के बीच राज्यपाल का कार्यालय एक विवाद का मुद्दा है। राज्यपाल का कार्यालय आमतौर पर निष्ठावान राजनीतक नौकरशाहों को सेवानिवृत्ति के बाद रोजगार देता है। इसके अलावा चिंता का विषय यह है कि केंद्र में नई सरकार बनने पर अनुच्छेद 156 (1) के तहत राष्ट्रपति के 'प्लेजर डॉक्ट्रिन' का बहाना लेकर बिना कारण बताए राज्यपालों का कार्यकाल खारिज कर देती है। सरकारिया आयोग को दिए गए ज्ञापनों में कुछ दलों और राज्य सरकारों ने राज्यपाल के कार्यकाल को समाप्त करने की मांग की और कहा संबंधित राज्य के मुख्यमंत्री से राज्यपाल की नियुक्ति से पहले परामर्श कर लेना चाहिए।

सरकारिया आयोग, राज्यपाल के कार्यकालों को खत्म करने के विचार के पक्ष में नही था, लेकिन उन्होंने उन लोगों को नियुक्त करने का सुझाव दिया जो संबंधित राज्य की राजनीति में कुछ समय से सक्रिय नही थे और यह भी कहा कि संबंधित राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श ले। इसके अलावा आयोग ने प्रस्ताव दिया कि राज्यपाल को आमतौर पर सदन में बहुमत के दावे की परीक्षा करनी चाहिए न कि राज भवन में। इस संदर्भ में अनुच्छेद 356 का जिक्र करना आवश्यक है। इस अनुच्छेद के तहत केंद्र सरकार की सलाह पर राज्यपाल अपने विवेक से सदन को भंग कर सकते हैं। इस प्रावधान का सबसे अधिक दुरुपयोग केंद्र में सत्ताधारी दलों ने राज्य में विपक्षी सत्ताधारी दलों को हटाने के लिए किया है, इसलिए कई दलों और राज्य सरकारों ने सरकारिया आयोग से अपने ज्ञापन में इस प्रावधान को रद्द करने या अधिक संवैधानिक प्रतिबंधों के साथ लाने का आग्रह किया।

सरकारिया आयोग ने इस तरह के कड़े सुझावों को स्वीकार नही किया लेकिन संघीय अधिकारियों को इस शक्ति का उपयोग सही तरीके से करने की सलाह दी। इसके अलावा राष्ट्रपति और केंद्रीय मंत्रिमंडल के इशारे पर राज्यपाल के नियम निर्दिष्ट किये, लेकिन यह तभी संभव हो पाया जब एक दलीय प्रभुत्व का बहुदलीय प्रणाली में रूपांतरण हुआ। अनुच्छेद 356 का दुरुपयोग रोकने का एक कारण था कि उच्चतम न्यायालय ने अपने आप को ऐसे किसी भी विषय से अलग करते हुए एस. आर बोम्मई बनाम यूनियन ऑफ इंडिया (1994) के ऐतिहासिक फैसले में भारत के उच्चतम न्यायालय ने अनुच्छेद 356 और इससे जुड़े विभिन्न प्रवाधानों पर विस्तार से चर्चा की थी। अनुच्छेद 356 के दुरुप्रयोग को इस फैसले के द्वारा रोक दिया गया तथा राष्ट्रपति शासन को न्यायिक समीक्षा के अधीन लाया गया इस पर बहुमत राज्यसभा के विपक्षी दलों ने दिया।[18]

संघ और राज्य के बीच वित्तीय सामर्थ्य

जहाँ तक वित्तीय संबंधों का संबंध है वित्तीय व्यवस्था से संबंधित दो मुख्य घटक हैं, पहला कराधान प्रमुखों का वितरण और दूसरा राजस्व के वितरण और केंद्र और राज्य के बीच संसाधनों को साझा करने वाला घटक है। संविधान की सातवीं अनुसूची में सूची एक और सूची दो में कराधान के अलग –अलग भेद है। केंद्रीय सूची में 13 कराधान शीर्ष हैं जैसे कि आयकर, कंपनी कर, सीमा शुल्क और उत्पाद शुल्क आदि। राज्य सूची में 19 कराधान शीर्ष हैं जैसे भूमि राजस्व, कृषि आय पर कर, बिक्री कर, मनोरंजन कर, मुद्रांक और पंजियन कर आदि। हालांकि भारतीय संविधान में कराधान और राजस्व से संबंधित कानूनी प्रावधान के व्यावहारिक कार्य में कई कमियाँ हैं। राज्यों ने कराधान संरचना में असंतुलन और राजस्व साझा करने में अपर्याप्तता की ओर इशारा किया है। केंद्र सरकार की तुलना में राज्य सरकार का कर आधार अपेक्षाकृत छोटा है। इसके अलावा, राज्यों को सामाजिक आधारभूत संरचना और सामाजिक–आर्थिक विकास पर अधिक खर्च करने की जिम्मेदारी है। राज्य सरकार पर विशेष रूप से स्कूलों, अस्पतालों और कानून व्यवस्था को बनाए रखने और सार्वजनिक संस्थानों के विकास को लेकर अधिक कार्य है तथा मौजूदा कराधान संरचना में भी बहुत अंतर है, राज्य वित्तीय सहायता और अन्य वित्तीय संसाधनों के लिए केंद्र सरकार पर निर्भर होने के लिए मजबूर है।

1990 के दशक से, आर्थिक नीतियों और केंद्र–राज्य संबंधों में एक सकारात्मक बदलाव आया है क्योंकि आर्थिक उदारीकरण ने न केवल निजी क्षेत्र की स्वायत्तता में वृद्वि की साथ ही राज्य सरकारों को भी अधिक स्वायत्त बना दिया है। सिंह और सक्सेना का तर्क है कि ''संघीयकरण ने राजनीतिक और क्षेत्रीयवाद की प्रवृत्ति को बढ़ा दिया है। जबकि एक ओर विकेन्द्रीकृत योजना अभी भी मौजूद है, अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक निवेश काफी कम हो गया है। इसने आर्थिक और अधिक विकसित राज्यों के लिए राष्ट्रीय और बहुराष्ट्रीय दोनों निजी क्षेत्र के सहयोग से विकास की अपनी रणनीतियों को निर्धारित करने के अवसरों को खोज रहे हैं। ''रूडोल्फ'' एक नई संघीय बाजार अर्थव्यवस्था को देखते हैं। वहीं दूसरी ओर सिंह और सक्सेना कहते हैं पिछड़े राज्यों को अपने संसाधनों की कमी और संघीय सरकार के हिस्से में सार्वजनिक निवेश की कमी के कारण नुकसान पहुंचा है। पिछड़े राज्यों और क्षेत्रों में निवेश करने के लिए निजी पूंजीधारक ने रुचि नहीं दिखाई। 1990 के दशक के आरंभ से जब उदारीकरण और वैश्वीकरण में तेजी आई, राज्यों के बीच क्षेत्रीय आर्थिक असमानताओं में भारी वृद्धि हुई है।[19] 1991 में नव उदारवाद ने आर्थिक सुधारों की शुरुआत के साथ कई कर शोधन भी लागू किए गए हैं। सबसे महत्वपूर्ण राज्य मूल्यवर्धित कर (एसवीएटी) द्वारा राज्यों के बिक्री कर का प्रतिस्थापन

1990 के दशक से, आर्थिक नीतियों और केंद्र-राज्य संबंधों में एक सकारात्मक बदलाव आया है क्योंकि आर्थिक उदारीकरण ने न केवल निजी क्षेत्र की स्वायत्तता में वृद्धि की साथ ही राज्य सरकारों को भी अधिक स्वायत्त बना दिया है

और कई केंद्रीय और राज्य करों को विलय करके माल और सेवा कर (जी.एस.टी) द्वारा प्रतिस्थापन किया गया है। मूल रूप से कांग्रेस की अगुवाई वाली यूपीए द्वारा प्रस्तावित और प्रस्तुत किया गया था, ये प्रस्ताव पद्रहवीं लोकसभा की अवधि खत्म होने के साथ ही विफल हो गया था। इसके बाद बीजेपी/एनडीए सरकार ने 2014 में 122 वें संवैधानिक संशोधन विधेयक को लागू करा लेकिन यह बिल अंततः 29 मार्च 2017 को संसद में पारित हुआ। हालांकि, अधिनियम 1 जुलाई 2017 को लागू हुआ। वस्तु और सेवाओं की आपूर्ति पर अप्रत्यक्ष कर के रूप में वस्तु एवं सेवा कर लगाया गया। इसके अलावा, संविधान, वित्तीय हस्तांतरण के लिए कुछ संस्थागत तंत्र प्रदान करता है। भारतीय संविधान के अनुछेद 280 के अनुसार भारत के राष्ट्रपति वित्त आयोग का गठन करते हैं जो कि एक संवैधानिक निकाय है। वित्त आयोग संघ और राज्यों के बीच राजस्व साझा करने के संस्थागत ढाँचे की देखरेख करता है। यह एक अर्ध न्यायिक विशेषज्ञ निकाय है जो राज्य सरकारों के बीच अधिक विश्वास और वैधता का लाभ उठता है। सरकारिया आयोग ने वित्त आयोग और योजना आयोग के बीच बेहतर समन्वय के लिए सिफारिश की है ताकि राज्यों को केंद्रीय सहायता के प्रवाह पर एक स्पष्ट टिकाऊ दृष्टिकोण अपनाया ही जाए। इससे विपरीत 2014 में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की अध्यक्षता वाली केंद्र सरकार ने योजना आयोग को समाप्त कर दिया यह था और पॉलिसी थिंक टैंक के रूप में नीति आयोग (भारत के लिए राष्ट्रीय संस्थान) के साथ प्रतिस्थापित किया था। इसमें एक राजनीतिक सेवक होता है जो मुख्य कार्यकारी अधिकारी होता है, दो पूर्णकालिक विशेषज्ञ, एक अर्थशास्त्री, अन्य रक्षा अनुसंधान और विकास विशेषज्ञ, छह केंद्रीय मंत्री जिसमें से तीन कार्यकारी और शेष विशेष आमंत्रित हैं, मुक्त बाजार अर्थशास्त्री अरविंद पानगड़िया प्रतिनिधि अध्यक्ष और प्रधानमंत्री मोदी जी अध्यक्ष के रूप में। नीति आयोग का कार्य प्रधानमंत्री और मुख्यमंत्रियों के लिए 'सहकारी संघवाद' को बढ़ावा देने के लिए 'राष्ट्रीय कार्यक्रम' बनाना है। इसके अलावा इसके संचालन परिषद में केंद्र शासित प्रदेशों के मुख्यमंत्री/उपराज्यपाल सम्मिलित होते हैं, प्रधानमंत्री अध्यक्ष के रूप में शामिल होते हैं। इसके अलावा, राज्यों के संघीय राजकोषीय स्थानांतरण का एक बड़ा तरीका केंद्रीय प्रायोजित योजना के तहत पाँच वर्षीय योजना के माध्यम से कई केंद्रीय मंत्रियों ने तीन माध्यमों ने शुरू किया हैः— केंद्रीय, राज्य और समवर्ती।[20]

इसके अलावा, लंबवत और क्षैतिज दोनों स्तरों पर अंतर सरकारी संबंधों के बढ़ते महत्व में इस संघीयकरण का एक उछाल देखा जा सकता है। निजीकरण और वैश्वीकरण के युग में, इस तरह के हस्तक्षेप पहले की अपेक्षा अधिक हो गए हैं

निष्कर्ष

निष्कर्ष निकालने के लिए, मैं तर्क दूंगी कि भारतीय संघवाद एक विकासवादी प्रक्रिया रहा है। इसे संवैधानिक संशोधन, सांविधिक परिवर्तन और कार्यकारी शक्ति पर पुनर्विचार के माध्यम से हर समय फिर से लिखा गया है। (आरडी —आरएस)। एक संघीय संघ के रूप में नियुक्त भारतीय संघवाद अपनी राजनीति के अधिक संघीयकरण की दिशा में आगे बढ़ रहा है। इस संघीयकरण के पीछे कारणों पर पहले ही चर्चा की जा चुकी है। हालांकि, संघीयकरण के प्रभाव चुनाव आयोग, राष्ट्रपति, राज्यपाल इत्यादि जैसे संवैधानिक कार्यकर्ताओं के कामकाज में देखे जा सकते हैं। जिन्होंने अपने कामकाज में अधिक विवेकाधीन व्यवहार्यता हासिल की है। एक और प्रभाव संघीय संरचना के तीसरे स्तर की शुरुआत में देखा जा सकता है जिसे 73 वें और 74 वें संवैधानिक संशोधन कृत्यों द्वारा संवैधानिक कदम मिला। इसके अलावा, अर्थव्यवस्था के क्षेत्रों में अर्थ न्यायिक प्रकृति के साथ अधिक निर्भर आश्रित निकायों की स्थापना में वृद्धि देखी जा सकती है।

इसके अलावा, लंबवत और क्षैतिज दोनों स्तरों पर अंतर सरकारी संबंधों के बढ़ते महत्व में इस संघीयकरण का एक उछाल देखा जा सकता है। निजीकरण और वैश्वीकरण के युग में, इस तरह के हस्तक्षेप पहले की अपेक्षा अधिक हो गए हैं तथा अब नए कर्ता हैं जो चित्र में आए हैं यानि बाजार और नागरिक समाज। आतंकवाद, महामारी, जलवायु परिवर्तन इत्यादि जैसी कई चुनौतियां हैं जिन्हें समेकित अंतर सरकारी कार्यवाही, विचार—विमर्श, नीति बनाने की आवश्यकता है। सरकार के एक आदेश से इसे हल नहीं किया जा सकता है। इसे सभी सरकारों, नागरिक समाज संस्थानों और बाजार बलों से जुड़े एक समेकित बहुपक्षीय प्रयास होना चाहिए। ■

संदर्भ संकेत

1 *संविधान सभा बहस, पुस्तक—2, खंड 7, 4 नवंबर 1948 से 8 जनवरी 1949, पृ. 36—7*
2 *संविधान सभा बहस, पुस्तक—2, खंड 7, 4 नवंबर 1948 से 8 जनवरी 1949, पृ. 372*
3 *संविधान सभा बहस, पुस्तक—2, खंड 7, 4 नवंबर 1948 से 8 जनवरी 1949, पृ. 241*
4 *संविधान सभा बहस, पुस्तक—2, खंड 7, 4 नवंबर 1948 से 8 जनवरी 1949, पृ. 330*
5 *संविधान सभा बहस, पुस्तक—2, खंड 7, 4 नवंबर 1948 से 8 जनवरी 1949, पृ. 36—7*
6 *संविधान सभा बहस, पुस्तक—5, खंड 22, 6 अक्टूबर 1949 से 24 जनवरी 1950, पृ. 613*
7 *दीनदयाल उपाध्याय, भारतवर्ष की राष्ट्रीयता और उसका आधार, पांचजन्य, 7.19, 1953, पृ.8*
8 *के.सी. व्हीयर, संघीय सरकार, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क,*

1964, चौथा संस्करण।

9 *डगलस वेर्नी, 'फ्रॉम क्वासी–फेडरेशन टु क्वासी कॉन्फीडेरेसीः दि ट्रांसफार्मेशन ऑफ इंडियाज पार्टी सिस्टम, ''पब्लियस, वॉल्यूम 33, संख्या 4, फाल 2003, पृ. 171. लॉरेंज सैज को भी देखें, एक केंद्र के बिना संघवादः भारत की संघीय प्रणाली पर राजनीतिक और आर्थिक सुधार का प्रभाव, नई दिल्ली, 2002*

10 *एम.पी. सिंह और रेखा सक्सेना। भारतीय राजनीतिः संवैधानिक आधार और संस्थागत कार्य, नई दिल्ली : प्रेंटिस हॉल, 2011, दूसरा संस्करण, अध्याय 7।*

11 *रेखा सक्सेना ''भारतीय संघवाद में राज्य की समस्याएंः हरिहर भटटाचार्य और लॉयन कोएनिग (संस्करण) में क्षेत्रीय बहुलवाद के लिए एक मामला। भारत में वैश्वीकरण और शासनः समाज और संस्थान, लंदन और न्यूयार्क, रूटलेज, 2015 के लिए नई चुनौतियां।*

12 *इस पर एक दिलचस्प बहस है, देखें रेखा सक्सेना। ''क्या भारत असममित संघवाद का मामला है? आर्थिक और राजनीतिक साप्ताहिक, जनवरी 14, 2012।*

13 *रोनाल्ड एल वाट्स। संघीय प्रणालियों की तुलना। मॉन्ट्रियल और किंग्स्टनः अंतर सरकारी संबंध संस्थान, तीसरा संस्करण, पृष्ठ. 127।*

14 *रेखा सक्सेना ''राज्यसभा की भूमिकाः संघीय द्वितीय चैंबर?'', इंडियन जर्नल ऑफ फेडरल स्टडीज, 2007।*

15 *राजीव धवन और रेखा सक्सेना। ''गणराज्य भारत'', संघीय देशों पर एक वैश्विकवार्ताः संघीय देशों में विधान, कार्यकारी, और न्यायिक शासन, वॉल्यूम 3, काटी ली रॉय और चेरिल सांडर्स, क्यूबेक द्वारा संपादितः मैकगिल–क्वीन यूनिवर्सिटी प्रेस, 2006।*

16 *रेखा सक्सेना ''दिल्ली में बहुआयामी शासन'', भारत में राज्य राजनीति, सं. हिमांशु रॉय और एमपी सिंह, दिल्ली, प्राइमस, 2017 द्वारा।*

17 *रेखा सक्सेना, ट्रीटी मेकिंग पॉवरः ए केस फॉर फेडरलाइजेशन एंड पार्लियामेंटराइजेशन, इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, खंड 42, नं 1, जनवरी 6, 2007*

18 *एस.आर. बोम्मई एंड एंप, अदर्स, यूनियन ऑफ इंडिया, सुप्रीम कोर्ट केसेस, जजमेंट्स टुडे, 1994*

19 *एम.पी. सिंह और रेखा सक्सेना, अध्याय सात*

20 *विस्तृत विवरण के लिए देखें विलफ्राइड स्वेडेन और रेखा सक्सेना, रिथिंकिंग सेंट्रल प्लानिंगः ए फेडरल क्रिटीक ऑफ दि प्लानिंग कमीशन, इंडिया रिव्यू, 2017*

संविधान की एक तात्विक भूल

राष्ट्र की अवधारणा के मापदंड से यदि भारत वर्तमान संविधान का विचार करे तो हमें पता चलेगा कि उसमें संशोधन की आवश्यकता है। हमारा एक राष्ट्र है, हम एक जन हैं। इसलिए हमने भाषा, प्रांत, जाति, मजहब आदि के आधार पर मूलभूत अधिकारों में किसी भी भेदभाव को स्वीकार नहीं किया। हमने एक नागरिकता का सिद्धांत माना है। अलग–अलग प्रांत होने के बावजूद अमरीका की भांति यहां राज्य और संघ की अलग–अलग नागरिकता नहीं है। हम सब भारत के नागरिक हैं। इसी प्रकार हमने राज्यों को संघ से निकल जाने का अधिकार नहीं दिया है। इतना ही नही ंतो, इन राज्यों की सीमाएं और नाम क्या हों? यह निर्णय संसद ही कर सकती है। राज्यों के विधानमंडल नहीं। ये सब ठीक प्रावधान हैं। भारत की राष्ट्रीयता और परंपरा के अनुकूल हैं। किंतु इतना होने पर भी हमने अपने संविधान को संघात्मक अर्थात फेडरल बनाया है। अर्थात जो बात व्यवहार में रखी है, वह तत्वतः अमान्य कर दी है। फेडरेशन में इकाइयों की निजी सत्ता और प्रभुता होती है। वे एक समझौते के अनुसार (यहाँ पर संविधान वह समझौता है) अपने अधिकार केंद्र या संघ को सौंप देती हैं। हो सकता है कि ये इकाइयां अपने संपूर्ण अधिकार केंद्र को सौंप दें। और इस तरह संघ अधिक अधिकार संपन्न हो सकता है। किंतु उसके सब अधिकार उसे मिले हुए तथा सौंपे हुए रहते हैं, ऐसा कोई अधिकार नहीं, जो उसका अपना ही हो। इस विचार से संविधान भारत के प्रांत की सत्ता को मूलभूत मानता है और केंद्र को राज्यों का समूह मात्र। यह सत्य के विपरीत है। भारत की एकता और अखंडता की धारणा का विरोधी है। इसमें भारतमाता की जीवमान चैतन्यमयी कल्पना नहीं। संविधान के प्रथम अनुच्छेद के अनुसार "इंडिया अर्थात भारत राज्यों का एक संघ होगा।" अर्थात बिहारमाता, बंगमाता, पंजाबमाता, कन्नड़माता, तमिलमाता आदि माताओं को मिलाकर भारत माता बनेगी। यह हास्यास्पद कल्पना है। हमने प्रांतों की कल्पना भारतमाता के अंगों के रूप में की है, अलग–अलग माताओं के रूप में नहीं। अतः हमारा संविधान संघात्मक न होकर एकात्मक होना चाहिए।

–दीनदयाल उपाध्याय

साभारः दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वांड्मय,
खंड 12, पृ. 77

सुमित्रा महाजन

संसदीय जनतंत्र: संविधान और उसका कार्यान्वयन

जब हमारा देश स्वतंत्र हुआ तो गहन चिंतन, विचार-विमर्श के उपरांत हमने लोकतांत्रिक शासन पद्धति को अपनाया और संविधान की रचना करने के लिए संविधान सभा का गठन किया गया जिसके द्वारा एक उत्कृष्ट संविधान तैयार किया गया। 26 जनवरी 1950 को लागू हुए संविधान में निहित उच्च आदर्श राष्ट्र का मार्गदर्शन कर रहे हैं और हमारे संविधान ने विश्व के महान संविधानों में अपना स्थान बनाया है

आधुनिक भारत में सात दशकों से लोकतांत्रिक मूल्यों पर आधारित संसदीय प्रणाली एवं शासन व्यवस्था सुचारु एवं सफल रूप से कार्यशील है। हमारा गौरवपूर्ण लोकतंत्र राष्ट्र के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक सोच–विचार और दर्शन का प्रतिबिम्ब है। भारत में लोकतांत्रिक प्रणाली का आरंभ वैदिक काल से ही हो गया था। वैदिक काल से लेकर वैशाली के लिच्छवि गणराज्य तक प्रजातांत्रिक व्यवस्था हमारे देश की मूल चेतना में रही है। गणतंत्र शब्द का प्रयोग ऋग्वेद, अथर्ववेद और ब्राह्मण ग्रंथों में अनेक बार किया गया है।

जब हमारा देश स्वतंत्र हुआ तो गहन चिंतन, विचार–विमर्श के उपरांत हमने लोकतांत्रिक शासन पद्धति को अपनाया और संविधान की रचना करने के लिए संविधान सभा का गठन किया गया जिसके द्वारा एक उत्कृष्ट संविधान तैयार किया गया। 26 जनवरी 1950 को लागू हुए संविधान में निहित उच्च आदर्श राष्ट्र का मार्गदर्शन कर रहे हैं और हमारे संविधान ने विश्व के महान संविधानों में अपना स्थान बनाया है।

संविधान की उद्देशिका में उल्लिखित आदर्श और सिद्धांत हमारे संविधान की मूलभूत प्रकृति को निर्धारित करते हैं। संविधान की उद्देशिका ''हम भारत के लोग'' शब्दों से आरम्भ होती है। उद्देशिका यह घोषणा करती है कि हमने भारत को एक संप्रभु समाजवादी पंथनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने के लिए यह संविधान स्वयं को आत्मार्पित किया और यह राज्य को प्रत्येक नागरिक के साथ न्याय, स्वतंत्रता, समानता तथा आपसी संबंधों में भाईचारा बनाये रखने का सिद्धांत प्रतिपादित करता है।

हमारे संविधान निर्माताओं ने गहन चिंतन के पश्चात् नए गणराज्य के लिए शासन प्रणाली के रूप में संसदीय लोकतंत्र को चुना था क्योंकि संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका के दायित्वों का मूल्यांकन दैनिक और नियतकालिक दोनों आधारों पर होता है। दैनिक मूल्यांकन संसद सदस्यों द्वारा प्रश्नों, संकल्पों, अविश्वास प्रस्तावों, स्थगन प्रस्तावों और अभिभाषणों पर वाद–विवाद के माध्यम से किया जाता है। नियतकालिक मूल्यांकन मतदाताओं द्वारा चुनाव के समय किया जाता है।

भारत पूरे विश्व में सबसे बड़े एवं जीवंत लोकतांत्रिक देश के रूप में जाना जाता है क्योंकि हमारी संसदीय प्रणाली के केंद्र में जनता–जनार्दन है जिसने 16 आम चुनावों में अपने विवेक और बुद्धिमता से मताधिकार का प्रयोग कर सत्ता के सुचारु हस्तांतरण का मार्ग सुनिश्चित किया है और 8 बार सरकार बदली है। निस्संदेह, यह लोकतांत्रिक संविधान के सफलतापूर्ण कार्यान्वयन तथा लोकतांत्रिक राज्य व्यवस्था और जीवनशैली के प्रति हमारी प्रतिबद्धता दर्शाता है।

हमारे यहाँ उदार राज्य व्यवस्था है। व्यक्तिगत अधिकार और स्वतंत्रता जितनी महत्वपूर्ण है, उतना ही महत्वपूर्ण सामूहिक हित भी है। एक बहुसांस्कृतिक देश होने के बावजूद सबको साथ लेकर चलने की जो हमारी विचारधारा है, भारतीय परम्परा है, वह हमारी राजनैतिक व्यवस्था में स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित होती है। विश्व की शायद ही कोई संसद इतनी विविधता एवं विभिन्नता समेटे हुए है जितनी हमारी संसद। मैं मानती हूं कि प्रजातंत्र की सफलता के पीछे पूरी प्रजा की ऊर्जा, निष्ठा एवं मनोयोग होता है।

हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था में संसद को उच्चतम स्थान दिया गया है क्योंकि वह सर्वोच्च प्रातिनिधिक एवं विधायी निकाय है

तथा उसे कानून बनाने, कार्यपालिका का उत्तरदायित्व नियंत्रण, राष्ट्र के खर्चों पर नियंत्रण तथा संविधान में संशोधन करने की संवैधानिक शक्ति एवं अधिकार प्राप्त हैं। तथापि, विधायिका को भी संविधान के दायरे में ही रहकर कार्य करना होता है।

भारत के राष्ट्रपति, लोक सभा और राज्य सभा भारत की संसद के भाग हैं। संवैधानिक व्यवस्था के अंतर्गत विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका राज्य के तीन मुख्य अंग हैं। संविधान में इन अंगों की शक्तियों को स्पष्ट किया गया है, उनके अधिकार क्षेत्र का विभाजन, उनके उत्तरदायित्वों को निर्धारित और एक–दूसरे और जनता के साथ उनके संबंधों को विनियमित किया गया है। संसदीय संप्रभुता और न्यायिक समीक्षा के सिद्धांतों का सामंजस्य हमारे संविधान की अनूठी विशेषता है। विधायिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका सभी अपने संवैधानिक दायरे में रहते हुए अपने दायित्वों का सम्यक् निर्वहन करते हैं और एक–दूसरे की सीमाओं का यथोचित सम्मान करते हैं और भविष्य में भी करें, यही अपेक्षा है।

भारत की संसद का मुख्य कार्य विधान बनाना, प्रशासन की निगरानी करना, बजट पारित करना, जनता की समस्याओं का निवारण करना और राष्ट्रीय नीतियों पर विचार–विमर्श करना आदि हैं। संविधान के अंतर्गत, केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी है। संसद, अलग–अलग मंत्रालयों से संबंधित अनुदानों की मांगों पर चर्चा और मतदान करने के पश्चात् राष्ट्र के बजट को अनुमोदित करती है। लोक सभा के पास सरकार की किसी मांग को स्वीकार करने अथवा अस्वीकार करने या सरकार द्वारा मांगे गए किसी अनुदान की धनराशि को कम करने का भी अधिकार है। संसद के पास इस वित्तीय शक्ति से कार्यपालिका की जवाबदेही सुनिश्चित करने में सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त, संसद सदस्यों को उपलब्ध विभिन्न प्रक्रियात्मक साधनों जैसे प्रश्न काल, ध्यानाकर्षण प्रस्ताव, अविश्वास प्रस्ताव इत्यादि के माध्यम से सरकारी नीतियों का आकलन करने, उन्हें प्रभावित करने तथा लोक शिकायतों का निवारण करने हेतु मंत्रिमंडलीय जवाबदेही सुनिश्चित करने के पर्याप्त अवसर मिलते हैं।

हमारी संसद ने कई उल्लेखनीय विधानों (legislations) के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए हैं जैसे राजाओं के प्रिवी पर्स और विशेषाधिकारों की समाप्ति; भूमि सुधार अधिनियम; मतदान की आयु 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष करने; अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़े वर्गों के लिए अलग–अलग राष्ट्रीय आयोगों की स्थापना के प्रावधान; पंचायतों और स्थानीय निकायों की शक्तियों के हस्तांतरण एवं महिलाओं के लिए पंचायतों और शहरी तथा स्थानीय निकायों में कुल स्थानों के कम–से–कम एक तिहाई के आरक्षण हेतु महत्वपूर्ण प्रावधान किए गए हैं। ये सभी विधान सामाजिक परिवर्तन हेतु महत्वपूर्ण हैं और संसद ने विभिन्न उल्लेखनीय विधानों पर सर्वसम्मति बनाकर अपनी परिपक्वता और विवेक का परिचय देकर वास्तव में एक उदाहरण प्रस्तुत किया है।

हमारी संसद समय के साथ आने वाली विभिन्न आकस्मिकताओं से निपटने के लिए निरंतर नए उपाय कर रही है। अपनी प्रभावशीलता को बढ़ाने के लिए संसद ने कई पद्धतियों और प्रक्रियाओं को विकसित किया है। आधे घंटे की चर्चा, अल्पकालिक चर्चा; ध्यानाकर्षण प्रस्ताव, लोक सभा में नियम 377 और राज्य सभा में विशेष उल्लेख के तहत मामलों को उठाया जाना, कार्य मंत्रणा समिति, सरकारी आश्वासनों संबंधी समिति तथा सभा पटल पर रखे गए पत्रों संबंधी समिति पूर्ण रूप से भारतीय नवोन्मेष (Indian innovation) हैं। लोक सभा के अध्यक्षों ने भी समयानुरूप संविधान और संसद सदस्यों के अधिकारों और विशेषाधिकारों की रक्षा करने और लोकतंत्र के सुदृढ़ीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है।

अभी हाल ही में, 16वीं लोक सभा के 11वें सत्र से संसद में केन्द्रीय बजट प्रस्तुत करने की तिथि जो पहले 28 फरवरी थी, को अब 01 फरवरी कर दिया गया है। इसका मुख्य उद्देश्य एक वर्ष में एक ही विनियोग विधेयक पारित करना एवं संसद में लेखानुदान पारित कराने से बचना है ताकि बजट की स्वीकृति में लगने वाले समय के कारण विशेषकर वर्षाकाल में राज्य एवं संबंधित सरकारों द्वारा योजनाओं एवं कार्यों के कार्यान्वयन में किसी प्रकार का विलम्ब न हो। दूसरे महत्वपूर्ण घटनाक्रम में 49 वर्ष पुरानी परम्परा को समाप्त करते हुए रेल बजट को आम बजट में सम्मिलित किया गया।

1993 में विभागों से संबद्ध स्थायी समितियों का प्रारम्भ संसद के जवाबदेही तंत्र को सुदृढ़ बनाने की एक प्रमुख प्रक्रियात्मक पहल थी। इसके परिणामस्वरूप, सरकारी कार्यकलापों के समस्त पहलुओं की संसद की किसी एक अथवा अन्य समितियों द्वारा निगरानी की जाती है। समितियां व्यापक नीति–निर्माण और कार्यपालिका द्वारा दीर्घकालिक राष्ट्रीय दृष्टिकोण को प्राप्त करने के लिए आवश्यक जानकारी, निदेश और मार्गदर्शन भी उपलब्ध कराती हैं। समिति द्वारा की गई सिफारिशों पर मंत्रालय द्वारा की गई कार्यवाही की जानकारी संसद में प्रस्तुत की जाती है।

संसदीय लोकतंत्र में विपक्ष और मीडिया की भी बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती है। दोनों को किसी नीति के गुण–दोष को स्पष्ट करके एक सकारात्मक भूमिका निभानी होती है। उन्हें जनता को किसी नीति के प्रस्ताव में शामिल विभिन्न मुद्दों की जानकारी देने और उसके संबंध में जनता के विचार मुखर करने की दोहरी भूमिका निभानी होती है। यह एक सक्रिय और दोतरफा संवाद है, जो देश के लोकतांत्रिक ताने–बाने को पर्याप्त रूप से सुदृढ़ बनाने में योगदान देता है। सरकार के कार्यों पर विपक्ष की प्रखर एवं सख्त निगरानी होना ही स्वस्थ लोकतंत्र का लक्षण है। पर इन सबसे ऊपर जनहित एवं देशहित सर्वोपरि है। मत विभिन्न हो सकते हैं, परंतु राष्ट्र के रूप में हमारी चिंतन प्रक्रिया एवं व्यवहार एक होना चाहिए।

भारत के लोकतांत्रिक मूल्यों, सिद्धान्तों एवं आदर्शों का न केवल पूरे विश्व में उदाहरण दिया जाता है बल्कि ये संपूर्ण विश्व के लिए प्रेरणा का स्रोत भी है। दुनियाभर में लोग उत्सुकता से हमारी संसदीय कार्यवाही को देखते हैं एवं उस पर नज़र रखते हैं। सभा में व्यवधान पहुंचाने एवं अमर्यादित व्यवहार करने से हमारे जीवन्त लोकतंत्र की प्रतिष्ठा को आघात पहुंचता है। जबकि निरंतर चर्चा, संवाद और वाद–विवाद होने से और उसमें से निर्णय को पाने या निर्णय लेने से न केवल लोकतंत्र का सुदृढ़ीकरण होता

है बल्कि इसकी प्रतिष्ठा में और बढ़ोत्तरी होती है। लेकिन यह विमर्श, मतान्तर एवं असहमति स्वीकृत मर्यादाओं के अनुरूप और शालीनता की सीमाओं के भीतर ही होना चाहिए ताकि लोकतंत्र के प्रति जनता की आस्था अडिग रहे। हमे जनप्रतिनिधियों को आचरण एवं सद्व्यवहार के नए मानदंड स्थापित करना चाहिए। श्रीमद्भागवत गीता में एक श्लोक है जो अत्यन्त सामायिक एवं प्रासंगिक हैः–

''यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।''

(सज्जन अथवा श्रेष्ठ जन जो कार्य करते हैं, सामान्य जन उसी का अनुकरण करते हैं। जो मानदंड वे निर्धारित करते हैं, विश्व उन्हीं मानदंडों का अनुकरण करता है।)

हमे गर्व है कि हमारा लोकतंत्र एक सक्रिय, जीवंत, ऊर्जावान और सुदृढ़ लोकतंत्र है। विभिन्न राजनीतिक दल पक्ष–विपक्ष सभा में अपने विचारों को पूरी चेतना, शक्ति एवं दृढ़ता के साथ रखते हैं, और जनहित के मुद्दों पर अपने राजनैतिक मत, सिद्धांत एवं हितों के अनुरूप अपनी बात कहने और मनवाने का भरपूर प्रयास करते हैं। लेकिन जब भी राष्ट्रहित अथवा जनहित का मुद्दा आता है तो सभी सदस्य दलगत भावना एवं राजनीतिक मतभेदों से परे जनहित–राष्ट्रहित को सर्वोच्च प्राथमिकता देते हैं। अथर्ववेद में राजा प्रार्थना करता है कि सभी सभासदों की वाणी एक हो व सभी समान वाणी बोलने वाले हों– **''ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः।''**

मुझे याद आ रहा है कि वर्तमान लोकसभा में वर्ष 2016 का शीतकालीन सत्र व्यवधान के कारण पूरी तरह से बाधित हो गया था, लेकिन सत्र के आखिरी दिन सदन ने एक मत होकर निःशक्त व्यक्ति अधिकार विधेयक, 2014 (The Rights of Persons with Disabilities Bill, 2014) को पारित किया था। इसी प्रकार बांग्लादेश के साथ सीमाओं के निर्धारण और भू–खण्डों (Conclave) की अदला– बदली संबंधी संविधान संशोधन विधेयक भी दोनों सदनों में सर्वसम्मति से पारित किया गया था।

वर्तमान समय में सूचना और संचार प्रौद्योगिकियों में हुई प्रगति ने अद्वितीय अवसर और तरीके उपलब्ध कराएं हैं जिनके द्वारा संसद जनता के साथ बेहतर तरीके से संवाद कर सकती है अथवा जुड़ सकती है जिससे संसदीय संस्था जनता के और निकट आ गयी है। प्रौद्योगिकी ने जनता को सभाओं की कार्यवाही और साथ ही हमारी संसद की दोनों सभाओं में उनके प्रतिनिधियों के कार्यकरण को भी देखना संभव बनाया है। आज हमारे पास 24 घंटे प्रसारण वाले लोक सभा टेलीविजन चैनल और राज्य सभा टेलीविजन चैनल हैं जो क्रमशः लोक सभा और राज्य सभा की कार्यवाही का सीधा प्रसारण करते हैं। इससे जनता की जानकारी बढ़ती है और संसदीय लोकतंत्र की जड़ें मजबूत होती हैं। भारत की संसद ने अपनी स्वयं की वेबसाइट www.parliamentofindia.nic.पद विकसित की है। यह द्विभाषी वेबसाइट विभिन्न संसदीय पहलों और कार्यकलापों के संबंध में विस्तृत सूचना उपलब्ध कराती है। लोक सभा टीवी की मोबाइल एप भी आम जनता में अत्यंत लोकप्रिय है। ई–संसद और पेपरलेस सचिवालय की दिशा में एक और कदम उठाते हुए हमने सदस्यों हेतु एक व्यापक ई–पोर्टल विकसित किया है।

पिछले कुछ समय से, मैं एक ऐसे मंच के बारे में विचार कर रही थी जहां सदस्य समसामयिक महत्व के मुद्दों पर विषय विशेषज्ञों के साथ खुलकर बातचीत कर सकें और नीति निर्माण से संबंधित विविध जटिल एवं तकनीकी विषयों के सभी पहलुओं को समझ सकें क्योंकि संसद सदस्य अपने संसदीय क्षेत्र, पार्टी एवं अन्य सामाजिक जिम्मेदारियों के कारण अत्यन्त व्यस्त रहते हैं। इस प्रयोजनार्थ भारतीय संसद में अध्यक्षीय शोध कदम (Speaker Research Initiative) की स्थापना की गयी है। अध्यक्षीय शोध कदम ने अब तक सतत् विकास लक्ष्यों (एसडीजी), भारत के संविधान, असंगठित क्षेत्र, माल और सेवा कर, सूखा, पेयजल प्रबंधन, नदियों को आपस में जोड़ना, स्वास्थ्य और शिक्षा क्षेत्रों में चुनौतियों जैसे विषयों पर कार्यशालाएं और परस्पर संवादात्मक सत्र आयोजित किए हैं और देश के संसदीय इतिहास में अभिनव पहल–राष्ट्रीय महिला जनप्रतिनिधि सम्मेलन का भी आयोजन किया है। अध्यक्षीय शोध कदम वरिष्ठ अध्येताओं के लिए अध्येतावृत्ति कार्यक्रम (Fellowship Programme) और युवा छात्रों के लिए प्रशिक्षुता कार्यक्रम (Internship Programme) भी आयोजित करता है। तीन वर्ष की अल्प अवधि में ही एसआरआई (SRI) ने देश–विदेश में सभी का ध्यान आकर्षित किया है। अनेक देशों ने इस प्रयोग की सराहना करते हुए एसआरआई के साथ संबद्ध होकर कार्य करने की इच्छा व्यक्त की है।

हमारी संसद निर्वाचित संसद सदस्यों के माध्यम से राष्ट्र की विविधताओं और बहुलताओं का भी सर्वश्रेष्ठ रूप से प्रतिनिधित्व करती है। वह शासन–व्यवस्था और समाज में व्याप्त कठिनाइयों, समस्याओं और शिकायतों को अभिव्यक्त करती है और विचार–विमर्श के माध्यम से विभिन्न मुद्दों का समाधान खोजती है। इस प्रकार हमारी संसद राष्ट्रीय एकता और अखंडता को सुदृढ़ करने में अपना योगदान देती है।

एक संस्था के रूप में संसद एक आदर्श स्थापित करते हुए सभी नागरिकों की उम्मीदों पर खरा उतरे और देश को एक विकसित राष्ट्र की राह पर चलाए, इसमें अग्रणी भूमिका जनप्रतिनिधि की होती है। मेरा मानना है कि शासक वर्ग एवं जनप्रतिनिधियों के लिए जनहित सर्वोपरि होना चाहिए। जैसा कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित हैः–

"प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां तु हिते हितम् ।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम् ।।"

(प्रजा के सुख में राजा का सुख निहित है। प्रजा के हित में ही उसे अपना हित दिखना चाहिए। जो स्वयं को प्रिय लगे उसमें राजा का हित नहीं है। उसका हित तो प्रजा को जो प्रिय लगे) उसमें है।) भारत न केवल लोकतंत्र की कसौटी पर खरा उतरा है, बल्कि सभी नागरिकों को समान अवसर प्रदान करने के साथ ही एक समावेशी शासन व्यवस्था तथा समाज की स्थापना करने में भी काफी हद तक सफल रहा है। पंचायत से लेकर संसद तक विभिन्न प्रतिनिधिक निकायों के नियमित और समय–समय पर होने वाले चुनावों ने हमारी भागीदारीपूर्ण लोकतांत्रिक प्रणाली को सुदृढ़ किया है। हमारे संसदीय लोकतंत्र को और मजबूत बनाने तथा देश की एकता और अखंडता को बनाए रखने के लिए देश के प्रत्येक नागरिक को अपनी क्षमता के अनुसार योगदान देना होगा।■

डॉ. चन्द्रशेखर प्राण

संविधान - संसदीय व्यवस्था और ग्राम स्वराज्य

आज आजादी के सत्तर वर्ष बाद देश की राज्य व्यवस्था में जिस तरह की विकृतियाँ बड़े पैमाने पर उभर कर आयी हैं, उसके परिप्रेक्ष्य में एक बार फिर संसदीय व्यवस्था और ग्राम स्वराज्य का विषय प्रासंगिक हो गया है। दुनिया में लोकतन्त्र की स्थापना तथा उसके अंतर्गत राज्य सत्ता के संचालन की जो व्यवस्था तलाशी गई उसमें संसदीय व्यवस्था का स्थान प्रमुख रहा

वर्त्तमान समय में भारत में लोकतन्त्र की संसदीय व्यवस्था के अंतर्गत राज्य का ढांचा कार्य कर रहा है। संसदीय लोकतान्त्रिक व्यवस्था में विधायिका के रूप में संसद सर्वोच्च होती है और उसी के सदस्यों से कार्यपालिका अर्थात मंत्रिमंडल का गठन होता है। पश्चिमी लोकतन्त्र की राज्य व्यवस्था के सामान्यतः दो रूप (1) संसदीय व्यवस्था तथा (2) अध्यक्षीय व्यवस्था है। भारत के संविधान में संसदीय व्यवस्था को अंगीकार करते हुए संविधान की प्रारूप कमेटी के अध्यक्ष डॉ. अम्बेडकर ने संविधान सभा में अमेरिका की अध्यक्षात्मक तथा ब्रिटेन की संसदीय व्यवस्था की तुलना करते हुए यह तर्क दिया था कि असंसदीय कार्यपालिका कम उत्तरदायी होती है दूसरी ओर बहुमत पर आश्रित कार्यपालिका कहीं अधिक उत्तरदायी होती है। अतः यही सोच कर कि अधिक स्थायित्व की जगह उत्तरदायी कहीं अधिक श्रेयष्कर होगा, प्रारूप संविधान में संसदीय कार्यपालिका को अपनाये जाने की अनुशंसा की गयी है।[1]

जबकि दूसरी ओर महात्मा गांधी ने 1909 में हिन्द स्वराज्य में ब्रिटेन की संसदीय व्यवस्था कि बड़ी तीखी आलोचना की थी। उन्होंने ब्रिटिश पार्लियामेंट को बांझ और बेसवा (वेश्या) कहा था। बांझ इस अर्थ में कि उसने अपने आप में एक भी अच्छा काम नहीं किया और वेश्या इस अर्थ में कि जो मंत्रिमंडल उसे रखे उसके पास वह रहती है। उसका मालिक बदलता रहता है। अपने अनुभवों के आधार पर ब्रिटिश पार्लियामेंट के बारे में उनका कहना था कि बड़े सवालों की चर्चा जब पार्लियामेंट में चलती है तब उसके सदस्य पैर फैलाकर लेटते हैं या बैठे–बैठे झपकियाँ लेते रहते हैं।[2]

स्वराज्य जो व्यक्ति के स्तर पर आत्मशासन और आत्मसंयम है तथा समाज के स्तर पर सरकारी नियंत्रण से मुक्त होने के लिए लगातार प्रयत्न है, गांधी जी ने उसको स्वतंत्र भारत में "ग्राम स्वराज्य" के रूप में सत्ता के विकेंद्रीकरण का एक देशज प्रयोग बनाने का लक्ष्य तय किया था।[3]

आज आजादी के सत्तर वर्ष बाद देश की राज्य व्यवस्था में जिस तरह की विकृतियाँ बड़े पैमाने पर उभर कर आयी हैं, उसके परिप्रेक्ष्य में एक बार फिर संसदीय व्यवस्था और ग्राम स्वराज्य का विषय प्रासंगिक हो गया है।

दुनिया में लोकतन्त्र की स्थापना तथा उसके अंतर्गत राज्य सत्ता के संचालन की जो व्यवस्था तलाशी गई उसमें संसदीय व्यवस्था का स्थान प्रमुख रहा। लोकतन्त्र में संसदीय व्यवस्था के अंतर्गत कार्यपालिका का गठन संसद के सदस्यों के बीच से होता है जबकि अध्यक्षतात्मक व्यवस्था में कार्यपालिका के अध्यक्ष का सीधे चुनाव होता है और वही अपनी इच्छानुसार कार्यपालिका के सदस्यों का चयन करता है।

इन दोनों व्यवस्थाओं के प्रतिपक्ष में महात्मा गांधी ने ग्राम स्वराज्य को महत्व दिया है। ग्राम स्वराज्य मूलतः भारत में गाँव के स्वावलंबन और आत्मनिर्भरता की लंबी परंपरा से उपजा विचार है। गांधी जी का शुरू से ही यह आग्रह रहा कि हमारी शासन पद्धति हमारी प्रजा की प्रकृति के अनुरूप हो क्योंकि ब्रिटेन और अन्य पश्चिमी देशों की शासन पद्धतियाँ उनकी प्रजा की प्रकृति के अनुरूप हैं।[4]

व्यवस्थागत स्वावलंबन की दृष्टि से उन्होने पंचायत को आधार बनाया। उनके अनुसार गाँव का शासन चलाने के लिए हर साल गाँव के पाँच

आदमियों कि एक पंचायत चुनी जाएगी। इस पंचायत को सब प्रकार की आवश्यक सत्ता और अधिकार होंगे।[5]

भारत के संविधान में संसदीय व्यवस्था के प्रावधान की एक लंबी पृष्ठभूमि दिखाई पडती है। ब्रिटिश सरकार द्वारा सत्ता अधिग्रहण के बाद 1861, 1892 तथा 1909 के भारतीय परिषद अधिनियम (इंडियन काउंसिल एक्ट) द्वारा प्रांतीय स्थानीय सरकार की व्यवस्था तथा विधान परिषदों में जनता को प्रतिनिधित्व देने का प्रावधान संसदीय व्यवस्था के ही विकास क्रम में थे। भारत सरकार अधिनियम 1919 के प्रावधानों से इस दिशा में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। इसी विधान परिषद के स्थान पर दो सदन वाले विधान मंडल की स्थापना, सबसे उल्लेखनीय परिवर्तन था।

1935 का भारत सरकार अधिनियम इसकी अगली कड़ी के रूप में सामने आया जिसमें संसदीय व्यवस्था को एक संघीय ढांचे में लागू करने की अभियोजना थी। इसी अधिनियम में गवर्नर जनरल के कृत्यों के प्रयोग में उसकी मंत्रणा तथा सहायता के लिए मंत्री परिषद का प्रावधान किया गया। इस प्रकार लगभग 100 साल से अधिक समय में ब्रिटेन की संसदीय व्यवस्था की भूमि तैयार की गई तथा उसके बीज बोए गए जो बाद में भारत के संवैधानिक व्यवस्था के आधार बने।

संविधान सभा में के. एम. मुंशी ने इसी तथ्य का हवाला देते हुए सवाल उठाया कि पिछले 100 वर्षों से इंग्लैंड की संवैधानिक परंपराएं भारतीय राजनीतिक जीवन को परिपोषित और प्रभावित करती आई हैं ऐसे में हम नया परीक्षण क्यों करें?[6]

भारतीय संविधान में संसदीय व्यवस्था की सहमति संविधान सभा की बैठकों से पूर्व संविधान के लिए सामग्री तैयार करने के लिए बनाई गई कांग्रेस की विशेषज्ञ समिति की रिपोर्ट में ही बन गई थी। जुलाई 1946 के मध्य से आयोजित इसकी 4 बैठकों की चर्चा मुख्य रूप से संसदीय सरकार की संस्थाओं पर ही केन्द्रित रही। इस समिति की चर्चाओं में गांधीवादी दृष्टिकोण को महत्व ही नहीं दिया गया। संविधान सभा में दो प्रमुख सदस्यों पंडित नेहरू और सरदार पटेल दोनों ने खुलकर संसदीय व्यवस्था का समर्थन किया। पंडित नेहरू के अनुसार

संविधान सभा में के. एम. मुंशी ने इसी तथ्य का हवाला देते हुए सवाल उठाया कि पिछले 100 वर्षों से इंग्लैंड की संवैधानिक परंपराएं भारतीय राजनीतिक जीवन को परिपोषित और प्रभावित करती आई हैं ऐसे में हम नया परीक्षण क्यों करे

यह प्रणाली भारतीय पुरानी परंपराओं के अनुकूल थी[7] तो पटेल की दृष्टि में देश की वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए अधिक उपयुक्त थी।[8]

संविधान के लक्ष्य, उद्देश्य और स्वरूप पर चर्चा हेतु संविधान सभा की पहली बैठक 9 दिसंबर 1946 को आहूत की गई थी। लेकिन मुस्लिम लीग के बहिष्कार के कारण कोई खास चर्चा नहीं हुई। संविधान के उद्देश्य पर ही चर्चा केन्द्रित रही। चूंकि मुस्लिम लीग का यह गतिरोध लंबे समय तक चलता रहा अतः संविधान सभा की बैठक तो नहीं हुई लेकिन जरूरी दो समितियों में संविधान के आधारभूत सिद्धांतों पर चर्चा चलती रही। इन समितियों ने एक प्रकार से संसदीय प्रणाली की ही अनुशंसा की थी।[9]

गांधी ने जिस ग्राम स्वराज्य का सुझाव स्वतंत्र भारत की राज्य व्यवस्था के लिए दिया था वह शताब्दियों से चली आ रही स्थानीय ग्राम व्यवस्था पर ही आधारित था। ग्राम स्वराज्य की यह व्यवस्था शरीर श्रम, समानता, विकेन्द्रीकरण, सत्याग्रह तथा सभी धर्मों की समानता जैसे मूल्यों पर आधारित होकर "मानव को सर्वोच्च स्थान" देते हुए "ट्रस्टीशिप" और स्वदेशी भावना के साथ परस्पर सहयोग से पंचायत के माध्यम से संचालित होनी थी। शासन व्यवस्था के इस आधारभूत ढांचे के लिए वयस्क मताधिकार के द्वारा बनी "पंचायत" के प्रतिनिधियों के द्वारा ही ऊपरी व्यवस्था (राज्य एवं केंद्र) का गठन किए जाने का सुझाव शामिल है।[10]

ग्राम स्वराज्य के इस विचार को लेकर स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान कांग्रेस के बहुत सारे नेता और कार्यकर्ता पूरी निष्ठा के साथ सक्रिय थे। बापू के सुझाव पर कांग्रेस के संगठन की प्रारंभिक इकाई को पंचायत के रूप में गठित किया गया था और ग्राम स्वराज्य का जो ऊपरी ढांचागत स्वरूप था, उसको कांग्रेस संगठन में प्रयोग किया जाने लगा था। जो एक तरह से माना जाय तो ग्राम स्वराज्य व्यवस्था का प्रायोगिक अथवा व्यावहारिक स्वरूप था। गांधी तो यह मानकर चल रहे थे कि आजादी के बाद जो राज्य व्यवस्था बनेगी वह इसी पर आधारित होगी। इसी नाते जब संविधान का निर्माण शुरू हुआ तो इस गांधीवादी दृष्टिकोण के आधार पर संविधान का ढांचा समानान्तर रूप से प्रस्तुत किया गया।[11]

ड्राफ्ट कमेटी के द्वितीय वाचन के समय जब डॉ. अंबेडकर ने अपने संबोधन में भारत के गाँव, समाज और पंचायत के बारे में बहुत कटु निंदा की तब सदस्यों में बड़े पैमाने पर आक्रोश पैदा हुआ। उन्होंने बड़े तीखे शब्दों में कहा कि मुझे यह जानकर आश्चर्य होता है कि जो लोग प्रांतीयवाद और संप्रदायवाद के घोर विरोधी हैं वे ही गांव की वकालत कर रहे हैं। गांव एक बदबूदार संकीर्णता का गड्ढा है। वहां अज्ञान, अंधविश्वास, संकुचित दृष्टिकोण और सांप्रदायिकता की अंधेरी गुफा के अतिरिक्त और है ही क्या?[12]

डॉ. अंबेडकर के इस कथन के विरोध तथा गांवों के समर्थन में बहुत सारे स्वर अपने–अपने तरीके से संविधान सभा में व्यक्त किए गये। डॉ. एच. वी. कामथ ने डॉ. अंबेडकर के कथन से पूर्ण असहमति जताते तथा उनकी शहरी मानसिकता का हवाला देते हुए सवाल खड़ा किया कि क्या उन्होंने मेटकाफ के अलावा महान व्यक्ति श्री अरविंद घोष की "द स्पिरिट एंड फॉर्म ऑफ इंडियन पॉलिटी" भी पढ़ी है जिसमें गाँव व शहर की स्व सरकार (Self Government) की राजनीतिक व्यवस्था को भारतीय सभ्यता का सबसे वैभवशाली काल माना है। उनका तर्क था कि आज भारत ही नहीं सारी दुनिया यदि शांति, सुरक्षा और खुशहाली को प्राप्त करना चाहती है तो हमें विकेंद्रीकरण को स्वीकार करते हुए ग्राम गणतंत्र और टाउन गणतंत्र को स्वीकार करना होगा।[13]

पश्चिम बंगाल के सदस्य अरुण चंद्र गुहा ने बड़े विस्तार के साथ तर्क पूर्ण तरीके

से अंबेडकर के कथनों का विरोध किया। उनका मानना था कि संविधान की संरचना उल्टे पिरामिड की नहीं सीधे पिरामिड की तरह हो, उसका आधार पंचायत बने। उनका कहना था कि हम मजबूत केंद्र स्वीकार करते हैं लेकिन कमजोर पाँव के साथ नहीं।[14]

संविधान सभा के एक प्रमुख सदस्य दामोदर स्वरूप सेठ ने महात्मा गांधी को संदर्भित करते हुए स्वतंत्र भारत के संविधान का आधार स्थानीय स्व–सरकार को बनाने का सुझाव दिया। उनका कहना था कि सिर के बल खड़े संविधान की नहीं बल्कि पांव पर खड़े संविधान की रचना हो।[15]

मद्रास के सदस्य टी. प्रकाशम ने पिछले 30 वर्षों के स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों के हवाले से डॉ. अंबेडकर को उनसे अलग खड़े हुए व्यक्ति की संज्ञा देते हुए उनके द्वारा पंचायत सिस्टम को नकारने का कारण बताया। उन्होंने यह सवाल खड़ा किया कि इस ड्राफ्ट से आम आदमी का संविधान बनेगा या चंद लोगों का।[16]

मद्रास के ही एक दूसरे प्रमुख सदस्य के. संतानम ने अंबेडकर के उस कथन से असहमति जताई जिसमें उन्होंने ग्राम पंचायत को नकारते हुए राष्ट्रीय आपदा का जिम्मेदार बताया था। उन्होंने भारत के विभिन्न प्रांतों में पंचायतों के अलग आकार व प्रकार को दृष्टि में रखते हुए जरूरी सावधानी और उचित प्रावधान के साथ इस देश की स्वतंत्रता के भविष्य का आधार गांव को बनाने का सुझाव दिया।[17]

मद्रास के सम्मानित सदस्य प्रोफेसर एन. जी. रंगा ने अंबेडकर के कथन के प्रति अत्यधिक अप्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा कि यदि वे केवल दक्षिण भारत की पंचायतों की उपलब्धियों की जानकारी रखते तो निश्चित रूप से ये बातें न कहते। प्रोफेसर रंगा ने स्पष्ट रूप से सुझाव दिया कि प्रत्येक गांव में पंचायतों को सेल्फ गवर्नमेंट के रूप में स्थापित करने का दायित्व राज्यों को सौंपने का निर्देश संविधान में दिया जाना चाहिए। इसी के साथ गांव के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों पर पंचायत को स्वायत्तता दी जाए, जिससे वह हमारे संविधान के ऊपरी ढांचे की नीव बन सके।[18]

मद्रास के ही वरिष्ठ सदस्य एम. ए. आयंगर ने कहा कि संविधान का आधार स्वायत्त ग्राम गणतंत्र को बनाना हमारी सबसे बड़ी पसंद है। ब्रिटिश शासन के 150 वर्षों में हमारी आधारभूत स्वतंत्रता, विकेंद्रित अर्थव्यवस्था तथा गांव गणतंत्र को नष्ट कर दिया गया है। लेकिन गांव की वर्तमान स्थिति को देखते हुए उन्होंने भी यह सुझाव दिया कि नीति निर्देशक में एक धारा जोड़ी जाय कि सभी सरकारें भविष्य में ग्राम पंचायत को स्थापित करें तथा उन्हें राजनीतिक स्वायत्तता तथा आर्थिक स्वतंत्रता दे जिससे वे अपने रास्ते से अपने कार्यों को व्यवस्थित कर सके।[19]

उपरोक्त सदस्यों के अतिरिक्त बहुत सारे अन्य सदस्यों ने भी ग्राम पंचायत को संविधान में राज्य व्यवस्था का आधार बनाने तथा उसके आधार पर शासन की संरचना को विकसित करने का सुझाव व समर्थन दिया।

संविधान प्रारूप के द्वितीय वाचन में भारत के गांव समाज और पंचायत के बारे में की गई प्रतिकूल टिप्पणी से सदस्यों में उपजे आक्रोश और असंतोष के परिणाम स्वरूप ग्राम गणतंत्र के विविध पक्षों पर जो लंबी बहस हुई उसी क्रम में के. संथानम की तरफ से एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया।

22 नवंबर 1948 को श्री संथानम द्वारा संविधान में एक नये अनुच्छेद 31–ए का वह प्रस्ताव रखा गया जो वर्तमान में नीति निर्देशक सिद्धांत के अंतर्गत अनुच्छेद 40 के रूप में मौजूद है। प्रस्तावित नए अनुच्छेद का प्रारूप इस प्रकार था– "राज्य ग्राम पंचायतों का संगठन करने के लिए कदम उठाएगा और उनको ऐसी शक्तियाँ और प्राधिकार प्रदान करेगा जो उन्हे स्वायत्त शासन (Self Government) की इकाइयों के रूप में कार्य करने के योग्य बनाने के लिए आवश्यक हो।[20]

डॉ अंबेडकर ने बिना किसी बहस के इसे सहज तरीके से स्वीकार करने की घोषणा सदन में की और अंततः संविधान के नीति निर्देशक सिद्धान्त में इसे शामिल कर लिया गया।

इसके उपरांत जब 17 से 26 नवंबर 1946 को संविधान के तीसरे वाचन पर सामान्य बहस हुई तब कई सदस्यों ने अनुच्छेद 31–ए पर पुनः अपनी आपत्ति इस विचार के साथ दर्ज कराई की इसमें गाँव और पंचायत को वह स्थान नहीं मिल पाया है जो उसे मिलना चाहिए अर्थात अभी भी वह भारतीय संविधान का मूल आधार नहीं बन पायी है। लेकिन साथ ही इस उम्मीद के साथ इस संशोधन के प्रति अपनी सहमति भी दी कि आने वाले समय में इस गैप को इससे (अनुच्छेद 31–ए) पूरा किया जा सकेगा।

मैसूर राज्य के सदस्य के. हनुमंतहैया ने संविधान सभा के सदस्यों के बारे में ही सवाल खड़ा किया। उनके अनुसार जिस तरह सदस्यों की जरूरत थी वैसे सदस्य नहीं हैं। उन्होंने उदाहरण देते हुए कहा कि हम सितार और वीणा का संगीत सुनना चाहते हैं लेकिन यहां तो अंग्रेजी बैंड का संगीत बज रहा है। लेकिन उन्होंने पूरे विश्वास के साथ उम्मीद जताई कि मानवमन और मानवशक्ति एक बड़ा फैक्टर है, हमें पूरा विश्वास है, जब समय आएगा तब वह उसे दुरुस्त कर लेगा।[21]

टी. प्रकाशम ने गहरी संवेदना के साथ कहा कि यह वह संविधान नहीं है जिसकी मैं अपने देश के लोगों के लिए अपेक्षा कर रहा था। उन सबकी भी अपेक्षा के अनुरूप नहीं है जिन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन में मेहनत की थी। उनके अनुसार पंचायती राज ही वह एक था जिसे राष्ट्र के लिए नियोजित किया गया था। नीति निर्देशक सिद्धांतों में पंचायतों को शामिल करने पर खुशी जाहिर करते हुए कहा कि इसका

संविधान प्रारूप के द्वितीय वाचन में भारत के गांव समाज और पंचायत के बारे में की गई प्रतिकूल टिप्पणी से सदस्यों में उपजे आक्रोश और असंतोष के परिणाम स्वरूप ग्राम गणतंत्र के विविध पक्षों पर जो लंबी बहस हुई उसी क्रम में के. संथानम की तरफ से एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया

क्रियान्वयन अथवा भरपाई आप पर और उन सब पर निर्भर है जो इस राष्ट्र और सरकार का दायित्व ग्रहण करेंगे। अगर इसे ठीक से लागू किया गया तो भारत का स्वर्णिम समय लौटने में देर नहीं होगी।[22]

अरुण चंद्र गुहा ने भी अपने संबोधन में इस संविधान को स्वतंत्रता आंदोलन की आईडियोलॉजी और लोगों की अपेक्षा के संदर्भ में असफल बताते हुए आर्थिक विकेंद्रीकरण पर आधारित ग्राम पंचायत को ही नये राज्य का आधार बनाने की अपील की। इसी के साथ लोगों की क्रांतिकारी प्रेरणा के आधार पर इस संविधान को ठीक कर लेने की उम्मीद भी जताई।[23]

संविधान के इस तीसरे वाचन में उपरोक्त सदस्यों के अतिरिक्त और कई सदस्यों ने इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए।

26 जनवरी 1950 में संविधान लागू हो गया। वही दूसरी ओर अंग्रेजी काल में बने विभिन्न प्रान्तों के पंचायत राज अधिनियमों को स्वतन्त्र भारत के राज्यों में थोड़े बहुत संशोधन के साथ लागू किया गया। संसदीय व्यवस्था तथा पंचायतीराज व्यवस्था साथ–साथ देश में संचालित होने लगी। सामुदायिक विकास कार्यक्रम के रूप में एक अत्यंत व्यापक व महत्वाकांक्षी कार्यक्रम संचालित हुआ जिसमें लोक भागीदारी को सबसे अधिक प्रोत्साहित करने का लक्ष्य शामिल था। तत्कालीन प्रधानमंत्री पंडित नेहरू द्वारा 4 साल बाद जब 1956 में इसकी समीक्षा की गई तो पाया गया कि यह लक्ष्य से काफी पीछे है और उसका सबसे बड़ा कारण लोगों कि भागीदारी का अभाव था।[24] इसी के बाद स्थिति के बदलाव हेतु सुझाव के लिए बलवंत राय मेहता कमेटी बनाई गई जिसने पंचायत व्यवस्था को नया स्वरूप देने तथा उसे प्रभावी तरीके से लागू करने का सुझाव दिया।

गांधी के ग्राम स्वराज्य के सपने को उनके बाद जय प्रकाश नारायण (जे. पी.) और आचार्य विनोबा भावे ने पूरी निष्ठा और समझ के साथ साकार करने की कोशिश की थी। विनोबा जहां उसके सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष पर जोर दे रहे थे वहीं जे. पी. उनके राजनैतिक व सामुदायिक चरित्र पर अपने को केंद्रित किए हुए थे।

जे. पी. का मानना था कि राजनीति

डॉ. राम मनोहर लोहिया तथा पं. दीनदयाल उपाध्याय ने भी भारतीय संविधान की संसदीय व्यवस्था के कुछ पक्षों को लेकर सवाल खड़े किए तो साथ ही गाँव को सत्ता का मुख्य केंद्र बनाने पर भी अपने तरीके से जोर दिया। लोहिया ने चौखंभा राज्य की बात कही

के क्षेत्र में यदि हम चाहते हैं कि हमारी राजनीतिक संस्थाओं की गहरी जड़े जमें और वे बुनियादी निष्ठाओं के अधिकारी बने तथा हमारे समष्टिगत अस्तित्व की वास्तविक अभिव्यक्तियों का रूप लें तो ग्राम पंचायतों को उनके संपूर्ण गौरव तथा समस्त अतीत कालीन सत्ता के साथ पुनर्जीवित करना ही होगा।[25]

जे. पी. मूलतः ग्राम पंचायत को सहभागी लोकतंत्र के रूप में देखते थे जो ग्राम स्वराज्य की मूल आत्मा थी। वे भी संविधान सभा के उन तमाम सदस्यों की तरह जिन्होंने विकेंद्रीकरण और ग्राम गणतन्त्र की मांग उठाई थी– भारतीय संविधान को उल्टे पिरामिड के रूप में ही देखा।[26]

उनके अनुसार इसका (पंचायत राज) उद्देश्य प्रशासन के निचले स्तरों पर केवल पद्धतिगत सुधार करना नहीं बल्कि जनता के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक क्रांति का सूत्रपात करना है। इसी अर्थ में वे पंचायती राज को सच्चे सहभागी लोकतंत्र का आधार बनाने पर जोर दे रहे थे।[27]

इस सबके लिए उन्होंने संविधान विशेषज्ञों का आवाहन करते हुए कहा था कि उन्हें इस प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक सोचना चाहिए कि संविधान को कैसे संशोधित किया जाय कि यह विचार उसमें समाविष्ट किया जा सके तथा पंचायती राज को उसमें योग्य स्थान और दर्जा मिले।[28]

आचार्य विनोबा भावे ने सर्वोदय एवं भूदान यज्ञ के माध्यम से ग्राम स्वराज्य के विचार को जनसामान्य तक ले जाने का उल्लेखनीय काम किया। ग्राम स्वराज्य के अर्थ को देश के स्वराज्य के साथ जोड़ते हुए विवादों का निपटारा, सुरक्षा की व्यवस्था, आयात–निर्यात पर नियंत्रण तथा दैनिक उपयोग की वस्तुओं को स्वावलंबन के साथ जोड़ कर व्याख्यायित किया था। उनका कहना था कि जैसे किसी देश का स्वराज्य इन चारों पर आश्रित होता है वैसे ही ग्राम स्वराज्य भी इन्ही पर अपनी सीमा में हो सकता है।[29]

डॉ. राम मनोहर लोहिया तथा पं. दीनदयाल उपाध्याय ने भी भारतीय संविधान की संसदीय व्यवस्था के कुछ पक्षों को लेकर सवाल खड़े किए तो साथ ही गाँव को सत्ता का मुख्य केंद्र बनाने पर भी अपने तरीके से ज़ोर दिया। लोहिया ने चौखंभा राज्य की बात कही। 24 फरवरी 1950 को रीवा के किसान सम्मेलन को संबोधित करते हुए उन्होने कहा था कि संविधान बनाने की कला में अब अगला कदम चौखंभा राज्य की दिशा में होगा। उन्होने ऐसा न कर पाना भारत के संविधान परिषद की चूक कहा था। सत्ता के विकेन्द्रीकरण के साथ आर्थिक शक्ति और निर्णय के अधिकार के विकेन्द्रीकरण को भी इसके साथ जोड़ा था।[30]

पं. दीनदयाल उपाध्याय ने संविधान में राष्ट्रीय आदर्शों के प्रतिबिम्बित न होने की बात कहते हुए कहा कि विदेशों से उधार ली गयी विचार प्रणाली में हमारे राष्ट्र की सभ्यता एवं संस्कृति प्रकट नहीं हो सकी।[31]

पंडित जी ने एकात्म विधान के निर्माण का सुझाव देते हुए प्राथमिक स्तर पर ग्राम पंचायतों को ही आधार माना था। उन्होने राज्य सत्ता के तीन ही स्तर ग्राम पंचायत, जनपद सभा तथा संसद निर्धारित किए थे। सत्ता के विकेन्द्रीकरण को जनपद स्तर पर विस्तारित करने का सुझाव दिया था।[32]

इस प्रकार संविधान बनने के दो दशकों के भीतर उसकी विसंगतियाँ और कमजोरियाँ नजर आने लगी थी जिसके कारण उस समय के प्रमुख राष्ट्रीय नेताओं के द्वारा एक बार पुनः सत्ता के विकेंद्रीकरण और ग्राम स्वराज्य का विषय चर्चा में आया।

पंडित नेहरू द्वारा पंचायती राज व्यवस्था को गाँव से ऊपर ब्लाक व जिले में ले जाया जरूर गया था लेकिन राज्य सरकारों द्वारा उसे वह महत्व नहीं दिया गया जो मिलना था। जे. पी. भी इससे काफी निराश हो

गए थे। वर्ष 1964 में राजस्थान में पंचायती राज की बुनियादी समस्याओं पर आयोजित परिसंवाद में उन्होने अपनी यह चिंता व्यक्त की थी।[33] इसके बाद तो इसकी स्थिति और भी अधिक बिगड़ती गई थी। सुधार के लिए तत्कालीन सरकारों द्वारा समय–समय पर कमेटियाँ बनाई जाती रही जिसमें अशोक मेहता कमेटी (दिसम्बर 1977), जे. के. वी. राव कमेटी (मार्च 1985), एल. एम. सिंघवी कमेटी (नवम्बर 1986) तथा पी. के. थुंगन कमेटी (1988) प्रमुख है। इन सभी कमेटियों की संस्तुतियों में पंचायत व्यवस्था को लोकतान्त्रिक विकेंद्रीयकरण का आधार बनाये जाने पर बराबर ज़ोर दिया जाता रहा है और इसके लिए संवैधानिक संरक्षण की आवश्यकता सबसे अधिक महसूस की गई। यह संरक्षण मूलतः अनुच्छेद 40 में उल्लिखित सेल्फ गवर्नमेंट (अपनी सरकार) के विशेष अर्थ में था। सिंघवी कमेटी ने तो इसके लिए संविधान संशोधन का एक मसौदा भी तैयार कर लिया था।

संविधान लागू होने के लगभग 40 वर्ष बाद जो सार्थक पहल हुई वह 1992 का संविधान संशोधन है जिसे 73वें संविधान संशोधन के रूप में जाना जाता है। जैसा कि हम जानते हैं कि इस संशोधन की पृष्ठभूमि देश के 6वें प्रधानमंत्री राजीव गांधी के प्रयास से तैयार हुई। उन्होंने अपने कार्यकाल में पंचायतों की तत्कालीन स्थिति का गहरा अध्ययन किया था। पंचायत प्रतिनिधियों तथा विशेषज्ञों के साथ–साथ सभी स्तर के नौकरशाहों के साथ लंबी चर्चा के बाद उन्होंने संविधान संशोधन हेतु पहल की।

पंचायती व्यवस्था की जिस उपेक्षा और दुर्दशा की चर्चा ऊपर की गई है उसकी सच्चाई को उन्होने काफी गहराई से समझा। उन्होंने समझा कि "पहला और दूसरा जो दिल्ली में चलता है और जो राजधानियों में चलते हैं वह तो खूब मजबूत हो गए, बहुत से चुनाव हुए और उनकी जड़ बहुत अच्छी तरह से जम गई है लेकिन तीसरी कतार में कमजोरी रह गई है।[34]

इस कमजोरी का कारण ढूंढते हुए इसका समाधान उनकी समझ में आया कि यह लड़ाई दिल्ली से पूरी तरह नहीं लड़ी जा सकती। यह लड़ाई ग्रास रूट की लड़ाई है। देहात में लड़ने की लड़ाई है, मोहल्लों में लड़ने की लड़ाई है। इस लड़ाई के लिए पंचायतों को सशक्त और सक्षम बनाने हेतु संविधान संशोधन की आवश्यकता उन्हे समझ में आई।[35]

उन्होंने 5 मई 1989 को सभी राज्यों के मुख्यमंत्रियों को संबोधित करते हुए कहा कि हमने अनुभव से यह सीखा है बिल्कुल निचले स्तर पर लोकतंत्र के लिए संवैधानिक स्वीकृत उतनी ही अनिवार्य होती है जितनी की यह राज्य विधानसभाओं अथवा भारतीय संसद में लोकतंत्र के लिए है। उन्होंने इस बात को आगे बढ़ाते हुए कहा कि संविधान के अनुच्छेद 40 के अंतर्गत केंद्र तथा राज्यों की समान जिम्मेदारी और समान वचनबद्धता है। यह जिम्मेदारी हमारे देश के प्राचीन ग्राम गणतंत्र व्यवस्था के फलस्वरूप भी है, जो गांधी जी को अति प्रिय था। "इसे एक क्रांति की संज्ञा देते हुए उन्होंने संविधान सभा की उन बहसों को पुनर्जीवित कर दिया जिसमें ग्राम गणतंत्र की चिंता व्यक्त की गई थी।[36]

इसी विचार व भाव के साथ पंचायतों को संविधान की मुख्य धारा में लाने हेतु उन्होने 64वां संविधान संशोधन विधेयक संसद में प्रस्तुत किया था। उस विधेयक के पक्ष में 15 मई 1989 को संसद में दिया गया उनका भाषण देश में ग्राम गणतन्त्र अथवा ग्राम स्वराज्य की दिशा में एक अत्यंत उल्लेखनीय पड़ाव है। पंचायती राज व्यवस्था को संवैधानिक संरक्षण देने को एक ऐतिहासिक कदम बताते हुए राजीव गांधी ने इसे संविधान की स्थापना को उस जैसी एक और घटना बताते हुए लोकतंत्र को जनता तक ले जाने के तथा उसकी सत्ता उसको सौपने के प्रयास के रूप में संदर्भित किया।[37]

जैसा कि सर्वविदित है कि नए पंचायतीराज के लिए 1989 में प्रस्तुत 64वां संविधान संशोधन लोकसभा में तो पास हो गया लेकिन राज्य सभा में पारित नहीं हो सका। 1989 में ही हुए लोकसभा के चुनाव के बाद राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार भी 1990 में इसके विकल्प के रूप में विधेयक लाई लेकिन मध्यावधि चुनाव के कारण वह भी पारित नहीं हो सका। 1991 में जब कांग्रेस पार्टी दुबारा सत्ता में आयी तब 73वें संविधान संशोधन के रूप में 22 दिसंबर 1992 को संसद द्वारा उसके विधेयक को पारित किया गया।

73वें संविधान संशोधन से पंचायतों को सेल्फ गवर्नमेंट के रूप में संवैधानिक दर्जा प्राप्त हो गया। संविधान के भाग 9 में इसके लिए जो प्रावधान किए गए उसमें कुछ प्रावधानों को राज्य के अधिनियमों में अनिवार्य किया गया लेकिन कुछ प्रावधानों को संविधान के निर्देशक के अनुरूप राज्य के विधान मंडलों के विवेक पर छोड़ दिया गया। अनिवार्य प्रावधानों में ग्राम सभा का गठन, पंचायतों की संरचना, आरक्षण, अवधि, राज्य वित्त आयोग तथा राज्य चुनाव आयोग का गठन शामिल हुआ तो विभिन्न स्तरों की पंचायतों तथा उनके अध्यक्षों के नाम, शक्तियाँ व अधिकार, वित्त तथा लेखा स्वैच्छिक प्रावधानों में शामिल हैं। अनिवार्य प्रावधानों के चलते विगत 25 वर्षों से पंचायतों के चुनाव तो हर पाँच वर्ष में नियमित रूप से हो रहे है लेकिन शक्ति व अधिकार तथा वित्त व लेखा के प्रावधान को राज्य के विधान मंडलों पर छोड़ देने के कारण अधिकार और शक्ति देने में बड़े पैमाने पर कोताही और उपेक्षा भी है। जिसके चलते अधिकांश राज्यों में पंचायत सेल्फ गवर्नमेंट की इकाई बनने की बजाय राज्य सरकार की क्रियान्वयन एजेंसी बन कर रह गयी है।

के. सन्तानम ने पंचायत के विषय को नीति निर्देशक सिद्धान्त में शामिल करने के औचित्य को बताते हुए संविधान सभा में कहा था कि ग्राम पंचायत का आकार व प्रकार भिन्न है अतः इसके लिए कोई कठोर

इस कमजोरी का कारण ढूंढते हुए इसका समाधान उनकी समझ में आया कि यह लड़ाई दिल्ली से पूरी तरह नहीं लड़ी जा सकती। यह लड़ाई ग्रास रूट की लड़ाई है। देहात में लड़ने की लड़ाई है, मोहल्लों में लड़ने की लड़ाई है

और त्वरित निर्देश संविधान में नहीं दिया जा सकता। अतः इसे प्रांतीय विधायिका के ऊपर छोड़ दिया जाना चाहिए। 73वें संविधान में भी उनकी इस भावना का ख्याल रखा गया। लेकिन ज़्यादातर राज्य संविधान की मंशा और आमजन की भावना का ध्यान न रखते हुए पंचायतों को आज भी शक्ति, अधिकार और वित्त को देने में आनाकानी कर रहे है।

संविधान द्वारा निर्धारित ग्यारहवीं अनुसूची के 29 विषयों से संबन्धित सभी कार्यों को अधिकांश राज्यों में सौपा ही नहीं गया है। उसके कर्मी और उससे संबधित कोष सौंपना तो बहुत दूर की बात है।

संविधान सभा की बहस में ग्राम स्वराज्य के समर्थन में खड़े सदस्यों की आकांक्षा और राय तथा 64वें संविधान संशोधन के पक्ष में तत्कालीन प्रधानमंत्री द्वारा जनता को सम्पूर्ण सत्ता सौपने का संसद में प्रस्तुत संकल्प आज की तारीख में बेमानी हो गया है।

भारत सरकार को आजादी के 70 वर्ष तथा 73वें संशोधन के 25 वर्ष के बाद भी राष्ट्रीय ग्राम स्वराज्य का अभियान अभी भी प्रारम्भिक स्तर पर ही चलाना पड़ रहा है। जबकि विगत 20 वर्षों में भारत सरकार के स्तर से पंचायत व्यवस्था को संविधान की मंशा के अनुरूप सेल्फ गवर्नमेंट के रूप में खड़ा करने के लिए कई बार आयोग और कमेटियों का गठन करना पड़ा है तथा राज्यों के साथ समझ का संकल्प (MOU) भी तैयार किया गया है लेकिन जमीनी स्तर पर कुछ खास निकल कर नहीं आ पा रहा है। भारत के 14वें वित्त आयोग द्वारा ग्राम पंचायतों को आवंटित लगभग 2 लाख करोड़ के बजट से तैयार ग्राम पंचायत विकास योजना, जो सही अर्थों में सत्ता के विकेन्द्रीकरण और गांधी के ग्राम स्वराज्य के सपने को साकार करने का एक प्रयास है, पिछले 4 वर्षों से बुरी तरह लड़खड़ा रही है। समस्या की पहचान, योजना के निर्माण तथा उसके क्रियान्वयन में जनसहभागिता न के बराबर है।

भारत के संविधान के सामंजस्य के सिद्धान्त की प्रशंसा करते हुए संविधानवेत्ता ग्रेनविल आस्टीन की राय में संविधान सभा के सदस्यों द्वारा इस उम्मीद में कि केन्द्रीयकरण, प्रांतीय सरकार और पंचायत के बीच (अंतर्विरोधी शक्तियों के बावजूद) एक बेहतर सामंजस्य स्थापित हो सकेगा, आज सवालों के घेरे में खड़ा है।

संविधान सभा के वे सदस्य जो इस उम्मीद के साथ संविधान को पारित किये थे कि आने वाले समय में अनुच्छेद 40 के निर्देशों के अनुरूप जब संविधान में बदलाव किया जाएगा तो गांधी का ग्राम स्वराज्य और इस देश की ग्राम गणराज्य की परंपरा से लोगों को सच्चा स्वराज्य मिल सकेगा–वह भी धूमिल हो रही है।

ऐसे कई नए सवाल संसदीय व्यवस्था और ग्राम स्वराज्य दोनों को लेकर खड़े हो गए हैं। इन पर नए सिरे से विचार और चिंतन की आवश्यकता है। इन दोनों अंतर्विरोधी व्यवस्थाओं के बीच सामंजस्य के बिन्दुओं और पड़ावों की खोज करनी होगी। यह चिंतन राज्य सत्ता और समाज व्यवस्था इन दोनों को दृष्टि में रखकर करना होगा क्योकि इतिहास के सभी कालों में ये दोनों समानान्तर चलती रही है। इसके लिए जहां एक ओर संविधान सभा की बहसों में शामिल तथ्यों को देखना होगा वहीं दूसरी ओर गांधी, विनोबा, नेहरू, जे. पी. लोहिया, दीनदयाल उपाध्याय के उस दर्शन और विचारों को भी आधार बनाना होगा जो भारत की संस्कृति और समाज की विशेषताओं के साथ देश की आजादी और उसके नव निर्माण का सपना था।

गांधी ने अपनी अंतिम वसीयत में देश के सात लाख गाँवों की सामाजिक, आर्थिक और नैतिक आजादी का जो सवाल उठाया था वह मूलतः ग्राम स्वराज्य के बुनियादी सिद्धांतों के साथ था। आर्थिक स्वावलंबन के साथ सामाजिक बदलाव के लिए जिस तरीके को इसमें वह शामिल करना चाहते थे उसमें नैतिक आजादी का सवाल सबसे महत्वपूर्ण था। गांधी गाँव के स्तर पर राजनैतिक आजादी की जगह नैतिक आजादी की बात करते है। यह एक विचारणीय बिन्दु है। ग्राम स्वराज्य जिन मानवीय मूल्यों पर आधारित है उसके लिए व्यक्ति को सबसे पहले अपने आग्रहों और दुराग्रहों के साथ रूढ़ियों और भ्रामक मान्यताओं से भी आजाद होना होगा।

उनका यह आग्रह इसलिए भी महत्वपूर्ण था कि राज्य सत्ता तो कानूनी अधिकार पर चलती है और उसका चरित्र और स्वभाव सत्ता और शक्ति के ही इर्द–गिर्द ज्यादा केन्द्रित रहता है लेकिन पारंपरिक ग्राम समाज की व्यवस्था संबंधों के आधार पर चलती है जिसमें उत्तरदायित्व के रूप में सहयोग और सेवा का भाव अधिक होता रहा है। राजनैतिक आजादी और नैतिक आजादी के बीच का यही अंतर है। इसलिए गांधी गाँव की व्यवस्था को पंचायतों के माध्यम से संचालित करते हुए उसी के विकास क्रम के रूप में ऊपरी सत्ता के केन्द्रों को भी विकसित और संचालित करना चाहते थे। विनोबा की परिवार भावना, जे. पी. के सामुदायिक समाज तथा दीन दयाल उपाध्याय के एकात्ममानववाद के ही रास्ते से लोहिया के चौखंभा राज्य और जे. पी. के सहभागी लोकतन्त्र के विकास का रास्ता निकलता है, जिससे सामुदायिक या समावेशी विकास के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए वर्तमान संसदीय व्यवस्था और ग्राम स्वराज्य के बीच का सामंजस्य नये सिरे से तलाशना होगा। इसके लिए 73वें संविधान संशोधन से आगे बढ़ कर संवैधानिक स्तर पर नये हल ढूँढने होंगे। वहीं दूसरी ओर भारत के समाज के उस नए सांस्कृतिक बोध को जागृत करना होगा जो समानता और बंधुत्व के धरातल पर बदले हुए युग में संबंधों के उस नए स्वरूप को निर्मित करें जो राष्ट्रीयता और मानवता दोनों के लक्ष्यों को प्राप्त कर सकने में सक्षम हो। ■

ऐसे कई नए सवाल संसदीय व्यवस्था और ग्राम स्वराज्य दोनों को लेकर खड़े हो गए हैं। इन पर नए सिरे से विचार और चिंतन की आवश्यकता है। इन दोनों अंतर्विरोधी व्यवस्थाओं के बीच सामंजस्य के बिन्दुओं और पड़ावों की खोज करनी होगी। यह चिंतन राज्य सत्ता और समाज व्यवस्था इन दोनों को दृष्टि में रखकर करना होगा

संदर्भ संकेत

1 डॉ. बी. आर. अंबेडकर, संविधान सभा बहस खंड 7 पृ. 31–33
2 गांधी जी, हिन्द स्वराज्य, पृ.13
3 महात्मा गांधी, ग्राम स्वराज्य, पृ. 3 व 4
4 महात्मा गांधी ,ग्राम स्वराज्य, पृ.3
5 महात्मा गांधी. ग्राम स्वराज्य, पृ. 42–43
6 मुंशी. के. एम., संविधान सभा बहस, खंड 7 पृ. 984
7 नेहरू, जवाहर लाल का भाषण खंड 111, प्रकाशन विभाग भारत सरकार पृ. 111
8 पटेल, बल्लभ भाई, संविधान सभा बहस ,खंड 7 पृ. 3–4
9 संविधान सभा, रिपोर्ट्स ऑफ कमेटीज़, फ़र्स्ट सीरीज
10 महात्मा गांधी, ग्राम स्वराज्य, पृ. 43
11 कॉन्स्टिट्यूशन ऑफ इंडियन नेशनल कॉंग्रेस 1948, पृ.1
12 डॉ. अंबेडकर, बी. आर. ,संविधान सभा बहस ,खंड 7, पृ. 213
13 डॉ. कामथ, एच. वी. खंड 7
14 गुहा अरुण चन्द्र, संविधान सभा बहस, खंड 7
15 सेठ, अरुण चन्द्र, संविधान सभा बहस, खंड 7
16 प्रकाशम, टी, संविधान सभा बहस, खंड 7
17 संतानम, के. संविधान सभा बहस, खंड 7
18 प्रो. रंगा, एन. जी. संविधान सभा बहस, खंड 7
19 आयंगर, एम. ए. संविधान सभा बहस, खंड 7
20 पंचायत राज एज दि बेसिस ऑफ इंडियन पोलिटी, सं. धर्मपाल, पृ. 44
21 पंचायत राज एज दि बेसिस ऑफ इंडियन पोलिटी, सं धर्मपाल, पृ. 56
22 पंचायत राज एज दि बेसिस ऑफ इंडियन पोलिटी, सं धर्मपाल, पृ. 59
23 पंचायत राज एज दि बेसिस ऑफ इंडियन पोलिटी सं धर्मपाल पृ. 61
24 सामुदायिक विकास, सस्ता साहित्य मण्डल, पृ. 24
25 जय प्रकाश, सामुदायिक समाज : रूप और चिंतन, पृ. 2
26 जय प्रकाश, सामुदायिक समाज : रूप और चिंतन, पृ. 26
27 जय प्रकाश, सामुदायिक समाज : रूप और चिंतन, पृ. 32
28 जय प्रकाश, सामुदायिक समाज : रूप और चिंतन पृ.–94
29 विनोबा, ग्राम स्वराज्य, पृ. 38
30 राम मनोहर लोहिया रचनावली खंड 3, पृ. 79–80
31 चन्द्रशेखर परमानंद मिसीकर, पंडित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन, खंड 5, पृ. 14
32 चन्द्रशेखर परमानंद मिसीकर, पंडित दीन दयाल उपाध्याय विचार दर्शन, खंड 5, पृ. 189
33 जय प्रकाश नारायण, सामुदायिक समाज : रूप और चिंतन , पृ. 89
34 पंचायतीराज : संकल्प और संभावनाएं , सं. जगदीश पीयूष, पृ. 15
35 पंचायतीराज : संकल्प और संभावनाएं, सं. जगदीश पीयूष, पृ. 4
36 पंचायतीराज : संकल्प और संभावनाएं , सं .जगदीश पीयूष, पृ. 32
37 पंचायतीराज : संकल्प और संभावनाएं , सं. जगदीश पीयूष, पृ. 34

आप सभी जानते हैं कि यह संविधान सभा वह नहीं है जो हममें से कई लोग चाहते थे। यह विशेष परिस्थितियों में ही अस्तित्व में आई है और इसके गठन में अंग्रेज सरकार का हाथ है। उन्होंने इसमें कुछ शर्तों को जोड़ दिया है। गंभीर विचार–विमर्श के बाद हमने राज्य पत्र स्वीकार किया जिसे इस संविधान सभा की नींव कहा जा सकता है और हम इसकी सीमा के भीतर काम करने का प्रयास करेंगे। लेकिन यह संविधान सभा स्रोत से शक्ति प्राप्त करती है, उसकी भी हमें उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

–पं0 जवाहर लाल नेहरू

रियासतों के बारे में मेरे कुछ विचार हैं। मैंने उन्हें दृढ़ता से व्यक्त किया है और मैं भविष्य में उन्हें दृढ़ता से व्यक्त करने की इच्छा करता हूं। मैं चाहता हूं कि आप पूरी आजादी से बोलें। मैं भी अपनी संपूर्ण स्वतंत्रता को इसी प्रकार रखना चाहता हूं। इस विषय में कोई गलतफहमी नहीं होनी चाहिए। मैं समझता हूं कि रियासतें भारत में कालदूषण की स्थिति में हैं। इस विषय में मैं भविष्य में कभी कहूंगा संविधान सभा इसके लिए योग्य स्थान नहीं है। मैं स्पष्टता से कहना चाहता हूं कि हमने राज्यपत्र को स्वीकार किया है, संविधान सभा उसके अनुसार ही काम करेगी। मेरे व्यक्तिगत मत से इसका कोई संबंध नहीं हैं कि भविष्य का भारत और विश्व कैसे होंगे। मैं विश्व राज्य में विश्वास करता हूं। मेरा यह पक्का विश्वास है और मैं इस पर लगातार बोलता रहूंगा। मुझे लगता है कुछ रियासतें प्रगतिशील हैं और कुछ रियासतें निराशाजनक रूप से पिछड़ी हुई। वहां कोई नागरिक आजादी नहीं है। क्या मुझे ऐसा कहने से रोका जा सकता है?

–पं0 जवाहर लाल नेहरू

गोविंद गोयल

सांस्थिक संवाद के माध्यम से सहकारी संवैधानिक सुधार

एक व्यापक मेहनत का नतीजा होने के बावजूद इस विस्तृत दस्तावेज के तैयार होने के कुछ-ही हफ़्तों के भीतर इसमें बदलाव लाये जाने की आवश्यकता महसूस की गयी। औपनिवेशिकोत्तर भ्रूणावस्था में चल रहे, संवैधानिक न्यायालयों (उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों) से संवैधानिक प्रावधानों, ख़ासकर मौलिक अधिकारों, को अर्थ और उद्देश्य देने की मांग हुई। संविधान में, उसकी कार्यावधि के पहले वर्ष में ही-न्यायालयों द्वारा दी गयी इन संभावित व्याख्याओं के फलस्वरूप- संसद को कुछ काल-प्रवर्तक संशोधन लाने पड़े

उनहत्तर वर्ष पूर्व, देश के सबसे महत्वपूर्ण और आज़ादी की लड़ाई को समर्पित योद्धाओं ने, तक़रीबन तीन वर्षों[1] की अथक मेहनत के बाद, हमारे संविधान की रचना प्रक्रिया को पूरा किया था। हमारे संविधान की विशालता और बारीकियों के बराबर, आज भी, कोई दूसरा संविधान नहीं है।

एक व्यापक मेहनत का नतीजा होने के बावजूद इस विस्तृत दस्तावेज के तैयार होने के कुछ-ही हफ़्तों के भीतर इसमें बदलाव लाये जाने की आवश्यकता महसूस की गयी। औपनिवेशिकोत्तर भ्रूणावस्था में चल रहे, संवैधानिक न्यायालयों (उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों) से संवैधानिक प्रावधानों ख़ासकर मौलिक अधिकारों, को अर्थ और उद्देश्य देने की मांग हुई। संविधान में, उसकी कार्यावधि के पहले वर्ष में ही-न्यायालयों द्वारा दी गयी इन संभावित व्याख्याओं के फलस्वरूप- संसद (जो उस समय स्वयं संविधान सभा थी) को कुछ काल-प्रवर्तक संशोधन लाने पड़े।

संवैधानिक व्याख्या, संवैधानिक न्यायालयों के द्वारा की जाने वाले अन्य निर्णयात्मक कार्यवाहियों से इतर, हमारे राष्ट्र के संविधान की उन्नति का आवश्यक जरिया रहा है। जहाँ साधारण कानूनों की व्याख्या में शब्दों के अर्थ पर जोर दिया जाता है वहीं संवैधानिक निर्णयों की व्याख्या, शब्दों के गूढ़ अर्थ और प्रायोजन के प्रति सतर्क संवेदनशीलता के साथ, की जाती है, जो कभी-कभी उसके शाब्दिक अर्थ से भिन्न होती है। न्यायालयों की हमारी संवैधानिक योजना के अंतर्गत आने वाली जिम्मेदारियों में, संवैधानिक सीमाओं को पार करने वाले कानून को असंवैधानिक घोषित किया जाना, शामिल है। सीमायें प्रक्रियात्मक या मौलिक में से एक हो सकती हैं। सरकार पर लागू प्रतिबन्ध, संवैधानिक न्यायालयों के हस्तक्षेप से तय की गयी मौलिक सीमाओं में सबसे महत्वपूर्ण है। इनमें वह क़ानून भी शामिल हैं, जिसमें भारत के संविधान के भाग III में शामिल मूल अधिकार का उल्लंघन किया जाना प्रतिबंधित है। यह, अर्थात न्यायिक समीक्षा, ही वह शक्ति है जो अधिकार विधेयक को जीवन व अर्थ प्रदान करती है। न्यायालयों को बहुधा-मूल अधिकारों के उल्लंघन के आरोपित कानून का सामना होने पर-मूल अधिकारों की वास्तविकता, व्यापकता और अंतर्निहित अर्थ की व्याख्या का जिम्मा उठाना पड़ता है। इस सब के बावजूद अंततः न्यायालयों द्वारा संवैधानिक निर्णय की यह जैविक प्रक्रिया ही है जिससे अन्य संवैधानिक सयंस्थाओं यथा विधायिका एवं कार्यपालिका से न्यायिक संवाद की शुरुआत होती है।

संवैधानिक व्याख्या की प्रकृति किसी साधारण न्यायिक कार्यवाही सरीखी नहीं है, इसके लिए उच्चतम ज्ञान, अनुभव और दूरदर्शिता की आवश्यकता होती है। भारत में संविधान के विकास में संवैधानिक न्यायालयों की भूमिका केंद्रीय है। जैसी कि एक बार सर्वोच्च न्यायालय ने घोषणा[2] की थीः संवैधानिक न्यायालय संविधान के सजग प्रहरी या अभिभावक हैं। संवैधानिक न्यायालयों ने व्याख्याओं के माध्यम से अधिकारों को विस्तार दिया है, संवैधानिक गुणों का संरक्षण किया है, कानून की जड़ों में मौजूद लोकतांत्रिक शासन के बुनियादी सिद्धांतों को लागू किया है, शक्तियों का बँटवारा और उसके संतुलन पर नज़र रखी है। न्यायालयों ने विधि के शासन को भी लागू किया है और न्यायिक समीक्षा के माध्यम से संविधान की सर्वोच्चता को सुनिश्चित भी किया है।

इस तरह से, संवैधानिक न्यायालय महज एक निष्क्रिय व्याख्याकार नहीं बल्कि संसद एवं सरकार के साथ इस संवाद का एक सक्रीय भागीदार है। इस प्रकार के संवैधानिक संवाद दो प्रकार की स्थितियों

में व्यक्त हुए हैं । ऐसी स्थितियों का पहला समुच्चय तब होता है जब किसी व्याख्या विशेष के मद्देनज़र संवैधानिक न्यायालय ने राजनीतिक उपखंडों को कार्यवाही करने से ज्ञेय रूप में बाधित किया हो। ऐसे परिदृश्य में संविधानांतर्गत संस्था संविधान में संशोधन करते हुए उस व्याख्या विशेष को वापस दुरुस्त करती है। स्थितियों का दूसरा समुच्चय तब खड़ा होता है जब संवैधानिक न्यायालय किसी प्रावधान का अर्थ वह बतलाये जो कि उसके सीधे या संवैधानिक बहसों और इतिहास में इंगित अर्थ से पूर्णतया अलग हो। प्रायः संविधानांतर्गत संस्था ने अपनी व्याख्या को संविधान में संशोधन से प्रतिस्थापित नहीं किया है। दोनों ही स्थितियों में संवैधानिक पाठ अपनी पूर्वावस्था से विस्तृत हुआ है।

कभी–कभी, इस बहस को न्यायिक शाखा और संसद के बीच प्रतिद्वंद्विता के रूप में देखा गया है। हमारी संवैधानिक योजना में, जहाँ हमने किसी एक शाखा को प्रभुत्व नहीं दिया है, यह संवैधानिक संवाद सहकारी संवैधानिकता का एक बड़ा हिस्सा है, जहाँ दोनों ही शाखाएं साथ मिलकर एक समान–उद्देश्य – सामान्य जन को संवैधानिक आलेख के शब्दों का अर्थ और उद्देश्य देना – के लिए काम करती हैं।

संवैधानिक सुधार के लिए संवैधानिक निर्णय को पूर्ववत किया जाना

कई दफ़ा, संविधानांतर्गत संस्था को संवैधानिक निर्णय को रद्द किये जाने के लिए प्रेरित किया गया है, जिसने सरकारी कार्यवाही पर उसे मूल अधिकारों का हनन मानते हुए – रोक लगा दी।

भारत के संविधान में किया गया पहला ही संशोधन, संवैधानिक न्यायालय द्वारा दी गयी व्याख्या से संविधानांतर्गत संस्था की असहमति के कारण हुआ था, व्याख्या को, एक नए स्वतन्त्र भारत के शासन को महसूस हो रही विभिन्न बुराइयों से छुटकारा दिलाने के लिए आवश्यक सामाजिक परिवर्तन में बाधा डालने वाला माना गया।[3] संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 में भूमि सुधार कानूनों[4], आरक्षण उपायों[5] को ख़ारिज करते, मुक्त प्रेस[6] पर रोक लगाते, और कुछ उद्योगों[7] पर राज्य का एकाधिकार बनाते

भारत के संविधान में किया गया पहला ही संशोधन, संवैधानिक न्यायालय द्वारा दी गयी व्याख्या से संविधानांतर्गत संस्था की असहमति के कारण हुआ था, एक नए स्वतन्त्र भारत के शासन को महसूस हो रही विभिन्न बुराइयों से छुटकारा दिलाने के लिए आवश्यक सामाजिक परिवर्तन में बाधा डालने वाला माना गया।

कानूनों को पूर्ववत किये जाने की मांग की गयी। अनुच्छेद 31ए, 31बी और नौवीं अनुसूची के द्वारा भूमि सुधार उपायों के बाधा–मुक्त किये जाने पर और अनुच्छेद 15(4) द्वारा राज्य को अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और सामाजिक व शैक्षिक रूप से पिछड़े तबके के लिए उपाय करने में सक्षम बनाये जाने पर अंतरिम संसद में आमतौर पर सहमति थी। लेकिन, जब बात मौलिक स्वतंत्रता पर प्रतिबंधों (अनुच्छेद 19 के खंड (2) और (6) में संशोधन द्वारा) को बढ़ाये जाने की हुई तब संवैधानिक न्यायालयों द्वारा दी गयी दलीलें, ऐसे संशोधनों पर होने वाली बहसों के लिए उपयुक्त सामग्री बनीं , जिसमें दोनों पक्षों के बीच ठोस तार्किक बहस हुई।

संविधान के पहले संशोधन की वैधता की जांच शंकरी प्रसाद[8] में पाँच न्यायाधीशों की बेंच द्वारा की गयी थी, जिसने कहा कि संवैधानिक शक्ति का रूप वैधानिक प्रक्रिया से अलग है और किसी संवैधानिक संशोधन को, भले ही वह मौलिक अधिकारों का उलंघन करता हो, अवैध नहीं ठहराया सकता और संवैधानिक शक्ति ने अनुच्छेद 13 के अनुसार मिली न्यायिक समीक्षा से परे होने का लाभ उठाया। सज्जन सिंह[9] में बहुमत का इसी स्थिति से दोबारा सामना हुआ, जिसमें संविधान संशोधन के लिए सदन के न्यायिक समीक्षा से परे होने की सुविधा की समीक्षा किये जाने का पहला प्रयास न्यायमूर्ति हिदायतुल्लाह और न्यायमूर्ति मुधोलकर ने शंकरी प्रसाद निर्णय पर पुनर्विचार की प्रार्थना को पूर्णतया अस्वीकार न करते हुए, किया। असल में तो, न्यायमूर्ति मुधोलकर ने पाकिस्तान के सुप्रीम कोर्ट के कॉर्नेलियस सीजे[10] को उद्धृत करते हुए – "संविधान की कुछ बुनियादी विशेषताएं हों जो हर काल या कम से कम दृष्ट–भविष्य के लिए तय हों", जो कि संविधान के आकस्मिक और पूरक प्रावधानों से अधिक स्थायी हों– पर विचार किया।

बदलाव के इस छोटे बीजारोपण ने, दो साल से कम समय में ही, गोलक नाथ[11] में ग्यारह–जजों की पीठ द्वारा सदन की संशोधन शक्ति में पूरी तरह कटौती किये जाने के वृक्ष का रूप ले लिया, जिसने मूल अधिकारों को सर्वोच्चता प्रदान की ताकि वह संवैधानिक शक्ति तक की पहुँच से परे हो जाएँ। इसी से लगा हुआ, एक और काल–प्रवर्तक निर्णय बैंकों के राष्ट्रीयकरण केस[12] में आ जाता है, जिसमें ग्यारह जजों की एक पीठ गोपालन[13] के अपने पूर्व निर्णय, मौलिक अधिकारों को एक साथ पढ़ा जाना, से पलटते हुए बैंकों का राष्ट्रीयकरण[14] रद्द कर देती है। उसी वर्ष एक और ग्यारह–न्यायाधीश पीठ द्वारा – सरकार का रियासतों के पूर्व शासकों के निजी खर्च को खत्म करने का निर्णय – रद्द किया गया और न्यायालय को सरकार द्वारा उसकी नीतियों और कार्यक्रमों को लागू करने के बीच आता हुआ देखा गया।

अपनी संशोधन क्षमता और आवश्यक नीतियों को लागू करने की विफलता का सामना करती तत्कालीन सरकार ने ग्यारह जजों की पीठ से आये इन तीन निर्णयों को ख़ारिज करने के लिए संसद में 24वें, 25वें और 26वें संवैधानिक संशोधन को जुलाई, 1971 में पेश किया। ये संशोधन न केवल संविधान में किए गए परिवर्तनों के कारण, बल्कि न्यायालय के निर्णय को किस प्रकार धुल में मिला दिया गया, के कारण भी ऐतिहासिक थे।

प्रसिद्ध बैंक राष्ट्रीयकरण मामले[15] में ग्यारह न्यायाधीश बेंच के निर्णय ने एक समग्र तरीके से विभिन्न मौलिक अधिकारों को एक साथ पढ़ा और कहा कि संपत्ति के अधिकार के उल्लंघन से संबंधित कानून की वैधता को अनुच्छेद 31 और 19(1)(एफ) को

एक साथ पढ़ते हुए तर्क–संगतता के सिद्धांत पर भी मापा जाये। इस निर्णय को संविधान (पच्चीसवां) संशोधन अधिनियम, 1971 द्वारा पूर्ववत करने की मांग की गई थी। उद्देश्यों और कारणों के विवरण[16] में यह स्पष्ट रूप से कहा गया कि बैंक राष्ट्रीयकरण केस[17] में न्यायालय द्वारा "राज्य के नीति सिद्धांतों के कार्यान्वयन में आने वाली कठिनाइयों को दूर किये जाने के लिए" यह किया जा रहा था। इस कथित संशोधन के अनुसार, एक नया अनुच्छेद 31(सी) जोड़ा गया, जिसने यह निश्चित किया कि अनुच्छेद 39(बी) और (सी) – संसाधनों का न्यायसंगत वितरण और धन के संकेंद्रण का विस्तार – में निहित नीति सिद्धांतों के पालन पर विचार करने वाले कानूनों को अनुच्छेद 14, 19 या 31 के तहत मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करने के आधार पर अमान्य नहीं किया जाएगा। संसद की इस पूरी कार्यवाही की कवायद यह थी कि नीति सिद्धांतों को मूल अधिकारों से ऊपर और अधिक, सीमित प्राथमिकता मिले क्योंकि उस समय तक न्यायालय का दृष्टिकोण मूल अधिकारों को राज्य के नीति सिद्धांतों[18] से ऊपर और अधिक, सीमित प्राथमिकता दिए जाने का था।

इसी तरह चौबीसवें संशोधन को इसलिए लाया गया था कि गोलक नाथ निर्णय[19] के प्रभाव को, यह स्पष्ट करते हुए नकारा जा सके कि संवैधानिक संशोधन न्यायिक समीक्षा के दायरे में नहीं आते क्योंकि वह सामान्य कानूनों से अलग होते हैं। इसलिए, संविधानांतर्गत संस्थानों का मकसद उस कानूनी स्थिति को बहाल करना था जो गोलक नाथ[20] से पहले[21] अस्तित्व में थी। मौलिक अधिकार मामले[22] में ऐसा पहली बार हुआ जब संशोधन की अधिकृत सीमा, साथ ही साथ मौलिक अधिकार, तय किये जाने के लिए सुप्रीम कोर्ट की आज तक की सबसे बड़ी पीठ इकट्ठा हुई, 7:6 के मामूली बहुमत के साथ संविधान की मूलभूत संरचना का सिद्धांत निर्धारित किया गया जो संविधानांतर्गत संस्था को संविधान के कुछ बुनियादी रूपों या बुनियादी विशेषताओं में बदलाव किये जाने से रोकता है। विधायी और संवैधानिक शक्ति में अंतर की पुष्टि करते हुए, न्यायालय ने कहा कि संसद मूल अधिकारों में संशोधन तभी तक कर सकती है जब तक कि संविधान की मूल संरचना में बदलाव नहीं आता। मौलिक अधिकारों के मामले में बहुमत में दर्ज ऐसी कुछ "मूल विशेषताओं"[23] में शामिल हैः संविधान की सर्वोच्चता; विधि का शासन; न्यायिक समीक्षा; न्यायपालिका की स्वतंत्रता; संघीय संरचना; अधिकारों का विभाजन; संसदीय लोकतंत्र; गणतंत्रीय संरचना का शासन। यह भी कहा गया कि हर मौलिक अधिकार अलंघ्य बुनियादी संरचना का अंग नहीं है। संपत्ति का अधिकार को ऐसा ही मौलिक अधिकार कहा गया जो संविधान की मूल संरचना का हिस्सा नहीं था, परिणामस्वरूप बाद में इसका मौलिक अधिकार से पदावानित हो कर संवैधानिक अधिकार हो जाना, आसानी से संभव हो गया।[24] चूंकि न्यायालय ने मूल अधिकार मामले[25] में अधिकारों के एक वर्ग का दूसरे वर्ग से वरीय होना नकारते हुए दोनों वर्गों के बीच सामंजस्य रखने की वकालत की थी। न्यायालय का यह निर्णय समय के इम्तिहान में खरा उतरा है। मूल अधिकार मामले[26] में बहुमत के निर्णय के फलस्वरूप, न तो संविधानांतर्गत संस्था से उसकी मूल अधिकारों में संशोधन की शक्ति छिनी (जो कि गोलक नाथ[27] का परिणाम था) और न ही संवैधानिक न्यायालय की न्यायिक समीक्षा करने पर रोक लगी (जो कि चौबीसवें संशोधन को लागू किये जाने के पीछे कारण था)। संवैधानिक न्यायालय और संविधानांतर्गत संस्था के बीच 23 वर्षों के संतुलित संस्थागत संवाद के परिणामस्वरूप, विधि का शासन को बरकरार है और जिसने देश को अस्थिर किये जाने के, किसी भी बहुसंख्यक हिंसा या संख्यात्मक अत्याचार से, संभावित प्रयास का रोका है।

संवैधानिक विकास को उन्मुख संवैधानिक व्याख्या

जहाँ एक तरफ ज्यादा दिखाई देने वाले बदलाव सांस्थिक संवाद से हो रहे थे, वहीँ इसके साथ ही साथ, संवैधानिक न्यायालय संवैधानिक प्रावधानों को अर्थ और उद्देश्य देने के लिए व्याख्यात्मक तकनीकियों के द्वारा दूरगामी प्रगति कर रहे थे। हमारे सर्वोच्च न्यायालय के इतने शक्तिशाली होने का एक महत्वपूर्ण कारण, उसकी कुछ परिस्थितियों में अपने फैसलों पर पुनः विचार करने की क्षमता और इच्छा है।[28] शुरुआती समय में उसे अपने निर्णय पर पुनर्विचार की क्षमता नहीं प्राप्त थी। यह तो बंगालइम्युनिटी केस[29] में हुआ जब सर्वोच्च न्यायालय ने फैसला दिया कि वह अपने पूर्व निर्णयों को रद्द कर सकता है। इस प्रकार न्यायालय ने इस बात की वकालत की कि बेशक असाधारण परिस्थितियों में, क़ानून में विकास को कानूनी स्थिति की निश्चितता से अवश्य पार पाना होगा। तब से, हमारे संवैधानिक न्यायालयों द्वारा दिए गए कई निर्णयों की गंभीरता से जांच हुई है और यहां तक कि प्राचीन, आधिकारिक निर्णयों को, पुराना अप्रचलित या गलत क़ानून स्थापित करता पाया जाने पर, खारिज किया गया है।

यह संवैधानिक न्यायालयों द्वारा लगातार होने वाली जैविक प्रक्रिया ही है जो संवैधानिक प्रावधानों को समकालीन प्रासंगिकता देती है और तेजी से बदलते इस संसार में, संविधान को एक 'जीवित दस्तावेज़' बनाती है। ए.के. गोपालन[30] मामले में भले ही सर्वोच्च न्यायालय ने मौलिक अधिकारों को प्रबुद्धों के हवाले किया, और जीवन के अधिकार को वैध रूप से अधिनियमित कानून के द्वारा हटाने की अनुमति दी, और फिर मेनका गांधी[31] मामले में इस पर दोबारा विचार करते हुए, इस स्थापना को यह निर्णय देते हुए ध्वस्त किया, कि मौलिक अधिकारों का न सिर्फ साथ पढ़े जाने की ज़रूरत है क्योंकि उनका आपसी तानाबाना अटूट है, बल्कि यह निर्णय भी दिया कि जीवन का अधिकार सिर्फ तभी हटाया जा सकता है जब अधिनियमित कानून न्यायसंगत, निष्पक्ष और तर्कसंगत हो। इस प्रकार, न्यायालय ने अनुच्छेद 21 में "उचित प्रक्रिया" की विशेष आवश्यकताओं की शुरुआत की, जबकि जैसा कि बहसों से प्रकट होता है कि हमारे संविधान निर्माताओं ने इसे जानबूझ कर दूर रखा था।

इसी प्रकार, अपनी पूर्वस्थिति[32] और साधारण भाषा से हटते हुए, न्यायालय ने

संवैधानिक न्यायालयों द्वारा लगातार होने वाली जैविक प्रक्रिया ही है जो संवैधानिक प्रावधानों को समकालीन प्रासंगिकता देती है और तेजी से बदलते इस संसार में, संविधान को एक 'जीवित दस्तावेज' बनाती है

संवैधानिक न्यायालयों के सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा भारत के मुख्य न्यायाधीश की 'सलाह के साथ' किये जाने में, भारत के मुख्य न्यायाधीश और उसके वरिष्ठ सहयोगियों (कॉलेजियम) के नजरिये को प्राथमिकता मिलनी चाहिए, के निर्णय से राष्ट्रपति की इस शक्ति को परिगत किया।[33] न्यायालय को न्यायिक नियुक्तियों की इस कॉलेजियम प्रणाली को न्यायिक संस्थान द्वारा समाप्त करने किये जाने के प्रयास को भी, यह निर्णय देते हुए रद्द करना पड़ा कि ऐसा प्रयास संविधान की मूल विशेषता, अर्थात, न्यायालय की स्वतंत्रता, के लिए विनाशकारी है।[34]

समानता के अधिकार को बोधगम्यता के साथ इच्छित लक्ष्य प्राप्ति का तर्कसंगत सम्बन्ध होने के दोहरे तार्किक वर्गीकरण के साथ अनुमति दी गयी और यह वर्गीकरण भले ही एक व्यक्ति से सम्बंधित हो मान्य रखा जायेगा[35]। संवैधानिक न्यायालय ने धार्मिक अल्पसंख्यकों के धर्म सम्बन्धी अधिकारों को, धार्मिक गतिविधियों[36] तक न कि धर्मनिरपेक्ष गतिविधियों[37] तक सीमित करते हुए, जीवन व अर्थ दिया। अल्पसंख्यकों द्वारा अपने शिक्षण संस्थानों को चलाने और प्रशासित करने से सम्बन्धित अधिकारों को बहुत सूक्ष्मता से बनाया गया है, ताकि शिक्षा के मानकों के साथ अल्पसंख्यकों के अधिकारों को संतुलित किया जा सके।[38]

न्यायालय ने विभिन्न मौलिक अधिकारों को, व्याख्यात्मक प्रक्रिया लागू करते हुए, अर्थपूर्ण बनाया जबकि भाग III में वह शाब्दिक रूप से वर्णित नहीं थे. उदाहरण के लिए, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में प्रेस की स्वतंत्रता को शामिल माना[39]; घूमने–फिरने की स्वतंत्रता के अधिकार में विदेश जाने का अधिकार भी शामिल माना गया है जिसे किसी वैध कानून के अलावा कम नहीं किया जा सकता है[40]। परिणामस्वरूप, संसद को पासपोर्ट अधिनियम क़ानून बनाकर विदेश यात्रा को विनियमित करना पड़ा। न्यायालय ने मौलिक अधिकारों और उनकी प्रवर्तनीयता के लिए, नागरिक के विकल्प पर, सुप्रीम कोर्ट व हाई कोर्ट के उच्च विशेषाधिकार आदेशों के अपूर्व महत्व को स्वीकार किया।

सात जजों की बेंच के फैसले[41] से, भारतीय संविधान द्वारा परिकल्पित संवैधानिक सीमाओं और शक्ति की सीमाओं साथ ही

सुप्रीम कोर्ट का, प्रशासनिक कानून और सेवा न्यायशास्त्र के बाबत, भारतीय संविधान की कार्यप्रणाली को आसान बनाने के लिए, अपने विभिन्न निर्णयों द्वारा संविधान के महत्वपूर्ण सिद्धांतों को निर्धारित किये जाने का सहयोग उल्लेखनीय है

साथ शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत की एक मिसाल कायम हुई। संघ और राज्यों के बीच विधायी शक्तियों के वितरण को रोकने के लिए सातवीं अनुसूची के अनुसार न्यायालय द्वारा विधायी प्रविष्टियों की व्याख्या का सिद्धांत तय करना और अवशिष्ट शक्ति का अधिकार संसद को दिए जाने से रोकना इसका एक और उदाहरण है।[42] अंतर–राज्य व्यापार और वाणिज्य की स्वतंत्रता की रौशनी में बिक्री कर लगाने की विधायी शक्तियों, साथ ही अंतर–राज्य व्यापार पर बिक्री कर लगाने की – संसद की अनन्य शक्ति, जिसके कारण संविधान सूची (सातवां) संशोधन अधिनियम, 1956 के द्वारा संघ सूची में 92–ए दर्ज किये जाने और भारत के संविधान के अनुच्छेद 286 में संशोधन किये जाने के अलावा, केंद्रीय बिक्री कर अधिनियम, 1956 अधिनियमित किया गया था – विस्तृत जांच[43] की गई।

सुप्रीम कोर्ट का, प्रशासनिक कानून और सेवा न्यायशास्त्र के बाबत, भारतीय संविधान की कार्यप्रणाली को आसान बनाने के लिए, अपने विभिन्न निर्णयों द्वारा संविधान के महत्वपूर्ण सिद्धांतों को निर्धारित किये जाने का सहयोग उल्लेखनीय है[44]। हमारी संसदीय प्रणाली में संघ और राज्य के कार्यकारी प्रमुखों की स्थिति के संदर्भ में "सहायता और सलाह" के सिद्धांत को दृढ़ता से लागू करना सर्वोच्च न्यायालय द्वारा किया गया एक और महत्वपूर्ण ऐतिहासिक फैसला था।[45]

सुप्रीम कोर्ट का एक और योगदान उसके द्वारा ग़ैर–स्वेच्छाचारिता[46] और प्राकृतिक न्याय वाले न्यायशास्त्र[47] का अनावरण किया जाना था। स्वेच्छाचारिता (मनमानी) को कानून के शासन की प्रतिपक्षता और स्वेच्छाचारी कार्यवाही को स्वतः ही समानता के अधिकार का उल्लंघन माना गया। निष्पक्ष सुनवाई का अधिकार और पूर्वाग्रह के विरूद्ध होने का अधिकार इसके साथ ही तार्किक सूचना दिए जाने की पाबंदी कानून के शासन के अपरिहार्य अंग ठहराये गये।

काला अध्याय और पुर्नउद्भव

तीन साल के भीतर दो दफ़ा, वरिष्ठ न्यायाधीशों को छोड़ते हुए भारत के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति से राजनीतिक वर्ग ने सुप्रीम कोर्ट के ऊपर सीधा हमला किया[48]। शासक को मिली निरंकुश और असंयमित शक्ति को चुनौती देने वाला मानते हुए, न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर तानाशाही हमले और न्यायालय की विरोध की आवाज़ का मुँह बंद किये जाने के बाद बचा, संवैधानिक न्यायालय का वैधता के इस नुकसान से पुर्नउद्भव का निरंतर प्रयास।

साहसिकता की पहली प्रतिक्रिया, इलेक्शन मामले[49] में आयी। तत्कालीन प्रधानमंत्री के चुनाव को निरस्त किये जाने वाले, इलाहाबाद हाई कोर्ट के निर्णय[50] को नकारने के लिए लाये गए संविधान के तैंतीसवें संशोधन को अमान्य ठहरा दिया गया। इस संशोधन के माध्यम से राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के चुनाव के निर्णय हेतु एक नए न्यायाधिकरण को लाये जाने का इरादा था साथ ही अभी तक किसी भी न्यायालय द्वारा ऐसे चुनावों पर दिए गए निर्णयों को नकारने और लंबित चुनाव अपीलों समेत ऐसे हर मामलों से न्यायालय को अलग करने का इरादा था। सर्वसम्मत न्यायालय ने, हालांकि अलग–अलग निर्णयों और पृथक कारण ों द्वारा, इस संशोधन को संविधान की बुनियादी विशेषता, मसलन न्यायिक समीक्षा, न्यायालय की स्वतंत्रता और क़ानून का शासन, का उलंघन ठहराया।

लेकिन इसके कुछ ही समय बाद संवैधानिक न्यायालय सरकार के दबाव में आ गयी, जब शिवकांत शुक्ल केस[51] में उसका सामना, आपातकाल के दौरान जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार

की प्रकृति और इसकी प्रवर्तनीयता से हुआ। बहुमत ने यधपि जीवन और स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार के ऐसे निलंबन को बरकरार रखा, न्यायाधीश एच.आर.खन्ना जो कि न्यायालय के वरिष्ठतम अवर न्यायाधीश थे, ने अपनी योग्यता साबित करते हुए एकमात्र विरोधी लेकिन शक्तिशाली निर्णय दिया कि जीवन और स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार विधि और संविधान की रचना नहीं हैं, बल्कि एक इंसान के मानवीय अस्तित्व में जन्मजात और प्राकृतिक रूप से मौजूद हैं। इसलिए, ऐसे अधिकार को संशोधन समेत किसी भी कानून आदि से रोका या दूर नहीं किया जा सकता। न्यायाधीश खन्ना की साहसिकता की सराहना के लिए, अंतर्राष्ट्रीय समुदाय[52] ने, इस साहसिक, हालांकि एकमात्र, विरोध की बहुत सराहना की कि यद्यपि उन्हें भारत के मुख्य न्यायाधीश का पद खोना पड़ा तथापि उन्होंने स्वतंत्रता के साथ समझौता नहीं किया। न्यायाधीश खन्ना को त्वरित प्रतिकार का सामना करना पड़ा जब बजाय उनके, उनसे कनिष्ठ न्यायाधीश को भारत का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया गया।

संवैधानिक न्यायालय द्वारा अपने संविधान के सजग प्रहरी होने के दायित्व को नहीं निभाने के कारण, यह समय, ख़ासकर शिवकांत शुक्ला मामले[53] में बहुमत का निर्णय, भारतीय न्यायपालिका का निम्नतम स्तर चिह्नित करता है।

संपीडन तथा विस्तारण

सामाजिक–आर्थिक न्याय सुनिश्चित करने की संवैधानिक प्रतिज्ञा पूरी किये जाने के लिए, गरीबी मिटाना और अमीर व गरीब के बीच की दूरी ख़त्म करना, स्वतंत्र भारत की सरकार की कुछ प्राथमिकतायें थीं। कृषि सुधार इस दिशा में होने वाली शुरुआत में से था। इस संबंध में संवैधानिक उपाय किए गए, जैसा की इस लेख के पहले हिस्से में बताया गया है, न्यायिक बाधाओं को 1951 में पहले संवैधानिक संशोधन द्वारा दूर किया गया था। कालान्तर में जमींदारी प्रथा और जागीरदारी का उन्मूलन, संपत्ति के अनिवार्य अर्जन के लिए बाजार मूल्य से इनकार[54], कृषि और शहरी भूमि सीलिंग कानून, पूर्व शासकों का निजी खर्च और विशेषाधिकार, आर्थिक संसाधनों का राष्ट्रीयकरण संसद द्वारा इसी दिशा में उठाये गए कदम थे। बहुधा सुप्रीम कोर्ट ने ऐसे कदमों को आवश्यक न्यायिक सहयोग दिया।

समतावादी समाज के लिए प्रदत्त पच्चीसवां संवैधानिक संशोधन और उसमें, अनुच्छेद 14, 19 और 31 की चुनौती से परे अनुच्छेद 14 (बी) और (सी) में शामिल राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांत को प्रभावी तरीके से लागू करने के लिए, अनुच्छेद 31(सी) की प्रविष्टि। ऐसा करने से, समतावादी समाज की स्थापना से जुड़े निर्देशों को आवश्यक मौलिक अधिकारों पर प्राथमिकता मिली। मौलिक अधिकार केस[55] में बहुमत का निर्णय था कि संविधान के भाग III और भाग IV दोनों मिलकर आधारशिला निर्मित करते हैं और दोनों में संतुलन होना सबसे महत्वपूर्णहै।

हालाँकि, बयालीसवें संशोधन (अपने विस्तार क्षेत्र के कारण इस कई दफ़ा लघु संविधान भी कहा जाता है) ने अनुच्छेद 31(सी) को संशोधित किया ताकि संसद वैध रूप से अनुच्छेद 14 और 19 से प्राप्त मौलिक अधिकारों को पछाड़ते हुए वह कानून बना सके, जो किसी निर्देशक सिद्धांत की परिकल्पना को अमल करता हो। संक्षेप में, यह अनुच्छेद भाग III और IV के बीच के संतुलन को बिगाड़ने के लिए सोचा गया था। ख्यात मिनर्वा मिल्स केस[56] में, संविधान पीठ ने अनुच्छेद 31(सी) में इस परिवर्तन को – मुख्य रूप से इस आधार पर कि न्यायिक समीक्षा की बुनियादी विशेषताओं और भाग III और भाग IV के बीच संतुलन का उल्लंघन हुआ है कृ रद्द कर दिया।

हमारे देश में राजनीतिक परिवर्तनों की समकालीनता के साथ, न्यायिक दृष्टिकोणों में भी बदलाव आया। गठबंधन की सीमाओं से घिरी कमजोर सरकारों के आने के साथ–साथ प्रशासन में अनिर्णय और शिथिलता बढ़ने लगी। साधारण नागरिक परेशान हुआ और बदलाव की गुहार करने लगा। अधिस्थिति के सख्त प्रक्रियात्मक नियमों को दरकिनार करते हुए, संवैधानिक न्यायालयों ने सरकार की कार्यवाही और अकसर अकर्मण्यता के चलते, बड़े पैमाने पर, चिह्नित न किये जा सकने वाले नागरिकों के मौलिक अधिकारों के हनन की बात कहते हुए, सार्वजनिक महत्व के मसलों को सुनना शुरू कर दिया। शुरुआत में, यह हमारी संवैधानिक स्थापत्य में परिकल्पित जाँच और संतुलन प्रणाली के अनुरूप था।

संवैधानिक न्यायालय विधायी अंतर को भरने के लिए सामने आये।[57] कई दफा, औपचारिक विधायी कार्यवाहियों के नहीं होने के बावजूद, इन निर्णयों को मूल क़ानून का ही दर्जा दिया गया। ऐसा अनुच्छेद 141 में निहित परिकल्पना कि सुप्रीम कोर्ट द्वारा पारित क़ानून भारतीय गणराज्य में स्थित सारे न्यायालयों पर लागू होता है। इसी प्रकार संविधान का अनुच्छेद 144 प्रत्येक नागरिक और न्यायिक संस्था को सुप्रीम कोर्ट के अनुसार कार्य करने को बाध्य करता है। ऐसी कार्यवाही में न सिर्फ मौजूदा अधिकार बल्कि अब तक नहीं पहचाने गए अधिकार भी शामिल हैं।

ऐसे में, अकसर संवैधानिक न्यायालयों ने अनुच्छेद 21 को अगणित अधिकारों की सूची की तरह मानने का सहारा लिया – जो की एक मनुष्य के इंसानी जीवन के समवर्ती हैं। ऐसे कुछ अधिकार निम्नलिखित हैं:

1) विदेश जाने का अधिकारः सतवंत सिंह साहनी बनाम डी. रामरत्नम[58]; मेनका गांधी बनाम भारत संघ[59]
2) बेड़ी के खिलाफ कैदियों का अधिकारः चार्ल्स शोभराज बनाम दिल्ली प्रशासन [60]
3) कानूनी सहायता का अधिकारः एम.एच. होसकोट बनाम महाराष्ट्र राज्य[61]
4) जमानत का अधिकारः बाबू सिंह बनाम यूपी राज्य[62]
5) सम्मान के साथ जीने का अधिकारः जॉली जॉर्ज वर्गीज बनाम बैंक ऑफ कोचीन[63]
6) हथकड़ी लगाने के विरूद्ध का अधिकारः

सामाजिक-आर्थिक न्याय सुनिश्चित करने की संवैधानिक प्रतिज्ञा पूरी किये जाने के लिए, गरीबी मिटाना और अमीर व गरीब के बीच की दूरी ख़त्म करना, स्वतंत्र भारत की सरकार की कुछ प्राथमिकतायें थीं

अधिस्थिति सिद्धांत में ढील के बाद, भारत का सुप्रीम कोर्ट विश्व का सबसे सुलभ संवैधानिक न्यायालय बन गया। एक पोस्ट-कार्ड भेज कर भी भारत के सुप्रीम कोर्ट से न्याय की मांग की गयी है। विश्व में कहीं भी न्यायिक प्रक्रिया इतनी अनौपचारिक, सुलभ और व्यापक नहीं है

प्रेम शंकर शुक्ला बनाम दिल्ली प्रशासन[64]

7) कैद की हिंसा के खिलाफ अधिकारः शीला बरसे बनाम महाराष्ट्र राज्य[65]
8) गैरकानूनी गिरफ्तारी के मुआवजे का अधिकारः रुदुल साह बनाम बिहार राज्य[66]
9) आजीविका कमाने का अधिकारः ओल्गा टेलिस बनाम बॉम्बे म्यूनिसिपल कॉर्पोरेशन[67]
10) जानने का अधिकारः रिलायंस पेट्रोकेमिकल्स लिमिटेड बनाम इंडियन एक्सप्रेस समाचार पत्रों के प्रोपराइटर[68]
11) सार्वजनिक फांसी के विरूद्ध अधिकारः भारत की ए.जी. बनाम लछमा देवी[69]
12) सरकारी अस्पतालों में चिकित्सकीय सहायता का अधिकार और चिकित्सा का अधिकारः परमानंद कटारा बनाम भारत संघ[70]
13) आश्रय का अधिकारः शान्तिस्टार बिल्डर्स बनाम एनके टोटामे[71]
14) प्रदूषण मुक्त जल और वायु का अधिकारः सुभाष कुमार बनाम बिहार राज्य[72]
15) त्वरित सुनवाई का अधिकारः ए.आर. अंतुले बनाम आर.एस. नायक[73]
16) गैर कानूनी हिरासत के खिलाफ अधिकारः जोगिंदर कुमार बनाम यू.पी. राज्य[74]
17) स्वस्थ पर्यावरण का अधिकारः वीरेंद्र गौर बनाम हरियाणा राज्य[75]
18) श्रमिकों के लिए स्वास्थ्य और चिकित्सा देखभाल का अधिकारः उपभोक्ता शिक्षा और अनुसंधान केंद्र बनाम भारत संघ[76]
19) स्वच्छ पर्यावरण का अधिकारः वेल्लोर सिटीजन वेलफेयर फोरम बनाम भारत संघ[77]
20) यौन उत्पीड़न के खिलाफ अधिकारः विशाखा बनाम राजस्थान राज्य[78]
21) ध्वनि प्रदूषण के खिलाफ अधिकारः इन रे, ध्वनी प्रदूषण[79]
22) निष्पक्ष सुनवाई का अधिकारः ज़ाहिरा हबीबुल्लाह शेख बनाम गुजरात राज्य[80]
23) सोने का अधिकारः इन रे, रामलीला मैदान हादसा[81]
24) प्रतिष्ठा का अधिकारः उमेश कुमार बनाम आंध्र प्रदेश राज्य[82]
25) एकान्त कारावास के विरुद्ध अधिकारः शत्रुघ्न चौहान बनाम भारत संघ[83]
26) शिक्षा का अधिकारः मोहिनी जैन बनाम कर्नाटक राज्य[84]; उन्नी कृष्णन बनाम आंध्रप्रदेश राज्य[85].
27) शोषण और भिखारी के खिलाफ अधिकारः पीपल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स बनाम भारत संघ[86]
28) निजता का अधिकारः के.एस. पुट्टास्वामी बनाम भारत संघ[87]

अधिस्थिति सिद्धांत में ढील के बाद, भारत का सुप्रीम कोर्ट विश्व का सबसे सुलभ संवैधानिक न्यायालय बन गया। एक पोस्ट–कार्ड भेज कर भी भारत के सुप्रीम कोर्ट से न्याय की मांग की गयी है।[88] विश्व में कहीं भी न्यायिक प्रक्रिया इतनी अनौपचारिक, सुलभ और व्यापक नहीं है।

न्याय तक पहुँचने के विकास में एक बड़ा मील का पत्थर यह है कि ऐसे व्यक्तियों की शिकायत – जो अक्षमता या अभाववश, व्यक्तिगत रूप से निधान तलाशने में असमर्थ हैं कृ निवारण हेतु कोई भी लोकहित–भाव युक्त व्यक्ति या संस्थान एकल या समूह में सर्वोच्च न्यायालय के पास जाने का अधिकार रखता है। इसके अलावा, विधि के शासन को पूर्ण विस्तार देने के लिए, जनहित याचिका का न्यायशास्त्र प्रशासन और में भीतर तक प्रवेश कर गया है। शासन के प्रत्येक अंग की प्रत्येक क्रिया विधि के शासन से बंधी है, जिससे कोई भी दुराव कृप्रभावित इनसान न्यायालय का दरवाज़ा खटखटाने में असमर्थ हो या वह जानबूझकर न्यायालय नहीं जाने का निर्णय ले, तब भी कृ संवैधानिक न्यायालयों को सक्रिय करेगा। जनहित याचिका सार्वजनिक संस्थानों द्वारा सार्वजनिक शक्ति और सार्वजनिक धन के किसी भी प्रकार के दुरुपयोग के खिलाफ एक महत्वपूर्ण और शक्तिशाली जांच है। हमारे देश की न्यायशास्त्र की इस प्रणाली के बराबर विश्व में और कोई नहीं है। इसने प्रजातंत्र और प्रत्येक प्रजातांत्रिक संस्था को कार्यशाली बनाया है और इस बात की पुष्टि की है कि वह अपने अधिकार की सीमा में रहें और जनहित के सार्वभौमिक चिंतकों से सूचित रहे।

न्यायालय के पास यदि कोई नहीं भी पहुँचता है तब भी न्यायालय बिना इस बात का इंतज़ार किये कि उसका दरवाज़ा खटखटाया जाए, स्वयं ही अख़बार की ख़बर या अन्य श्रोतों से प्राप्त जानकारी से सुओ मोटो स्वतः संज्ञान लेता है। यंत्रणा, नकली मुठभेड़, प्रतिष्ठा के उल्लंघन आदि के ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब न्यायालय ने सुओ मोटो स्वतः संज्ञान लिया है। (पंजाब पुलिस टैटू तरनतारन केस)

ग़ैर–स्वेच्छाचारिता का विधि के शासन के आवश्यक पहलू के रूप में उद्भव और समानता के सिद्धांत को न्यायालय ने विवेकशीलता को परखने के ज़रिये के रूप में अपना लिया। यहाँ तक कि, उदारता की सलाह देने में भी न्यायालय ने इस बात पर जोर दिया कि सार्वजनिक प्राधिकरणों की कार्यवाही ग़ैर–स्वेच्छाचारिता के अनुरूप और विधि के शासन से अवगत होनी चाहिए ताकि वह भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 की मौलिक प्रतिज्ञा के अनुरूप हो।[89]

सूचना और पारदर्शिता के अधिकार का काल, तेजी से विकसित होती अर्थव्यवस्था और राज्य द्वारा प्राकृतिक और तकनीकी संसाधनों सहित भौतिक संसाधनों को भारी मात्रा को सम्हाला जाना, निर्णय लेने की प्रक्रिया और निष्ठा सुनिश्चित किये जाने के लिए चुनौती बन गए। न्यायालय द्वारा, जनहित के परम संरक्षक के रूप में कार्य करने के दृष्टिकोण और सरकार के सभी कार्यों में ग़ैर–स्वेच्छाचारिता के तय किये जाने के परिणामस्वरूप प्रत्येक संसाधन का विक्रय सार्वजनिक नीलामी से किये का क़ानून बना ताकि आर्थिक संसाधनों से अधिकतम आर्थिक लाभ हो जिसका

उपयोग सब के भले के लिए हो[90]। हालाँकि बाद में सार्वजनिक नीलामी के माध्यम से संसाधनों के वितरण और आवंटन के उपरोक्त दृष्टिकोण को संविधान पीठ के एक फैसले के माध्यम से संशोधित किया गया, जो राष्ट्रपति के संदर्भ में भारत के राष्ट्रपति द्वारा मांगी गई सलाह के अनुसार था और जिसे न्यायालय द्वारा आधिकारिक रूप से प्रमाणित किया गया[91] कि आर्थिक मूल्य को अधिकतम करना सार्वजनिक हित को बढ़ावा देने के लिए जरूरी नहीं है क्योंकि इसके लिए कई अन्य प्रासंगिक निर्णयों की ज़रुरत हो सकती है, मसलन प्राथमिकता के क्षेत्र व खंड और प्राकृतिक संसाधनों के लिए आवश्यक तंत्र।

जब सच्चाई का पता लगाना मुश्किल हो, न्यायिक और निष्पक्ष जांच सुनिश्चित करने के लिए, संवैधानिक न्यायालय जांच–पड़ताल पर भी नज़र रखता है, ख़ासकर तब जब उसका सामना सरकार के उच्चतम स्तर पर भ्रष्टाचार और वित्तीय अपकरण के आरोपों से हो[92]। इस दृष्टिकोण को विधि का शासन बनाए रखने के प्रयास और ग़ैर–स्वेच्छाचारिता व विवेक पर कड़ी नज़र रखे जाने के उच्चतम वॉटरमार्क की तरह देखा जा सकता है।

निष्कर्ष

अपने अस्तित्व के पिछले 68 वर्षों में इस शानदार यात्रा के माध्यम से, न्यायालय ने न केवल अपनी संविधान के प्रहरी की अपनी आपातकाल–पूर्व स्थिति को वापस पाया है बल्कि उसका कद और ऊंचा हो गया है और वह लोगों के अधिकारों और बड़े सार्वजनिक हित या आम हित का कड़ा रक्षक बन गए हैं। अब यह सिर्फ़ साधन शक्ति सम्पन्नों को सुलभ न्यायालय नहीं बल्कि धरा के अंतिम व्यक्ति तक पहुँच गया है। आपातकाल में नागरिकों के साथ खड़े रहने में विफल हुआ न्यायालय लोगों के अधिकारों का अग्रदूत बन गया है।

न्यायिक और निष्पक्ष जांच सुनिश्चित करने के लिए, संवैधानिक न्यायालय जांच-पड़ताल पर भी नजर रखता है, खासकर तब जब उसका सामना सरकार के उच्चतम स्तर पर भ्रष्टाचार और वित्तीय अपकरण के आरोपों से हो

विसंगतियां, हालाँकि, प्रचुर मात्रा में हैं। जहाँ एक तरफ नागरिकों के अधिकार की खातिर, न्यायालय अक्सर पारंपरिक रूप से ग़ैर–न्यायसंगत मुद्दों पर फैसला देता है, वही यह सरकार की सबसे पृथक शाखाओं में से एक है। धीरे–धीरे न्यायिक शाखा ने अपनी संरचना से कार्यप्रणाली तक हर संभव ताकत प्राप्त कर ली है और यह राज्य की अन्य दो शाखाओं को जाँच और संतुलन के लिए सबसे कमतर उपलब्ध है।

शासन के क्षेत्र में संवैधानिक न्यायालय की अक्सर होती घुसपैठ एक आम आलोचना है जिसपर उसके आत्म–निरीक्षण की आवश्यकता है। हमारे लिखित संविधान ने संवैधानिक न्यायालय को मौलिक अधिकारों का हनन करते क़ानून को रद्द करने की शक्ति दी है। अब इस शक्ति का उपयोग व्यापक है, जिसे न्यायालय न सिर्फ़ प्रशासनिक ज्यादती की जांच के लिए करता है बल्कि देश के नागरिक अपने अधिकारों से वंचित न होने पायें, इसके लिए शासन को नियंत्रित करने के लिए भी करता है। जहाँ यह सच है कि संवैधानिक न्यायालय को बहुसंख्यक सरकार की शक्ति की जांच और संतुलन का अधिकार है, वही एक ग़ैर–चनित और अनुत्तरदायी शाखा द्वारा विशुद्ध रूप से ग़ैर–न्यायसंगत कारणों से इस शक्ति का शासन की निगरानी के लिए अनाधिकार ग्रहण, चिंता का विषय हो सकता है।

फिर भी जैसा भी हो, संवैधानिक न्यायालय और संविधानांतर्गत संस्था के सहयोग से हमारे शासन का मौलिक दस्तावेज, व्यवहार सक्षम बना है, और इस कारण से जब भी आवश्यक हो बदलाव लाएं। ■

संदर्भ संकेत

1 *दिसंबर 9 1946 से नवंबर 26, 1949 तक*
2 *मद्रास राज्य बनाम वी.जी. रोव, ए आइ आर 1952, उच्चतम न्यायालय 196*
3 *संविधान के उद्देश्यों और कारणों की व्याख्या से संबंधित(पहला संशोधन) विधेयक,1951*
4 *सर कामेश्वर सिंह बनाम बिहार प्रांत, ए आइ आर 1950, पटना 392.*
5 *मद्रास राज्य बनाम चंपकम् दोराइराजन, ए आइ आर 1951, उच्चतम न्यायालय 226.*
6 *रोमेश थापर बनाम मद्रास राज्य, ए आ– आर 1950, उच्चतम न्यायालय, 124य बृज भूषण बनाम दिल्ली राज्य ए आइ आर, 1950 उच्चतम न्यायालय 129.*
7 *मोती लाल बनाम उत्तर प्रदेश सरकार, ए आइ आर, 1951, सभी 257.(एफ बी)*
8 *शंकरी प्रसाद देव बनाम भारत संघ ए आइ आर 1951, उच्चतम न्यायालय 458.*
9 *सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य, ए आइ आर, 1965, उच्चतम न्यायालय, 845.*
10 *फजलुल कादिर चौधरी बनाम मुहम्मद अब्दुल हक़, 1963, पी एल डी, 486, उच्चतम न्यायालय*
11 *गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य ए आइ आर 1967, उच्चतम न्यायालय, 1643.*
12 *रुस्तम कावसजी कूपर बनाम भारत संघ, ए आइ आर, 1970, उच्चतम न्यायालय564.*
13 *ए.के.गोपालन बनाम मद्रास राज्य, ए आइ आर,1950, उच्चतम न्यायालय 27*
14 *महाराजाधिराज माधवराव सिंधिया बनाम भारत संघ, ए आइ आर 1971, उच्चतम न्यायालय 530.*
15 *रुस्तम कावसजी कूपर बनाम भारत संघ, ए आइ आर, 1970, उच्चतम न्यायालय564.*
16 *संविधान के उद्देश्यों और कारणों की*

व्याख्या से संबंधित (25वां संशोधन) विधेयक,1971

17 *रुस्तम कावसजी कूपर बनाम भारत संघ, ए आइ आर, 1970, उच्चतम न्यायालय564.*

18 *मोहम्मद हनिफ कुरैशी बनाम बिहार राज्य ए आइ आर, 1958*

19 *गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य ए आइ आर 1967, उच्चतम न्यायालय, 1643.*

20 *शंकरी प्रसाद देव बनाम भारत संघ ए आइ आर 1951, उच्चतम न्यायालय 458. सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य, ए आइ आर, 1965, उच्चतम न्यायालय, 845.*

21 *गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य ए आइ आर 1967, उच्चतम न्यायालय, 1643.*

22 *केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य, ए आइ आर, 1973, उच्चतम न्यायालय, 1461.*

23 *केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य, ए आइ आर, 1973, उच्चतम न्यायालय, 1461.*

24 *संविधान संशोधन (44वां)1978 जिसके अंतर्गत अधिनियम 199(1)(एफ) निरस्त कर दिये गये और अधिनियम 300–ए जोड़ा गया।*

25 *केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य, ए आइ आर, 1973, उच्चतम न्यायालय, 1461*

26 *केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य, ए आइ आर, 1973, उच्चतम न्यायालय, 1461*

27 *गोलक नाथ बनाम पंजाब राज्य ए आइ आर 1967, उच्चतम न्यायालय, 1643.*

28 *जो ऐतिहासिक फैसले बाद में खारिज कर दिये गये उनमें निम्नलिखित मामले भी आते हैं:*

ए के गोपालन बनाम मद्रास राज्य ए आइ आर 1950 उच्चतम न्यायालय, 27 को शम्भु नाथ सरकार बनाम पश्चिम बंगाल राज्य ए आइ आर 1973, उच्चतम न्यायालय, 1425 मामले में खारिज।

बंबई राज्य बनाम यूनाइटेड मोटर्स (इंडिया) लिमिटिड ए आइ आर 1953, उच्चतम न्यायालय, 252 बंगाल इम्यूनिटी कंपनी लिमिटेड बनाम बिहार राज्य ए आइ आर 1955, उच्चतम न्यायालय,661 मामले में खारिज। शंकरीप्रसाद सिंह देव बनाम भारत संघ ए आइ आर 1951, उच्चतम न्यायालय, 458 और सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य ए आइ आर 1965, उच्चतम न्यायालय, 845 एल सी गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य ए आइ आर 1967, उच्चतम न्यायालय, 1643 मामले में खारिज।

एल सी गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य ए आइ आर 1967, उच्चतम न्यायालय, 1643, परमपावन केशवानंद भारती श्रीपादगल्वरु बनाम केरल राज्य ए आइ आर 1973, उच्चतम न्यायालय, 1461 मामले में खारिज।

एस पी गुप्ता बनाम भारत के राष्ट्रपति, ए आइ आर 1982, उच्चतम न्यायालय, 149, उच्चतम न्यायालय एड्वोकेट्स ऑन रिकार्ड एसोसिएशन बनाम भारत संघ ए आइ आर 1994, उच्चतम न्यायालय 268 मामले में खारिज।

जे पी उन्नी कृष्णन बनाम आंध्र प्रदेश राज्य ए आइ आर1993. उच्चतम न्यायालय,2178, टी एम ए पई प्रतिष्ठान बनाम कर्नाटक राज्य. ए आइ आर 2003, उच्चतम न्यायालय, 355 मामले में खारिज।

इस्लामिक एकेडमी ऑफ एजुकेशन बनाम कर्नाटक राज्य. ए आइ आर 2003, उच्चतम न्यायालय,3724, पी ए ईनामदार बनाम महाराष्ट्र राज्य, ए आइ आर 2005, उच्चतम न्यायालय,3226 मामले में ख़ारिज।

मोहम्मद हनीफ कुरैशी बनाम बिहार राज्य, ए आइ आर 1958, उच्चतम न्यायालय, 731रूअब्दुल हकीम कुरैशी बनाम बिहार राज्य ए आइ आर 1961 उच्चतम न्यायालय448, मोहम्मद फारुख बनाम मध्य प्रदेश राज्य ए आइ आर 1970 उच्चतम न्यायालय93, हाजी उस्मानभाई हसनभाई कुरैशी बनाम गुजरात राज्य ए आइ आर 1986 उच्चतम न्यायालय 1213, गुजरात राज्य बनाम मिर्जापुर मोती कुरैशी कसाब जमात, ए आइ आर 2006 उच्चतम न्यायालय 212 मामले में ख़ारिज।

कोंकण रेलवे कार्पोरेशन लिमिटेड बनाम मेसर्स रानी कार्पोरेशन प्राइवेट लिमिटेड, ए आइ आर 2002 उच्चतम न्यायालय, 778, एस बी पी एण्ड को बनाम वी. पटेल इंजीनियरिंग लिमिटेडए आइ आर 2002 उच्चतम न्यायालय 450 मामले में ख़ारिज।

29 *बंगाल इम्यूनिटी कं लि. बनाम बिहार राज्य ए आइ आर 1955, उच्चतम न्यायालय, 661.*

30 *ए के गोपालन बनाम मद्रास राज्य. ए आइ आर 1950. उच्चतम न्यायालय, 27।*

31 *मॉनेका गांधी बनाम भारत संघ,1978 1 SCC 248*

32 *एस पी गुप्ता बनाम भारत के राष्ट्रपति, ए आइ आर 1982, उच्चतम न्यायालय, 149। (जजों का मामला–1 नाम से लोकप्रिय)*

33 *उच्चतम न्यायालय एड्वोकेट्स ऑन रिकार्ड एसोसिएशन बनाम भारत संघ ए आइ आर 1994, उच्चतम न्यायालय 268 (जजों का मामला 2 नाम से लोकप्रिय) और 1998 का विशेष संदर्भ–1, ए आइ आर 1999, उच्चतम न्यायालय–1 (जजों का मामला 3 नाम से लोकप्रिय)*

34 *उच्चतम न्यायालय एड्वोकेट्स ऑन रिकार्ड एसोसिएशन बनाम भारत संघ (2016) 5 SCC1,(एन जी ए सी मामला के नाम से लोकप्रिय)*

35 *चरनजीत लाल चौधरी बनाम भारत संघ, ए आइ आर 1951, उच्चतम न्यायालय 41, रामकृष्ण डालमिया बनाम एस आर तेंदुलकर, ए आइ आर 1958 उच्चतम न्यायालय 538।*

36 *मोहम्मद हनीफ कुरैशी बनाम बिहार राज्य, ए आइ आर 1958, उच्चतम न्यायालय 731य तिलकायत श्री गोविन्दजी महाराज बनाम राजस्थान राज्य, ए आइ आर 1963, उच्चतम न्यायालय1638य शायरा बानो बनाम भारत संघ(2017) 9 SCC 1, इंडियन यंग लॉयर्स एसोसिएशन बनाम केरल राज्य, 2018 एस सी सी ऑनलाइन एस सी 1690 (साबरीमाला मंदिर प्रवेश मामला)*

37 *दरगाह कमेटी बनाम सैय्यद हुसैन अली, ए आइ आर 1961, उच्चतम*

न्यायालय1402

38 *इनके कानूनी मामलों मेंरू केरल शिक्षा विधेयक, ए आइ आर 1958, उच्चतम न्यायालय 956य अहमदाबाद सेंट जेवियर्स कॉलेज सोसाइटी बनाम गुजरात राज्य, ए आइ आर 1974, उच्चतम न्यायालय 1389य टी.एम.ए पई फाउंडेशन बनाम कर्नाटक राज्य (2002) 8 SCC 481य पी.ए.ईनामदार बनाम महाराष्ट्र राज्य, (2005) SCC 537य मॉडर्न डेन्टल कॉलेज बनाम मध्य प्रदेश राज्य (2016) 7 SCC 353*

39 *रोमेश थापर बनाम मद्रास राज्य, ए आइ आर 1950, उच्चतम न्यायालय124, बृजभूषण बनाम दिल्ली राज्य ए आइ आर 1950, उच्चतम न्यायालय 129।*

40 *सतवंत सिंह साहनी बनाम डी. रामरत्नम, ए आइ आर 1967, उच्चतम न्यायालय 1836।*

41 *राज्य विधायिकाओं की शक्तियां, विशेषाधिकार और उन्मुक्ति (केशम सिंह का मामला) ए आइ आर 1965, उच्चतम न्यायालय 745।*

42 *भारत संघ बनाम एच एस ढिल्लौं, ए आइ आर 1972, एस सी 1061।*

43 *बंगाल इम्यूनिटी कंपनी लिमिटेड बनाम बिहार राज्य*

44 *इन कानूनी मामलों मेंरू दिल्ली कानून अधिनियम, ए आइ आर 1952, उच्चतम न्यायालय 332 य परषोत्तम लाल धींगरा बनाम भारत संघ, ए आइ आर 1958, उच्चतम न्यायालय 36।*

45 *शमशेर सिंह बनाम पंजाब राज्य ए आइ आर 1974, उच्चतम न्यायालय 2192।*

46 *ई पी रोयप्पा बनाम तमिलनाडु राज्य, ए आइ आर 1974, उच्चतम न्यायालय 555य भारत संघ बनाम तुलसीराम पटेल, ए आइ आर 1985, उच्चतम न्यायालय 1416।*

47 *ई सी आइ एल बनाम बी करुणाकर, 1993, 4 एस सी सी 727।*

48 *इन दो अधिक्रमणों में से पहला 25 अप्रैल 1973 को हुआ जब केशवानंद भारती मामले में फैसला आने के एक दिन बाद ही बहुमत का अंग रहे दो वरिष्ठतम न्यायाधीशों का अधिक्रमण किया गया। चूंकि बहुमत ने संविधायी शक्ति की सीमाओं का अनुमोदन किया था, सरकार की राजनीतिक इकाइयों ने इसे पूर्ण सत्ता को निश्चित करने में बाधक माना।*

49 *इंदिरा नेहरू गांधी बनाम राजनारायण, ए आइ आर 1975, उच्चतम न्यायालय 2299.*

50 *राजनारायण बनाम इंदिरा नेहरू गांधी (1971 की चुनाव याचिका सं. 5 में इलाहाबाद उच्च न्यायालय का 12.6. 1975 को दिया गया निर्णय।)*

51 *ए डी एम जबलपुर बनाम शिवकांत शुक्ला 1976, 2 एस सी सी 521।*

52 *न्यूयार्क टाइम्स का 30 अप्रैल 1976 का संपादकीय 'फेडिंग होप इन इंडिया' (भारत की बुझती हुई आशा) डिजिटल रूप https://www-nytimes-com/1976/04/30/archives/fading&hope&in&india-html पर उपलब्ध है।*

53 *ए डी एम जबलपुर बनाम शिवकांत शुक्ला 1976, 2 एस सी सी 521।*

54 *भीमसिंह जी बनाम भारत संघ, ए आइ आर 1981, उच्चतम न्यायालय 234। चौथे संविधान संशोधन विधेयक प्रस्तावित करते हुये तत्कालीन प्रधानमंत्री ने इस बात पर बल दिया था कि बाजार भाव न देना सरकार कि अक्षमता नहीं अपितु जानबूझकर उठाया गया कदम है जिससे समतामूलक समाज अस्तित्व में आये और गरीब और अमीर के बीच का फासला कम हो।.*

55 *केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य ए आइ आर 1973, उच्चतम न्यायालय1461*

56 *एस.पी.गुप्ता बनाम भारत के राष्ट्रपति, ए आइ आर 1982, उच्चतम न्यायालय 149य पीपुल्ज यूनियन फॉर डिमोक्रेटिक राइट्स बनाम भारत संघ, ए आइ आर 1982, उच्चतम न्यायालय 1473।*

57 *लक्ष्मीकांत पांडेय बनाम भारत संघ, 1984 2 एस सी सी 244य विशाखा बनाम राजस्थान राज्य 1997, 6 एस सी सी 241।*

58 *ए आइ आर 1967 उच्चतम न्यायालय 1836*

59 *(1978) 1 एस सी सी 248*

60 *(1978) 4 एस सी सी 494*

61 *(1978) 3 एस सी सी 544*

62 *(1978) 1 एस सी सी 579*

63 *(1980) 2 एस सी सी 360*

64 *(1980) 3 एस सी सी 526*

65 *(1983) 2 एस सी सी 96*

66 *(1983) 4 एस सी सी 141*

67 *(1985) 3 एस सी सी 545*

68 *(1988) 4 एस सी सी 592*

69 *(1989) Supp (1) एस सी सी 264*

70 *(1989) 4 एस सी सी 286*

71 *(1990) 1 एस सी सी 520*

72 *(1991) 1 एस सी सी 598*

73 *(1992) 1 एस सी सी 225*

74 *(1994) 4 एस सी सी 260*

75 *(1995) 2 एस सी सी 577*

76 *(1995) 3 एस सी सी 42*

77 *(1996) 5 एस सी सी 647*

78 *(1997) 6 एस सी सी 241*

79 *(2005) 5 एस सी सी 733*

80 *(2006) 3 एस सी सी 374*

81 *(2012) 5 एस सी सी 1*

82 *(2013) 10 एस सी सी 591*

83 *(2014) 3 एस सी सी 1*

84 *(1992) 3 एस सी सी 666*

85 *(1993) 4 एस सी सी 111*

86 *ए आइ आर 1982 उच्चतम न्यायालय 1473*

87 *(2017) 10 एस सी सी 1*

88 *एम.सी. मेहता बनाम भारत संघ (1987) 1 एस सी सी 395*

89 *रामन्ना दयाराम शेट्टि बनाम अंतर्राष्ट्रीय विमानपत्तन प्राधिकरण ए आइ आर 1979 SC 1628*

90 *जनहित याचिका केन्द्र बनाम भारत संघ, 2जी स्पेक्ट्रम आबंटन मामला, 2012, 3, एस सी सी 1)*

91 *इस कानूनी मामले मेंरू प्राकृतिक संसाधन आबंटन मामला, 2012, 10, एस सी सी 352*

92 *जाहिरा हबीबुल्ला शेख़ बनाम गुजरात राज्य 2006) 3 एस सी सी 374य कॉमन कॉज संगठन बनाम भारत संघ 2015, 6 एस सी सी 332 {कोयला ब्लॉक आबंटन मामला}*

डॉ. ओ.पी. शुक्ला

भारतीय संविधान और सामाजिक न्याय

हमारे संविधान निर्माता सभी लोगों के लिये संवैधानिक प्रक्रियाओं के माध्यम से सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय उपलब्ध कराने के साथ ही सामाजिक स्तर और प्रगति के अवसरों की समानता को उपलब्ध कराने के लिये प्रतिबद्ध तो थे ही पर कानून के सामने सबकी समानता और वैचारिक स्वतंत्रता को सुनिश्चित करवाने के प्रति भी उदासीन नहीं थे, और इन सभी उद्देश्यों को उन्होंने संविधान की उद्देशिका में स्पष्ट अभिव्यक्ति दी है

एक आम नागरिक के लिये भारत के संविधान का क्या अर्थ है? इसका मुख्य उद्देश्य हमारी आधारभूत स्वतंत्रता की रक्षा करने के साथ ही उसे स्थायित्व प्रदान करना है जिससे यह सामाजिक परिवर्तन और जनता के सशक्तीकरण का शक्तिशाली उपकरण होकर सामाजिक न्याय का प्रभावशाली संवाहक हो जाता है। हमारे संविधान निर्माता सभी लोगों के लिये संवैधानिक प्रक्रियाओं के माध्यम से सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय उपलब्ध कराने के साथ ही सामाजिक स्तर और प्रगति के अवसरों की समानता को उपलब्ध कराने के लिये प्रतिबद्ध तो थे ही पर क़ानून के सामने सबकी समानता और वैचारिक स्वतंत्रता को सुनिश्चित करवाने के प्रति भी उदासीन नहीं थे, और इन सभी उद्देश्यों को उन्होंने संविधान की उद्देशिका में स्पष्ट अभिव्यक्ति दी है।[1] मौलिक अधिकार बनाए ही इसलिये गये थे सामाजिक क्रांति हो, कि सबको समानता का अधिकार मिले (अनुच्छेद14), भेदभाव का निषेध हो (अनुच्छेद 16), सबको समान अवसर मिलें (अनुच्छेद 16), अस्पृश्यता का निषेध हो (अनुच्छेद 17), मानव तस्करी और बेगार प्रतिबंधित हो (अनुच्छेद 23), और बालश्रम पर रोक लगे (अनुच्छेद 24)[2]। अल्पसंख्यकों के अधिकारों को भी अनुच्छेद संख्या 25–30 के अंतर्गत सुनिश्चित किया गया है।[3] संविधान के भाग 4 में राज्य के नीति–निर्देशक सिद्धांत देखने को मिलते हैं, जैसे (क) राज्य को एक सामाजिक व्यवस्था को सुनिश्चित करना है जिससे कि लोगों का कल्याण होता रहे (अनुच्छेद 38), (ख) राज्य को नीति के कुछ निश्चित सिद्धांतों का पालन करना होगा, (अनुच्छेद 39), (ग)काम करने, शिक्षा और लोक सहायता प्राप्त करने का अधिकार (अनुच्छेद 41), (घ) कार्य की न्यायसंगत और मानवोचित दशाओं तथा प्रसूति सहायता का उपबंध (अनुच्छेद 42), (ङ) कामगारों के लिये निर्वाह मज़दूरी (अनुच्छेद 43), और (च) अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य कमज़ोर वर्गों के शैक्षिक और आर्थिक हितों को बढ़ावा ((अनुच्छेद 46)। ये नीतिनिर्देशक सिद्धांत देश की शासन व्यवस्था के लिये आधारभूत निर्देशक सिद्धांत हैं और राज्य का कर्तव्य होगा कि वह क़ानून बनाते समय इन सिद्धांतों का इस्तेमाल करे (अनुच्छेद 37)।[4]

सामाजिक न्याय

सामाजिक न्याय की आधारभूमि पर ही हमारा संविधान खड़ा है। यद्यपि 'सामाजिक न्याय' को हमारे संविधान में परिभाषित नहीं किया गया है, फिर भी इसका अर्थ स्पष्ट है कि वर्ग, जाति या लिंग के विभेद को परे रखकर समाज में सभी के लिये व्यक्तित्व के विकास के लिये अवसर उपलब्ध कराए जाएं। सामाजिक न्याय का सिद्धांत वंचित वर्गों को आरक्षण और अन्य आर्थिक अवसर उपलब्ध कराने के लिये मार्ग प्रशस्त करता है। सामाजिक न्याय के अंतर्गत समाज के निचले पायदान पर खड़े लोगों को सहायता दी जाती है ताकि वे अन्य लोगों के बराबर आ जायें जिससे सामाजिक और आर्थिक असमानताओं का अंत हो जाए।[5] सामाजिक न्याय का अर्थ अत्यंत व्यापक है जिसमें नीति–निर्देशक सिद्धांतों के अंतर्गत कई बातें आती हैं जैसे काम का अधिकार, शिक्षा, महिलाओं के लिये काम की न्यायोचित और मानवोचित परिस्थितियां, निर्वाह

मज़दूरी, अनिवार्य बाल शिक्षा (अनुच्छेद 41से 46)। अनुच्छेद 15(3) के अंतर्गत महिलाओं और बच्चों के लिये विशेष प्रावधान रखे गये हैं। इसके साथ ही अस्पृश्यता के निषेध (अनुच्छेद 17) और शोषण से सुरक्षित रहने का अधिकार हमारे संविधान के भाग–3 (मौलिक अधिकार) में दिया गया है। अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विधिवेत्ता प्रो. उपेन्द्र बख्शी इन प्रावधानों की विशिष्ट प्रकृति को रेखांकित करते हुये कहते हैं :[6]

अनुच्छेद 17 अस्पृश्यता को अवैध ठहराता है। यह संभवतः विश्व का एकमात्र संविधान है जो भेदभाव पर आधारित व्यवहार को अपराध घोषित करता है। निस्संदेह इससे समानता की उत्तर–उदारवादी अवधारणा का सूत्रपात होता है। अनुच्छेद 35 समूची संघीय योजना को निलंबित करके केवल संसद को यह शक्ति, जो अपने में एक कर्तव्य है, प्रदान की, कि वह संवैधानिक अपराध की रोकथाम के लिये क़ानून बनाए (शोषण के विरोधी अनुच्छेदों 23 और 24 सहित)।

ये प्रावधान इन अर्थों में विशेष हैं कि ये अस्पृश्यता जैसी सामाजिक अक्षमताओं और मानव तस्करी और बेगार जैसे शोषण के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करते हैं। इन प्रावधानों के उल्लंघन को संवैधानिक अपराध माना जाता है। सामाजिक न्याय का मुख्य उद्देश्य है सभी प्रकार के शोषण, सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक असमानताओं को समाप्त करके सभी नागरिकों के लिये समान अवसर सुनिश्चित करना। उपयोगितावादियों[7] ने "अधिकतम लोगों के अधिकतम कल्याण" की अवधारणा दी और इसे सामाजिक न्याय के अर्थ का कुंजी माना।

लोकहितकारी राज्य और गरीबी

गरीबी सामाजिक न्याय का विरोधी तत्त्व है। हमारे संविधान निर्माताओं ने गरीबी हटाने और समतावादी समाज का निर्माण सुनिश्चित करने के लिये हर संभव प्रयत्न किया। संविधान के भाग–4 (अनु. 36–51) में कुछ ऐसे निर्देश दिये गये हैं जिनका पालन करना राज्य के लिये प्रशासन चलाने और क़ानून बनाने, दोनों ही स्थितियों में राज्य के लिये स्वतः ही अनिवार्य कर्तव्य होगा। संविधान के अनुच्छेद 39 (बी)–(सी) की प्रासंगिकता पर बल देते हुये केशवानंद भारती के मामले में उच्चतम न्यायालय का कहना था कि संविधान के इन खंडों में अन्य प्रावधानों के साथ एक प्रमुख उद्देश्य यह भी है कि एक 'लोकहितकारी समाज' और समतामूलक व्यवस्था का निर्माण किया जाये।[8] अहिंसक सामाजिक क्रांति को सुनिश्चित करने के लिये ऐसे सामाजिक और आर्थिक उद्देश्य रखे जायें जिनकी पूर्ति तुरंत की जा सके।[9] इस तरह की सामाजिक क्रांति से संविधान आम आदमी की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ साथ समाज की संरचना को भी बदल डालना चाहता है[10] जिसके बिना राजनीतिक जनतंत्र का कोई अर्थ नहीं रह जाता।[11].

लगभग पचास वर्ष पहले केशवानंद भारती के मामले में दिये गये निर्णय के बावजूद स्थितियां जस की तस बनी हुई हैं। इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि भारत में गरीबों और सामाजिक न्याय के पक्षधर राजनेता अन्य किसी भी देश से अधिक हैं। परंतु वर्तमान सामाजिक–आर्थिक परिप्रेक्ष्य को लिया जाये तो स्पष्ट हो जाता है कि स्वतंत्रता के बाद देश की वास्तविक समस्याओं को सुलझाने के लिये कोई गंभीर प्रयत्न नहीं किया गया। प्रख्यात स्तंभकार तवलीन सिंह[12] ने भारत में गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों और उनके पीछे कार्यरत सरकारी इरादों का बेहतरीन विश्लेषण किया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि हमारे नेताओं ने गरीबी से ग्रस्त समाज के विकास के लिये अनिवार्य उपकरण जैसे उपयुक्त विद्यालय, स्वास्थ्य सेवाएं, नागरिक स्वच्छता और रोज़गार के अवसर उपलब्ध कराए ही नहीं हैं। इसके विपरीत सरकारें मनरेगा जैसे दान–पुण्य के टुकड़े फेंकती रही हैं। मंशा यही है कि गरीबी को बनाये रखा जाए। सरकारी इरादों की पड़ताल करते हुये वे कहती हैं:

"ऐसा क्यों होता है कि एक प्रधानमंत्री जिसने कभी मनरेगा की सार्वजनिक भर्त्सना की थी अब उसे सीने से लगा रहा है? क्या उनकी समझ में आ चुका है कि गरीबी के महिमामंडन से बड़ा फायदा होता है? यह जितना भी अटपटा लगे, पर गरीबी को बनाये रखने से व्यापक लाभ होता है। दाने दाने को मोहताज लोग सवाल नहीं पूछते। तब भी नहीं, जब उन्हें साफ़ दिखाई देता है कि उनके निर्धनता–प्रेमी नेता सार्वजनिक जीवन में आते ही अपनी जेबें भरने में लग जाते हैं..."

सरकारी क्षेत्र में निचले स्तर (वर्ग–4) की नौकरियों को बाहरी स्रोतों से मंगवाना और उनकी सीधी भर्ती को प्रतिबंधित करना असल में सत्तारूढ़ सरकारों की गरीब–विरोधी और दलित विरोधी मानसिकता को ही सामने रखता है। यह एक ही उदाहरण तवलीन सिंह के विश्लेषण को सत्यापित करता है।

गरीबी सामाजिक न्याय का विरोधी तत्त्व है। हमारे संविधान निर्माताओं ने गरीबी हटाने और समतावादी समाज का निर्माण सुनिश्चित करने के लिये हर संभव प्रयत्न किया। संविधान के भाग-4 (अनु. 36-51) में कुछ ऐसे निर्देश दिये गये हैं जिनका पालन करना राज्य के लिये प्रशासन चलाने और कानून बनाने, दोनों ही स्थितियों में राज्य के लिये स्वतः ही अनिवार्य कर्तव्य होगा

संविधान और न्याय का अंतर्संबंध

"हमारा संविधान एक सामाजिक दस्तावेज़ है जिसका उद्देश्य अनेक सामंती और सामाजिक विभेदों वाले समाज को एक समतामूलक समाज में बदलना है"[13] 1976 में 42वें संविधान संशोधन के साथ ही प्रस्तावना में 'समाजवादी' शब्द जोड़ा गया था, जिसने अन्य बातों के साथ–साथ सामाजिक और आर्थिक न्याय के संवैधानिक सार तत्त्व को भी सुदृढ़ किया था। अनुच्छेद 14 प्रत्येक व्यक्ति को "कानून के समक्ष समानता या भारत के क्षेत्र के भीतर कानूनों की समान सुरक्षा" को प्रत्याभूत करता है। अनु. 14, 15 (1) और 16 (1) के

तहत समानता के सिद्धांत के प्रावधान के विरुद्ध एकमात्र अपवाद शैक्षणिक संस्थानों, सार्वजनिक रोजगार) आर्थिक अवसर और विधायिकाओं में आरक्षण प्रदान करने के माध्यम से अनु.जाति और अनु.ज.जाति के लिए सामाजिक न्याय सुरक्षित करने के प्रावधान हैं। संविधान के अनु.15 (4) 16 (4)) 330) 332 और 335 में वर्णित भेदभाव को "सकारात्मक भेदभाव" कहा जाता है। इसका उद्देश्य समाज के हाशिए पर पड़े वर्गों का कल्याण और विकास है।

फिर भी अंततः सामाजिक न्याय को इसी बात से सुनिश्चित किया जा सकता है कि संविधान को कितने प्रभावी ढंग से लागू किया जाता है। अतः संविधान और सामजिक न्याय के अंतर्संबंध को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिये कुछ सुविख्यात विचारकों के दृष्टिकोण को ध्यान में रखना आवश्यक है। स्वतंत्रता के उषाकाल में भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद[14] ने संविधान सभा के उस दृष्टिकोण को शब्द दिये थे जिसका आलोक समूचे राष्ट्र को एक नई आभा से भर देने के लिये प्रतिबद्ध थाः

जब हर व्यक्ति स्वतंत्र होगा और उसे अपने विकास के उच्चतम स्तर पर पहुंचने के संसाधन उपलब्ध होंगे, जब गरीबी, गंदगी, अज्ञान और रोगों का नामोनिशान न रहेगा, जब ऊंच–नीच, अमीर–गरीब का भेदभाव रहेगा ही नहीं...जब अस्पृश्यता को लोग भूल चुके होंगे...जब मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का अस्तित्व रहेगा ही नहीं।"

नई दिल्ली के जेनयू में कानून और शासन के अध्ययन के लिए बने केंद्र के प्रोफेसर नीरजा गोपाल जयाल ने बहुत ही महत्वपूर्ण सवाल उठाया है।[15]

"यदि नागरिकों की आवश्यक्ताओं के प्रति राज्य की जवाबदेही और उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये क्रियाशील होना राज्य के सुघड़ प्रशासन की निशानी है तो क्या हमारा संविधान ऐसी प्रशासनिक कार्यप्रणालियों को प्रोत्साहित करता है या उन्हें बाधित करता है?"

प्रोफेसर जयाल आगे कहती हैं कि 2004 में) दो सिविल सेवकों ने सुप्रीम कोर्ट में एक याचिका दायर की) इसमें अन्य बातों के साथ यह मांग भी की गयी थी कि अच्छे 'शासन को अनु. 14, 19 और 21 के तहत मौलिक अधिकार माना जाए व इसे संविधान की मूल संरचना का हिस्सा घोषित किया जाए और यह कि सिविल सेवा की स्वतंत्रता, अखंडता और इसके अराजनीतिक चरित्र को संवैधानिक रूप से संरक्षित किया जाए ताकि यह अधिक प्रभावी और अधिक जवाबदेह हो सके। उनका मत यह था कि मौलिक अधिकारों की अनुभूति इस तरह से संरक्षित सिविल सेवा पर निर्भर करती है। इसे आश्चर्य ही कहा जायेगा कि सर्वोच्च न्यायालय ने याचिका स्वीकार करने से इंकार कर दिया और कहा कि अदालत केवल संवैधानिक प्रावधानों के उल्लंघन के विशिष्ट मामलों में हस्तक्षेप करेगी।[16]

सर्वोच्च न्यायालय के एक प्रमख वरिष्ठ वकील डॉ० राजीव धवन अपने दृष्टिकोण की व्याख्या का आरंभ यों करते हैंः "लेकिन हमारे संविधान के बारे में जो प्रश्न आरंभ में पूछे गये थे अब भी अनुत्तरित हैं। यह संविधान किसके लिए है? संविधान पर कब्ज़ा किसने किया? अब यह संविधान किसके हाथ में है? "उन्होंने चुनावी नारों के स्वरूप पर व्यंग्य करते हुये कहा कि गरीबी हटाने के लिए इंदिरा गांधी का अभियान (गरीबी हटाओ) एक चुनावी नारा बन गया और कार्यक्रम के रूप में इसने अपनी आभा (खो दी। उन्होंने आगे कहा कि "सच यह है कि भारत उदय का नारा गरीब और बेरोजगार मतदाता के लिए व्यर्थ है।"[17]

संविधान सभा के एक मात्र जीवित सदस्य 93 वर्षीय चौधरी रणबीर सिंह हुड्डा[18] उस दिन को याद करते हैं जब उन्होंने संविधान पर हस्ताक्षर किये थे। उनके अनुसारः–

"यह एक खास पल था। हमारे लिए संविधान सिर्फ एक दस्तावेज नहीं था (इसने बरसों के ब्रिटिश शासन के बाद देश में आशा जगाई थी, प्रगति और सुखद भविष्य की चेतना का संचार किया था।"

"यह संसदीय प्रणाली के बारे में सबसे अच्छी बात है, राजशाही के विपरीत जहां केवल राजा शासन करते थे। मुझे संविधान पर बहुत गर्व है। यह आने वाली पीढियों को सशक्त बनाने के लिए तैयार किया गया था। संशोधन के लिए प्रावधान शामिल किए थे ताकि बदलते समय की आवश्कतानुसार इसमें परिवर्तन किये जा सकें।"

दुर्भाग्य से आज की परिस्थितियों विशेषकर निर्धनों और अनुसूचित जातियों और जनजातियों की बदहाली को देखने के लिये डॉ. अंबेडकर आज जीवित नहीं हैं। वे जीवित होते तो हालात बिल्कुल अलग होते

हमारी संवैधानिक योजना में, न्याय के सामाजिक और आर्थिक पहलुओं को मुख्य रूप से कानून निर्माताओं–संसद और राज्य विधान मंडलों के लिये छोड़ दिया गया। ऐसा इस स्थिति के बावजूद किया गया कि अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातियों के विकास के लिए सामान्य कानून के माध्यम से संविधान के तहत संसद और राज्य विधानसभा को अधिकार दिया गया है। फिर भी इन वर्गों के लिये न्याय सुनिश्चित करने के लिए कुछ भी ठोस नहीं किया गया है। हमें भूलना नहीं चाहिये कि डॉ० बीआर अम्बेडकर ने लगभग 70 साल पहले राष्ट्र को चेतावनी दी थी और संविधान सभा[19] को संबोधित करते हुए कहा थाः–

"26 जनवरी 1950 को हम राजनीतिक जीवन में समानता और सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में असमानता प्राप्त कर लेंगे। हमें इस विरोधाभास को जल्दी से जल्दी दूर कर लेना चाहिये, नहीं तो वे लोग जो असमानता से पीड़ित हैं उस राजनीतिक लोकतंत्र को छिन्न–भिन्न कर देंगे जिसे संविधान सभा ने बड़े परिश्रम से तैयार किया है।"

दुर्भाग्य से आज की परिस्थितियों विशेषकर निर्धनों और अनुसूचित जातियों और जनजातियों की बदहाली को देखने के लिये डॉ. अंबेडकर आज जीवित नहीं हैं। वे जीवित होते तो हालात बिल्कुल अलग होते।[20]

देश में लगभग 1091 जातियां और 86 जनजातियां (कुल 1677) हैं। उनमें से केवल 4–5 प्रमुख जातियां और कुछ जनजातियाँ)

उन 1677 अनु.जाति और अनु.ज.जाति के लिए किए गए सभी आरक्षण व संरक्षण लाभों को हड़पती जा रही हैं। महाराष्ट्र में महार, आंध्र प्रदेश में माला, तमिलनाडु के परिहा और उत्तर प्रदेश के चमार और अन्य हिंदी भाषी राज्यों में प्रमुख लाभार्थियों में हैं।[20] इन प्रमुख जातियों को लगातार सरकारों द्वारा उन्नत, पोषित और संरक्षित किया जा रहा है) जबकि अत्यंत पिछड़ी हुई जातियों को संवैधानिक संरक्षण व रियासतों से वंचित किया जा रहा है। 1931 में जनगणना आयुक्त रहे जे.एच. हटन ने संवैधानिक सुरक्षा उपायों के उद्देश्य से अनु.जाति और अनु.जन जाति की पहचान के लिए 9 बिन्दुओं पर परख का सुझाव दिया था। अस्पृश्यता उनमें से प्रबल कसौटी थी और इसके साथ ही सफाईकर्मी तथा जानवरों की चमड़ा रंगाई का निम्न पेशा भी।[22] यथार्त : दो प्रकार के अस्पृश्य हैं उदाहरण ार्थ) 'वास्तविक' और 'विधित' अस्पृश्य। जी.एस.पाल, जिन्होंने डॉ० अंबेडकर की उपस्थिति में भारतीय फ्रेंचाइजी आयोग के समक्ष यूनाइटेड प्रांत हिंदू बैकवर्ड क्लासेस लीग का प्रतिनिधित्व करते हुए प्रस्तुत किया कि[23]:–

"भंगी एकमात्र जाति है जो सार्वभौमिक अस्पृश्य है) जिसके स्पर्श मात्र को बहुत अवांछित और प्रदूषणयुक्त माना जाता है"

कई अन्य जातियों या समुदायों को, जो वास्तव में अस्पृश्य नहीं थे) अनुसूची में शामिल कर लिया गया था। अभी हाल ही में तमिलनाडु के देवेंद्रकुला वेल्लालर (संख्या में 60 लाख) समुदाय ने अपने समुदाय को अनुसूचित जाति की सूची से बाहर करने हेतु एक ज्ञापन केन्द्र सरकार के समक्ष प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि 1920 में उनके विरोध के बावजूद उन्हें अनु.जाति की अनुसूची में शामिल किया गया था। उनका कहना है कि वे पिछले 100 वर्षों[24] से अनु.जाति की अनुसूची से उन्हें बाहर किए जाने की लड़ाई लड़ रहे हैं। हालांकि केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा नियुक्त विभिन्न समितियों और आयोगों की रिपोर्ट में पाया गया है कि संवैधानिक लाभ लक्षित लाभार्थियों तक नहीं पहुंच पा रहे हैं और सफाईपेशा लोग मुख्य रूप से इसका नुकसान उठा रहे हैं।

1930–31 के दौरान गोल मेज सम्मेलनों (आरटीसी) में) डॉ० अम्बेडकर की प्रमुख चिंता यही थी कि भविष्य के संविधान में वंचित वर्गों के हितों का संरक्षण और सुरक्षा कैसे की जाए? उन्होंने गोलमेज सम्मेलन की अल्पसंख्यक समिति को एक ज्ञापन प्रस्तुत किया जिसमें उन्होंने अन्य राजनीतिक संरक्षण उपायों के अतिरिक्त सरकारी सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व की मांग उठाई।[25] उसके बाद डॉ० अम्बेडकर ने पूना संधि, 1932 के दौरान भी यही मांग उठाई जिसे बाद में भारत के संविधान में शामिल कर लिया गया। मेरे अध्ययन और शोध के अनुसार राजनीतिक आरक्षण के बजाय कमजोर वर्गों के विकास और सशक्तीकरण में सार्वजनिक रोजगार अधिक कारगर रहा है। आज जो भी विकास दिखाई दे रहा है (वह केवल सरकारी नौकरियों में आरक्षण के कारणा है।[26]

1932 के पूना संधि की पृष्ठभूमि में महात्मा गांधी ने अस्पृश्यता के विरुद्ध आंदोलन शुरूः किया। आजादी के बाद "हरिजन कल्याण के गांधी दर्शन" के प्रभाव में कांग्रेस उनके लिए विभिन्न सरकारी नीतियां व उपाय लागू करने के लिए बहुत उत्साहित रही और उनके लिए योजना, बनाई गई।[27] लेकिन स्वतंत्रता के पूर्व के सामाजिक सुधार आंदोलन को बाद में त्याग दिया गया। जिसके परिणामस्वरूप निचली जातियां उपेक्षित होती चली गई। जबकि उच्च जातियों ने 'समाजवादी पद्ध ति' के फल का भरपूर आनंद लिया) जो आखिर में मंडल प्रथम और द्वितीय के कारण उनके हाथ से रपट गया।[28] उसके बाद कांग्रेस की सरकारें आती चली गयीं और अनुसूचित जातियों और जनजातियों के धनवान और प्रभावशाली सदस्यों को आगे बढ़ाती चली गयीं और इन समुदायों में भी जो पिछड़े हुये लोग थे उन्हें आगे बढ़ने ही नहीं दिया गया।

रेलवे के पूर्व मंत्री स्व० जगजीवन राम, विशेष रूप से निचले स्तर, उदाहरणार्थ चतुर्थ श्रेणी, के सार्वजनिक रोजगार के महत्व से अवगत थे। चतुर्थ श्रेणी की नौकरियों में लगभग 20 छोटे और मासिक नौकरियों या पदों जैसे कि चपरासी, दफ्तरी, सफाईवाले उदाहरणार्थ सफाईकर्मी और मेहतर तथा धोबी) मोची और खलासी शामिल हैं। ये नौकरियां गरीब) अशिक्षित) अर्ध शिक्षित और विशेष रूप से अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के लिए थीं। वे जानते थे कि सार्वजनिक रोजगार के अवसर प्रदान कि, बिना इन वर्गों का विकास संभव नहीं था। वह यह भी जानते थे कि यह छोटी नौकरियां/पद ऊपर उठने के लिए एक मात्र स्रोत थे। इसलिए उन्होंने एक नीतिपरक निर्णय लिया और एक कार्यालय ज्ञापन यह कहते हुये निर्गत किया कि रेल मंत्रालय में सभी चतुर्थ श्रेणी नौकरियां/पद केवल अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति द्वारा ही भरे जाएंगे।[29].

1995 और 2005 में पांचवें और छठे वेतन आयोग ने चतुर्थ श्रेणी का विलय तृतीय श्रेणियों में करके एक नयी तृतीय श्रेणी बहु कार्य कर्मचारी अर्थात अनेक काम करने वाले कर्मचारियों की श्रेणी का निर्माण करने की सिफ़ारिश की। अतः 2005 के वेतन आयोग ने चतुर्थ श्रेणी कार्यों के निषेध की ही सिफ़ारिश की थी। असल बात यह है कि केन्द्र और राज्य सरकारों में सार्वजनिक रोज़गार का 95 प्रतिशत चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों से ही निर्मित है।

1930-31 के दौरान गोल मेज सम्मेलनों (आरटीसी) में डॉ. अम्बेडकर की प्रमुख चिंता यही थी कि भविष्य के संविधान में वंचित वर्गों के हितों का संरक्षण और सुरक्षा कैसे की जाए? उन्होंने गोलमेज सम्मेलन की अल्पसंख्यक समिति को एक ज्ञापन प्रस्तुत किया जिसमें उन्होंने अन्य राजनीतिक संरक्षण उपायों के अतिरिक्त सरकारी सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व की मांग उठाई

सामाजिक समावेशन से सामाजिक अपवर्जन तक

'सामाजिक अपवर्जन' अपेक्षाकृत नया पदबंध

है। फिर भी, यह अवधारणा निर्धन और वंचित मानवता को लेकर होने वाली चर्चाओं और आलेखों में महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज करा चुकी है।[30] भूतपूर्व राष्ट्रपति के.आर.नारायणन 1990 की आर्थिक नीति और हाशिये पर पड़े वर्गों पर पड़ने वाले इसके प्रभावों को लेकर आशंकित थे। उन्होंने अपने दृष्टिकोण को यों अभिव्यक्ति दी है:

"उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण के तीन मुहानों वाला, तेज़ गति से आगे ले जाने वाला रास्ते पर 'कमज़ोर, वंचित' भारत को पार ले जाने के लिये भी सुरक्षित पैदल रास्ता होना चाहिये, जिससे कि देश का यह हिस्सा भी 'रुतबे और अवसर की समानता' के साथ आगे बढ़ सके।"

न्यायमूर्ति राजेन्द्र सच्चर ने भी हाशिये पर पड़े वर्गों पर भूमण्डलीकरण के प्रभावों को लेकर सचेत करते हुये कहा था, "भूमण्डलीकरण के प्रभावों को हमें बेहतर ढंग से संभालना होगा ताकि सभी वंचित वर्गों के जीवन के स्तर में सुधार हो सके। हमें संविधान पर दोष मढ़ने से बचना होगा।"[31] सच्चर ने जोसेफ़ स्टीग्लिट्ज़ के इस कथन को उद्धृत किया था कि, "संसार के अधिकांश हिस्सों में भूमण्डलीकरण की व्यवस्था जिस तरह से की गयी है उससे लगता है कि यह शैतान के साथ सीधा समझौता था।" प्रख्यात अर्थशास्त्री जगदीश भगवती भी अब मानते हैं कि "भूमण्डलीकरण असमानताओं में वृद्धि करता है जब तक इन बढ़ती हुई असमानताओं को कम करने के लिये क़दम नहीं उठाए जाते, समाज के जिन वर्गों की हालत बुरी है, वह बदतर होती चली जाएगी।"[32]

जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हुं कि आश्चर्य की बात थी कि आज़ादी के बाद कांग्रेस सरकारों ने दावा किया कि वे गरीबों और दलितों की पक्षधर थीं और उनके लिये समावेशी नीतियां बनाती थीं, परंतु बाद में इन्होंने समाज कल्याण की अपनी स्वतंत्रता पूर्व की नीतियों की अनदेखी करनी शुरू कर दी। 1990 के दशक के दौरान सरकार ने एक कदम आगे बढ़कर हाशिए वाले वर्गों की सामाजिक–आर्थिक स्थितियों को जानते हए भी प्रछन्न रूप से

अर्थव्यवस्था, आधारभूत संरचना, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में, चौतरफा विकास के बावजूद जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा, विशेषकर अनुसूचित जाति और जनजाति में भी जो पिछड़ा हुआ वर्ग है, अभी भी आगे नहीं बढ़ पा रहा है

वैश्वीकरण के बहाने केन्द्रीय वेतन आयोग की सिफारिशों को लागू करने का फैसला किया। इसलिए स्वच्छता कार्य सहित चतुर्थ श्रेणी के पदों को अंततः आउटसोर्सिंग के अन्तर्गत ले आए। हैरानी की बात यह है कि इन वर्गों पर इस नीति के संभावित प्रभाव के अध्ययन किए बिना ही और उनके लिए वैकल्पिक नौकरियों य व्यवसायों की पहचान किए बिना ही यह फैसला किया गया था। इसके अलावा सरकार ने नीति निर्णय लेने के दौरान अनुसूचित जाति के राष्ट्रीय आयोग और अनुसूचित जनजाति के लिए राष्ट्रीय आयोग से परामर्श नहीं लिया जो संविधान के अनु. 338 और 338 ए के अनुसार अनिवार्य शर्त है।[33] सरकार ने प्राकृतिक न्याय; (अनुच्छेद 14) के सिद्धांतों का पालन नहीं किया।[34] और संविधान के अनु– 16) 17) 21 और 23) 24 (शोषण के खिलाफ होने का अधिकार)) अनु. 38 और 46 के प्रावधानों का पालन नहीं किया।[35] सरकार ने भारतीय अनुबंध अधिनियम) 1970 की धारा 10 (अनुबंध श्रम के रोजगार का निषेध) और अन्य श्रम कानूनों का भी पालन नहीं किया।[36] आश्चर्य की बात है कि उन्होंने श्रम मंत्रालय से परामर्श करने का कष्ट भी नहीं किया जो कि विभिन्न श्रम कानूनों के लिए प्रशासनिक मंत्रालय है। इसके अलावा सरकार ने सफाईकर्मियों के लिए बनाए गए राष्ट्रीय सफाई कर्मचारी आयोग से भी परामर्श लेना पसंद नहीं किया। इसी अधिनियम की धारा 8 (1) (ए) के अन्तर्गत) आयोग का दायित्व है कि कार्रवाई योजना के तहत सुविधाओं और अवसरों में असमानताओं को खत्म करने की दिशा में समयबद्ध विशिष्ट कार्यक्रम बनाने की सिफारिश भारत सरकार से करे।[37]

आउटसोर्सिंग के माध्यम से सरकार ने अंततः आरक्षण के काफी हिस्से को समाप्त कर दिया। परिणामतः निचले स्तर पर अनुसूचित जातियां और अनुसूचित जनजातियां अनेक सेवा लाभों व आर्थिक लाभों के साथ–साथ नौकरियों और सामाजिक सुरक्षा को भी गंवा रहे हैं। उन्हें अब अनुबंध के आधार पर काम करने के लिए विवश किया जा रहा है। ठेकेदार उनकी गरीबी और निरक्षरता के कारण उनका शोषण करते हैं, उन्हें उनकी न्यूनतम मजदूरी और अन्य सुविधाएं देने से भी इनकार करते हैं। सफाई कर्मचारियों और उनमें विशेष रूप से महिला कर्मियों का शोषण चिंता का प्रमुख कारण है। इसलिए इन निम्न स्तरीय श्रमिकों की ज़िन्दगी ठेकेदारों की दया पर निर्भर करती है। इस प्रकार उनकी आवाज को दबा दिया गया और अब वे (खुद को सरकार के कल्याणकारी एजेंडा से बाहर महसूस कर रहे हैं।[38]

अर्थव्यवस्था, आधारभूत संरचना, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में, चौतरफ़ा विकास के बावजूद जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा, विशेषकर अनुसूचित जाति और जनजाति में भी जो पिछड़ा हुआ वर्ग है, अभी भी आगे नहीं बढ़ पा रहा है। 'स्वतंत्रता' और 'संविधान' के लाभ उन्हें छू भी नहीं पाए हैं। गरीब और अमीर में अंतर काफ़ी बढ़ गया है। इसलिये हैरानी नहीं होनी चाहिये कि भारत वैश्विक धरातल पर अनेक सूचकांकों में अत्यंत निम्न स्तर पर है। वैश्विक भूख सूचकांक अर्थात ग्लोबल हंगर इंडेक्स में भारत 103वें स्थान पर है जिसका अर्थ होता है कि भारत में भुखमरी बहुत अधिक है। मानव विकास सूचकांक में बारत 189 में से 130 वें पायदान पर है। यहां भारत निचली तिहाई में है और प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद के क्षेत्र में भी निचली तिहाई में है यानी 188 देशों में 140 वें पायदान पर।"[39] वर्तमान सरकार का संदेश "सबका साथ, सबका विकास" (सामूहिक प्रयास, समावेशी विकास) सामाजिक न्याय के प्रति उसकी प्रतिबद्धता की एक अभिव्यक्ति है। लेकिन सरकार के कार्यकाल के अंत में

उस उद्देश्य की प्राप्ति के कोई संकेत नहीं हैं। इसलिए पहले की भांति ही यह "गरीबी हटाओ" या "चमकता भारत" की तरह एक खोखले वादे और चुनावी जुमले/नारे की तरह दिखता है।[40] अतः न्यायमूर्ति जगदीश शरण वर्मा ने ठीक ही कहा है कि न्याय के वितरण और समानाधिकारवादी प्रवृत्ति वाली समाज व्यवस्था को सुनिश्चित करके राज्य लोकहित को प्रोत्साहित करने में असफल रहा है।"[41]

"कई बरस पहले (19 नवंबर 1990) प्रतिष्ठित ब्रिटिश साप्ताहिक दि इकॉनोमिस्ट ने एक मत प्रकट किया था (जिसमें बेबाकी और कठोरता दोनों ही थीं) और जिसपर हम (मैं मान चुका हूं) सभी को ध्यान देना चाहियेरू'भारत में तब तक कुशासन चलता रहेगा जब तक राजनीति नीतियों की संवाहक बनी रहेगी जबकि इसका उलटा होना चाहियेकृअर्थात नीतियां ऐसी बनाई जाएं जो समकालीन राजनीति के अनुरूप हों।"

संविधान' और 'लोकतंत्र' बहुत आरंभ से ही सवालों में हैं। 1968 में प्रकाशित एक प्रतिष्ठित उपन्यास "राग दरबारी" के रचयिता श्री लाल शुक्ला ने लोकतंत्र की अवधारणा पर सवाल उठाया था। उन्होंने प्रतिप्रश्न उठाया "कैसे भारतीय लोकतंत्र लोगों का, लोगों द्वारा, लोगों के लिए लोकतंत्र के मूल आधार" से दूर है। उन्होंने आगे प्रश्न किया कि "भारतीय लोकतंत्र 'शक्ति सम्पन्न जातियों के लोगों का शासन है, न कि विधि का शासन।[42] शासन प्रणाली के मुद्दे पर अपनी अप्रसन्नता व्यक्त करते हुये प्रख्यात विधिवेता फाली एस. नरीमन ने एक विदेशी पत्रिका के दृष्टिकोण का समर्थन करते हुये कहा था।[43]

"कई बरस पहले (19 नवंबर 1990) प्रतिष्ठित ब्रिटिश साप्ताहिक दि इकॉनोमिस्ट ने एक मत प्रकट किया था (जिसमें बेबाकी और कठोरता दोनों ही थीं) और जिसपर हम (मैं मान चुका हूं) सभी को ध्यान देना चाहियेः 'भारत में तब तक कुशासन चलता रहेगा जब तक राजनीति नीतियों की संवाहक बनी रहेगी जबकि इसका उलटा होना चाहिये अर्थात नीतियां ऐसी बनाई जाएं जो समकालीन राजनीति के अनुरूप हों।"

'संविधान' और 'लोकतंत्र' बहुत आरंभ से ही सवालों में हैं। 1968 में प्रकाशित एक प्रतिष्ठित उपन्यास "राग दरबारी" के रचयिता श्री लाल शुक्ला ने लोकतंत्र की अवधारणा पर सवाल उठाया था

हाल ही में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ प्रमुख मोहन भागवत ने नई दिल्ली में एक समारोह में बोलते हुए 'संविधान' ''शासन' और 'जवाबदेही' पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा–:

"––– कि सार्वजनिक संगठनों को सत्तासीन लोगों को जिम्मेदार मानने की भूमिका निभानी है और उन्हें सत्ता के अधीन नहीं होना चाहिए, –" गारंटी क्या है कि 'शासन व्यवस्था (सत्ता) संविधान का पालन करेगी? लोगों के संगठनों के नेतृत्व में सतर्क नागरिक ही असल गारंटी हैं और इसलिए उन्हें सत्ता के प्यादे नहीं बनना चाहिए–––"[44]

राष्ट्रीय विधि दिवस के अवसर पर अन्य चीज़ों के साथ संवैधानिक नैतिकता पर बात करते हुये भारत के मुख्य न्यायाधीश रंजन गोगोई[45] ने कहा, "हमारा संविधान हाशिये पर पड़े लोगों की आवाज़ के साथ–साथ बहुसंख्यकों के विवेक की अभिव्यक्ति भी है। इसमें निहित ज्ञान संखट और स्थिरता दोनों ही स्थितियों में हमारा मार्गदर्शन करता रहा है।"

आरक्षण, समुन्नत वर्ग और समान न्याय

भारत में ब्रिटिश शासन के अंतिम दशकों से ही 'आरक्षण' या 'सकारात्मक' कार्रवाई का मुद्दा काफ़ी विवादास्पद रहा है। इतिहास के किसी भी विद्यार्थी को पता होगा कि, सदियों से सरकारी नौकरियों पर विशेषाधिकार प्राप्त छोटे से उच्च वर्ग का ही प्रभुत्व रहा है और यह स्थिति देशी राजाओं के शासन, मुगल बादशाही और ब्रिटिश राज सभी में वैसी की वैसी रही है। इस एकाधिकार का विरोध हुआ और इसके साथ ही लगातार मांग होती रही कि समाज के प्रत्येक वर्ग को उपयुक्त प्रतिनिधित्व मिले। अतः ब्रिटिश शासन के दौरान ही आरक्षण की नीति मज़बूती से स्थापित हो गयी थी। इस नीति को मूलतः सांप्रदायिक असमानताओं के समाधान के लिये बनाया गया था। अतीत में सामाजिक भेदभाव के कारण समाज के वंचित वर्ग जिन सामाजिक–आर्थिक असमनाताओं के शिकार हो गये थे उन्हें दूर करने के लिये एक सोशल इंजीनियरिंग उपकरण के रूप में इसके प्रयोग के बारे में नहीं सोचा गया था।समाज के 'केन्द्र' में उच्च जाति के हिन्दुओं के एकाधिकार को सबसे पहली चुनौती मुसलमानों से मिली थी और फिर ईसाइयों, सिक्खों और एंग्लो इंडियनों ने भी आवाज़ उठाई। अंततः इन्हें लगभग अपनी जनसंख्या के अनुपात में आरक्षण प्राप्त करने में सफलता प्राप्त हुई। 1874 से 1885 के बीच दक्षिण भारत में सांप्रदायिक आरक्षण की योजना का उभार नौकरियों में ब्राह्मणों के प्रभुत्व के विरुद्ध अब्राह्मणों के विद्रोह के फलस्वरूप हुआ था।[46]

1894 से 1922 के बीच महाराष्ट्र में "सामाजिक न्याय के आधारस्तंभ" छत्रपति साहूजी महाराज ने बंधुआ मज़दूरी पर प्रतिबंध लगा दिया और पिछड़े वर्गों के लिये नौकरियों में 50 प्रतिशत आरक्षण उपलब्ध कराया।[47] उसके बाद बम्बई सरकार (गुजरात का मूल राज्य)और गुजरात राज्य ने 1928 में ओ एच बी स्टार्टे आयोग, 1972 में न्यायमूर्ति ए आर बख्शी आयोग और 1981 में न्यायमूर्ति सी वी राने आयोग को नियुक्त किया। स्टार्टे आयोग ने ही पहली बार पिछड़े वर्गों का वर्गीकरण किया ताकि समाज के विभिन्न वर्गों को समान प्रतिनिधित्व दिया जा सके। 1920 से 1935 तक आरक्षण नीति को परंपरा से वंचित चले आ रहे उन वर्गों के लिये अपनाया गया जिन्हें 'अछूत' या 'दलित' कहा जाता था। यह डॉ. भीमराव अंबेडकर के अथक परिश्रम और संघर्ष का परिणाम था। गुजरात में बख्शी और राने आयोगों को पिछड़े वर्गों की पहचान करने और उनके उत्थान के लिये सुझाव देने के

उद्देश्य से नियुक्त किया गया था। कर्नाटक में 1990 में न्यायमूर्ति ओ चिन्नप्पा रेड्डी आयोग का गठन किया गया। इस आयोग ने अन्य चीज़ों के साथ यह सुझाव भी दिया जनता के कुछ विकसित और समृद्ध वर्गों को आरक्षण न दिया जाये।

उत्तर भारत में पंजाब सरकार ने सबसे पहले अनुसूचित जातियों और जनजातियों को उपवर्गों में बांटने की शुरुआत की। पहले तो 1959 में यश समिति ने भंगी और मेहतर समुदायों के लिये 5 प्रतिशत आरक्षण अलग से रखने की सिफ़ारिश की।[48] उसके बाद 1965 में भारत सरकार की बी.एन लोकुर[49] समिति ने अपेक्षाकृत उन्नत और धनी जातियों और जनजातियों (समुन्नत वर्ग/क्रीमी लेयर)को अनुसूची से निकाले जाने की सिफ़ारिश की। पंजाब सरकार ने 1975 में अनुसूचित जातियों के वर्गीकरण को लागू किया और आरक्षण को दो खंडों में बांटकर प्रत्येक खंड को 50 प्रतिशत का आरक्षण दिया। बाद में इसी पंजाब मॉडल का अनुकरण हरियाणा, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश और बिहार ने क्रमशः 1994, 2000, 2001/2002 और 2007/2008 में किया।

उप–श्रेणीकरण को चुनौती

अनुसूचित जातियों और जनजातियों में जो समृद्ध धनवान और प्रभुत्वशाली वर्ग है उसे आरक्षण के लाभ को अपनी जातियों और जनजातियों के भीतर अन्य समुदायों के साथ बांटना स्वीकार्य नहीं है। अतः उप–श्रेणीकरण के निर्णय को अनेक अदालतों में चुनौती दी गयी। अत; 2006 में उच्चतम न्यायालय ने ई.वी.चिन्नैया बनाम आंध्रप्रदेश सरकार और अन्य[50] मामले में उप–श्रेणीकरण को यह कहते हुये समाप्त कर दिया कि अनुसूचित जाति अपने में ही स्थापित इकाई और समरूप वर्ग है इसलिये अनुसूचित जाति का कोई भी उप–वर्गीकरण संविधान के 14, 15 और 16 अनुच्छेदों का उल्लंघन है।

दूसरी ओर 1976 में उच्चतम न्यायालय ने आरक्षण के ख़तरों पर विचार करते हुये समुन्नत वर्ग अर्थात क्रीमी लेयर की अवधारणा का प्रतिपादन करते हुये एक नई पहल की। न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने 'एन एम थॉमस और अन्य'[51] मामले में किये गये निर्णय के खंड 124 में कहा:"पिछड़ी जाति या वर्ग के आरक्षण के लाभों को कुल मिलाकर ऊपरी समुन्नत वर्ग (क्रीमी लेयर) ही हड़प लेता है और कमज़ोरों में भी जो सबसे कमज़ोर होते हैं, वे वैसे के वैसे रह जाते हैं और ऊंचाइयों पर बैठे उन्ही के भाग्यशाली जाति–सदस्य सारी मलाई चाट जाते हैं..."

न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर[52] आरक्षण नीति के उद्देश्यों को रेखांकित करते हुये आगे कहते हैं:"...स्पष्ट है कि अनुच्छेद 16(4) को इसलिये नहीं बनाया गया था अधिक से अधिक हरिजनों को सरकार में भंगी या मेहतर बनाया जाये अपितु इन्हें अधिकारियों और विभाग प्रमुखों के रूप में नियुक्त किया जाना था, जिससे कि प्रशासनिक सत्ता उच्च और निचले दोनों ही वर्गों में समान रूप से बंटी रहे, समरूप और एकीकृत समुदाय के रूप में अभिव्यक्त हो..." क्रीमी लेयर की इस अवधारणा को उच्चतम न्यायालय ने सबसे पहले 1992 में 'इंदिरा साहनी'[53] के मामले में लागू किया। यह मामला अन्य पिछड़ा वर्ग (ओ बी सी) के लिये आरक्षण से संबद्ध था। 2006 में इस अवधारणा को एम.नागराज के मामले[54] में और 2018 में जरनैल सिंह[55] के मामले में अनुसूचित जातियों और जनजातियों तक विस्तारित किया गया। 'एन एम थॉमस' का उद्देश्य बिल्कुल अलग था, अर्थात दलितों और महादलितों को सरकारी नौकरियों में समान प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करना। परंतु विडंबना यह है कि 1976 में एन एम थॉमस' निर्णय के बावजूद, प्रभुत्वशाली और शक्तिशाली अनुसूचित जातियों और जनजातियों ने, जिन्हें न्यायमूर्ति अय्यर ने क्रीमी लेयर अर्थात समुन्नत वर्ग कहा था, अफसरशाही में नीचे से ऊपर तक सभी पदों पर अधिकार क्या एकाधिकार स्थापित कर लिया है। हुआ यह है कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों में जो आर्थिक पिछड़ेपन के शिकार वर्ग हैं उन्हें सरकारी नौकरियों में उनके जायज़ अधिकार से वंचित कर दिया गया है। उदहरण ाार्थ हरियाणा की न्यायमूर्ति गुरनाम सिंह समिति (1990) ने अपनी रिपोर्ट में सरकारी नौकरियों में गंभीर त्रुटियों को रेखांकित किया। उन्होंने पाया कि नौकरियों और अन्य क्षेत्रों में अति–प्रतिनिधित्व की समस्या है। अनुसूचित जातियोंकी कुल आबादी (1991की जनगणना के अनुसार) 24,64,012 थी। चमार 12,97,339, वाल्मीकि 4,88, 649 और धानक 2,69,436 थे। अन्य 34 जातियों की आबादी 4,08, 588 थी। परंतु जाति के अनुपात में सरकारी नौकरियों में प्रतिनिधित्व में भारी अंतर था। आई ए एस के 34 पदों में चमार/जाटव 32 पदों पर (94 प्रतिशत), वाल्मीकि और धानक एक एक पद पर (2. 94 प्रतिशत) थे। आइ पी एस के पांच पदों में चमार/जाटव 3 पदों पर (60 प्रतिशत) और वाल्मीकि 2 पदों पर (40 प्रतिशत) थे। धानक और अन्य जातियों जातियों में से कोई भी नहीं (0 प्रतिशत) था। आइ एफ एस के 7 पदों पर 5 चमार (71 प्रतिशत), 2 वाल्मीकि ((28 प्रतिशत) और धानक तथा अन्य जातियों में से कोई भी नहीं था। प्रथम श्रेणी के 147 अधिकारियों में चमार/जाटव 121 (83 प्रतिशत), वाल्मीकि 20 (17 प्रतिशत), और धानक 6 (8 प्रतिशत) थे। द्वितीय श्रेणी के 399 अधिकारियों में चमार/जाटव 368 (93 प्रतिशत), वाल्मीकि 18 (4 प्रतिशत) और धानक 13 (3 प्रतिशत) थे। और अंततः तृतीय श्रेणी के 18434 कर्मचारियों में चमार/जाटव 16608 (90 प्रतिशत), वाल्मीकि 1107 (6 प्रतिशत), धानक 554 (3 प्रतिशत) और अन्य 34 जातियों के 183 (2 प्रतिशत) कर्मचारी थे। पहली तीन श्रेणियों में अन्य 34 जातियों का प्रतिनिधित्व 0 प्रतिशत था।[56]

इससे स्पष्ट होता है कि अनुसूचित

अनुसूचित जातियों और जनजातियों में जो समृद्ध धनवान और प्रभुत्वशाली वर्ग है उसे आरक्षण के लाभ को अपनी जातियों और जनजातियों के भीतर अन्य समुदायों के साथ बांटना स्वीकार्य नहीं है। अतः उप-श्रेणीकरण के निर्णय को अनेक अदालतों में चुनौती दी गयी

जातियों के कुछ वर्गों को सरकारी नौकरियों में कितना कम प्रतिनिधित्व मिला था। अतः समिति ने अनुसूचित जातियों को दो खंडों में बांटने की सिफ़ारिश कीकृखंड 'ए' और खंड 'बी'। खंड 'ए' में 42 जातियां रखी गयीं और खंड 'बी' में केवल एक जाति और इसकी 6 उपजातियां रखी गयीं। इसके अनुरूप खंड 'बी' में चमार/जाटव को 50 प्रतिशत आारक्षण दिया गया। शेष 50 प्रतिशत खंड 'ए' की वाल्मीकि, धानक आदि, जैसी जातियों को दिया गया। आरक्षण के अनुपात को पिछड़ेपन की बजाय जनसंख्या पर आधारित किया गया।

कुल मिलाकर समूचे देश में आरक्षण के लाभ के असमान वितरण की यही स्थिति है। उपरोक्त आंकड़ों से स्पष्ट है कि 'दलितों में भी दलित' अर्थात महादलितों की उपस्थिति नौकरशाही और अन्य स्थानों पर नगण्य है। इसलिये 'इंदिरा साहनी', 'एम. नागराज', और 'जरनैल सिंह' मामलों में सुनाए गये फ़ैसले उन लोगों के किसी काम के नहीं हैं जिनका सरकारी नौकरी और अन्य क्षेत्रों में कोई प्रतिनिधित्व नहीं है। 1976 में 'एन.एम. थॉमस मामले में न्यायमूर्ति अय्यर ने इन्ही बिन्दुओं की ओर ध्यान दिलाया था।

यद्यपि उपश्रेणीकरण के अंतर्गत आरक्षण का एक बहुत बड़ा हिस्सा अर्थात 50 प्रतिशत एक ही जाति चमार/जाटव को दिया गया था और शेष 50 प्रतिशत अन्य 42 जातियों को दिया गया था फिर भी इस उप–श्रेणीकरण के परिणाम आश्चर्यजनक थे। परंतु इसके बावजूद अनुसूचित जातियों और जनजातियों के भीतर आर्थिक पिछड़ेपन के शिकार वर्गों को सरकारी नौकरियों और अन्य क्षेत्रों में प्रतिनिधित्व मिल रहा था। परंतु इसे दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि उच्चतम न्यायालय ने 2006 में 'ई वी चिनैया' मामले में जो फैसला सुनाया उसके फलस्वरूप इस उप–श्रेणीकरण को समाप्त कर दिया गया। 1994 से 2006 के बीच आर्थिक तौर पर पिछड़े वर्गों ने जीवन के सभी क्षेत्रों में उल्लेखनीय प्रगति कर ली थी।[57] परन्तु जैसा कि पहले ही कहा गया है कि यह विडम्बना ही थी कि चमार/जाटव वर्ग ने इस उप–श्रेणीकरण का विरोध किया क्योंकि वे आरक्षण के लाभ को आर्थिक तौर पर पिछड़े वर्गों के साथ बांटना नहीं चाहते थे और अंततः वे अपनी बात मनवाने में सफल रहे।

कुल मिलाकर समूचे देश में आरक्षण के लाभ के असमान वितरण की यही स्थिति है। उपरोक्त आंकड़ों से स्पष्ट है कि 'दलितों में भी दलित' अर्थात महादलितों की उपस्थिति नौकरशाही और अन्य स्थानों पर नगण्य है। इसलिये 'इंदिरा साहनी', 'एम. नागराज', और 'जरनैल सिंह' मामलों में सुनाए गये फैसले उन लोगों के किसी काम के नहीं हैं

इसी प्रकार सन् 2000 में आंध्र प्रदेश सरकार ने पंजाव और हरियाणा की तर्ज़ पर अनुसूचित जातियों और जनजातियों का उप–श्रेणीकरण करते हुये उन्हें चार खण्डों ए, बी, सी और डी में बांटने का फैसला किया। आंध्र प्रदेश की माला जाति उत्तर भारत की तरह चमार और महाराष्ट्र की तरह महार उप–श्रेणीकरण के पक्ष में नहीं थी। ई.वी. चिनैया(माला जाति) ने सरकार के निर्णय को आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय में चनौती दी। न्यायालय ने उप–श्रेणीकरण के पक्ष में फैसला सुनाया। इसके बाद चिनैया ने उच्चतम न्यायालय में विशेष अनुमति याचिका दायर कर दी। फिर जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है उच्चतम न्यायालय ने उप–श्रेणीकरण के विरोध में फ़ैसला सुनाया। ई.वी. चिनैया मामले के दुष्प्रभाव से आंध्र प्रदेश के अन्य पिछड़े वर्गों का भविष्य खटाई में पड़ सकता था। इसे रोकने के लिये 2006–07 में भारत सरकार ने न्यायमूर्ति उषा मेहरा आयोग को नियुक्त कर दिया। न्यायमूर्ति मेहरा ने सन् 2008 में अपनी रिपोर्ट[58] में अन्य बातों के साथ यह भी कहा कि अनुसूचित जातियां और जनजातियां अपने आप में एकमात्र समोंरूप इकाइयां नहीं हैं अपितु ये विभिन्न प्रकार की अलग–अलग जातियों से निर्मित हैं। न्यायमूर्ति मेहरा ने पंजाब और हरियाणा की तरह उपश्रेणीकरण का समर्थन किया और कहा कि इस पद्धति को आरक्षण के लाभों के समान वितरण के लिये क़ानूनी तौर पर बनाये रखा जा सकता है।

सामाजिक न्याय और उच्चतम न्यायालय

न्यायमूर्ति कुरियन जोसेफ़ ने उच्चतम न्यायालय से सेवानिवृत्ति के समय अपने विदाई भाषण में एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु की ओर ध्यान दिलाया था।[59] उन्होंने कहा था कि क़ानून के रखवालों का मौन आम आदमी की हिंसा से अधिक घातक होता है। अपनी कार्यपद्धति के बारे में बताते हुये उन्होंने कहा कि उनके पास जो भी मामला आया उसमें वे जीजान से लगे रहे और वंचितों, निर्बलों और निर्धनों के लिये अपनी प्रतिबद्धता बनाए रखी। उनके वक्तव्य का केन्द्रीय विचार था कि क़ानून के परिवृत्त से परे जाकर "क़ानूनी न्याय से हटकर न्याय" सुनिश्चित कराया जाए।[60] विचार को विस्तार देते हुये उन्होंने कहा कि न्यायाधीशों को 'संवैधानिक सहानुभूति' का निर्वाह करना चाहिये और "न्यायालय की सहानुभूति न्यायाधीश द्वारा प्रदान किया गया भिक्षादान नहीं, एक संवैधानिक न्यायालय का अपरिहार्य कर्तव्य है।"[61] उच्चतम न्यायालय की बार एसोसिएशन के अनुसार न्यायमूर्ति कुरियन एक संवेदनशील और मानवीय न्यायाधीश थे। मुझे पी.एन. भगवती, कृष्ण अय्यर, डी.ए. देसाई और के. के.मैथ्यू जैसे न्यायमूर्ति याद आते हैं जिनके फ़ैसलों में ग़रीबों, अस्पृश्यों और हरिजनों के प्रति संवेदना स्पष्ट दिखाई देती थी। 'एन.एम.थॉमस' मामले में न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने 1976 में 'समुन्नत वर्ग' अर्थात 'क्रीमी लेयर' की अवधारणा दी थी जो अब सिद्धांत ही मानी जाती है जबकि न्यायमूर्ति भगवती ने गरीबों, वंचितों और अस्पृश्यों के लिये दरवाज़े खोल दिये थे।

'इंदिरा साहनी' मामले के बाद 'ई.वी. चिन्नैया' मामले में उच्चतम न्यायालय को उपेक्षित वर्गों को न्याय दिलाने का अवसर मिला था। न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने 'एन.एम.थॉमस' मामले में इसका आधार तैयार कर दिया था। समय समय पर केन्द्रऔर राज्यों की सरकारों द्वारा नियुक्त अनेक समितियों और आयोगों ने इसकी

सिफ़ारिश भी की थी और उपेक्षित वर्गों को न्याय दिलाने का मुद्दा संविधान में भी प्रतिष्ठापित था। दुर्भाग्यवश न्यायालय ने 'ई.वी.चिन्नैया' मामले में 'एन.एम.थॉमस' के बिल्कुल विपरीत कार्य किया और गड़बड़ को दूर करने के लिये एक सकारात्मक कार्यनीति लागू करने का अवसर ही खो दिया। इससे ग़रीब, निर्धन और अस्पृश्य वर्ग जहां के तहां रह गये।

हैदराबाद के नालसार विधि विश्वविद्यालय के उपकुलपति फ़ैज़ान मुस्तफ़ा[62] ने आरक्षण और अन्य मामलों को लेकर उच्चतम न्यायालय के व्यवहार पर टिप्पणी करते हुये कहा है:

"न्यायतंत्र आरक्षण का समर्थक नहीं रहा है, इसलिये कई मामलों में 'महत्व' के नाम पर इसने आरक्षण देने की सरकार की शक्ति को अवरुद्ध करने का प्रयत्न किया है, जैसे पदोन्नति को आरक्षण से मुक्त रखना, कैच अप नियम, क्रीमी लेयर..."

'आरक्षण' या 'सकारात्मक कार्यवाही' का मुख्य आधार जॉन राव्ल्स और अन्य समाजविज्ञानियों द्वारा प्रतिपादित 'वितरण और पुनर्वितरणमूलक न्याय' का सिद्धांत है।[63]. दूसरे शब्दों में 'वितरणमूलक न्याय' 'सामाजिक न्याय' ही है। अतः मेरा व्यक्तिगत विचार यह है कि आज आरक्षण का समूचा मुद्दा ही न्यायतंत्र और शासनतंत्र दोनों के ही संवेदनहीन और प्रतिकूल रवैये से ज़बरदस्त अव्यवस्था का शिकार होकर रह गया है। इससे वितरणमूलक न्याय और सामाजिक न्याय के उद्देश्य का कोई अर्थ नहीं रह गया है।

संविधान और स्वतंत्रता ने अस्पृश्यों को क्या दिया है?

2017 में एक छोटी सी पुस्तिका छपी थी,–" संविधान और स्वतंत्रता ने अस्पृश्यों को क्या दिया है?"[64] पुस्तिका में इस बात पर विचार किया गया था कि किस तरह से अत्यंत पिछड़े वर्गों के साथ अन्याय किया गया है और उन्हें संवैधानिक लाभ से वंचित कर दिया गया है। इस तरह से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि अस्पृश्यों के साथ सरकारों ने लगातार धोखा किया है। विडंबना यह है कि जब 'अति–दलितों और वंचित–दलितों' ने सकारात्मक कार्यवाही की नीति में अपना हिस्सा मांगा तो प्रभुत्वशाली समूहों ने ज़ोर–शोर से उनका विरोध किया और उनपर अंबेडकर विरोधी और दलित एकता विरोधी होने का ठप्पा लगा दिया।[65] जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है 'ई वी चिनैया' के मामले में न्यायालय ने पहले ही उप–श्रेणीकरण को हटा दिया था इसलिये इसके सिवा कोई चारा न था कि धनवान जातियों/ जनजातियों को अनुसूची (अनुच्छेद 341 और 342) से हटा दिया जाये। इस राहत के लिये प्रार्थना करती हुई एक जनहित याचिका 2011 में मैंने उच्चतम न्यायालय में दायर की थी।[66] अनुसूचित जातियों और जनजातियों के उपेक्षित वर्गों को न्याय दिलाना ही इसका मुख्य उद्देश्य था। सामाजिक न्याय में विश्वास रखने वाले लोगों ने मेरी इस जनहित याचिका का समर्थन किया। विडम्बनाएं यहां भी सामने आईं। दलित बुद्धिजीवियों, कार्यकर्ताओं और राजनेताओं ने मुझे जी भरकर गालियां दीं। प्रमुख दलित बुद्धिजीवी और लेखक आनंद तेलतुंबड़े ने एक लेख लिखा जिसका शीर्षक थाकृ'एक विषाक्त जनहित याचिका से 'दलित' विघटन की योजना'।[67] शीर्षक से ही लगता है कि लेखक इस जनहित याचिका और उन लोगों को लेकर कितने क्रोधित और निराश हैं जो सकारात्मक कार्यवाही की नीति पर उनके एकाधिकार को प्रश्नांकित करते हैं।

सितंबर 2015 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रमुख मोहन भागवत ने कहा था कि आरक्षण नीति की समीक्षा होनी चाहिये जिससे कि पता चल सके कि इससे किस–किस को कितना लाभ पहुंचा है? हमने संघप्रमुख का समर्थन किया। आख़िर आरक्षण नीति की समीक्षा करने में बुराई ही क्या थी? हर किसी को जानने का अधिकार है कि पिछले 68 वर्षों में हर जाति को क्या मिला?[68] अनुसूचित जातियों और जनजातियों में हल्ला मच गया। यह समझना कठिन नहीं है कि वे आरक्षण नीति की समीक्षा से क्यों डरते हैं? पहले तो वे स्थिति को वैसे का वैसा बनाए रखना चाहते हैं। दूसरे उनकी सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक स्थिति की तुलना अनुसूचित जातियों और जनजातियों के अत्यंत पिछड़े वर्गों के साथ हो जायेगी तो यह साबित हो जायेगा कि उनकी स्थिति मज़बूत है। तो यह समीक्षा उनके विरुद्ध ही जायेगी और यही उनके ड़र का कारण है।

हमारे देश में सामाजिक न्याय राजनीतिक मुद्दा बन गया है। सभी राजनीतिक दल इसे राजनीतिक चश्मे से देखते हैं। उनके लिये राजनीतिक और चुनावी दृष्टिकोण ही प्रमुख है। जो लोग पिछड़ेपन के सबसे निचले स्तर पर हैं वे प्रतिकूल सामाजिक और राजनीतिक वातावरण के शिकार होकर बहुत ही बुरी स्थिति में जी रहे हैं। महाराष्ट्र सरकार ने हाल ही में मराठों के लिये 16 प्रतिशत अलग आरक्षण कि घोषणा की। तमिलनाडु सरकार ने 50 प्रतिशत अधिकतम सीमा के बावजूद 70 प्रतिशत आरक्षण दिया था। गुजरात के पटेल, हरियाणा के जाट और आंध्र प्रदेश के कापू भी अपने लिये कुछ ऐसी ही मांग कर रहे हैं।[69] ये प्रभुत्वशाली जातियां सत्ताधारी राजनीतिक दलों के लिये महत्वपूर्ण हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जिन वर्गों का राजनीतिक महत्व नहीं है उनके लिये सामाजिक न्याय एक मृगतृष्णा के सिवा कुछ नहीं है। जो वास्तव में अस्पृश्य है, जिसके लिये संवैधानिक सुरक्षा उपलब्ध कराई गई थी, वह अभी भी उपेक्षित ही है जबकि प्रभुत्वशाली वर्ग को सबकुछ दिया गया है। अतः यह वास्तव में इस संसार का एक अद्वितीय देश है जो मुख्यतः समृद्ध बाहुबलियों की सहायता करता है तथा निर्धनों और वंचितों की उपेक्षा करता है।

देश में जो लोग सीवरों और सफ़ाई

हमारे देश में सामाजिक न्याय राजनीतिक मुद्दा बन गया है। सभी राजनीतिक दल इसे राजनीतिक चश्मे से देखते हैं। उनके लिये राजनीतिक और चुनावी दृष्टिकोण ही प्रमुख है। जो लोग पिछड़ेपन के सबसे निचले स्तर पर हैं वे प्रतिकूल सामाजिक और राजनीतिक वातावरण के शिकार होकर बहुत ही बुरी स्थिति में जी रहे हैं

का काम करते हैं उनकी मृत्यु दर बहुत ऊंची है। 'मनुष्यों द्वारा मैला ढोने' और 'अस्पृश्यता' की परंपरा का उन्मूलन तो बहुत पहले किया गया था पर यह अभी भी जारी है। सत्ता प्रतिष्ठान और संविधान, दोनों में ही लोगों की आस्था कम होती जा रही है। छोटी छोटी बातों पर लोग न्यायालय में जाने के लिये मजबूर हो जाते हैं। न्यायतंत्र पहुंच से बाहर है क्योंकि वहां पैसा बहुत लगता है, जबकि नौकरशाही किसी की नहीं सुनती और न ही कोई उनसे कुछ पूछता है और इसी कारण से उन्हें किसी को न्याय मिलने, न मिलने से कोई मतलब नहीं है। दलितों के विरुद्ध अपराधों में चिंताजनक वृद्धि हुई है। राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो के आंकड़ों से पता चलता है कि अनुसूचित जातियों के विरुद्ध हुये अपराधों की दर भाजपा शासित राज्यों में सबसे ऊंची है।[70] बाहरी ठेका देना जिसे आउटसोर्सिंग कहते हैं, शिक्षा अनुदान, छात्रवृत्तियों के लिये कम धन उपलब्ध कराना, बढ़ती हुई बेरोज़गारी और स्वास्थ्य सेवाओं की कमी कुशासन और राज्य के नीति–निर्देशक सिद्धांतों को लागू करने की असफलता के कुछ ही उदाहरण हैं। ऐसा लगता है कि यह देश अब लोक–हितकारी राज्य रहा ही नहीं। अतः वर्तमान परिप्रेक्ष्य में 'सामाजिक न्याय' मात्र एक निरर्थक पदबंध होकर रह गया है।

निष्कर्ष

यहां कुछ झकझोरने वाले प्रश्न सामने आते हैं। हमारा संविधान किसके लिये है? संविधान के निर्माताओं के सपनों का क्या हुआ? सुशासन मूलभूत अधिकार क्यों नहीं हो सकता? विधानमंडल राज्य के नीतिनिर्देशक सिद्धांतों को लागू करने में असफल क्यों

ऐसा लगता है कि संविधान सभा ने राज्य के नीतिनिर्देशक सिद्धांतों को लागू करने की जिम्मेदारी विधान सभाओं को देने का जो फैसला किया था वह सही नहीं था। इन सिद्धांतों को 'मूलभूत अधिकारों' का ही हिस्सा बनाया जा सकता था

रहा? और केशवानंद भारती मामले में दिये गये प्रसिद्ध फैसले के बावजूद उच्चतम न्यायालय सामाजिक न्याय को सुनिश्चित करने में असफल क्यों रहा? राजीव धवन[71] ने हमारे पड़ोसी देशों में संविधानों के ध्वस्त हो जाने को लेकर सचेत किया है। ऐसा लगता है कि संविधान सभा ने राज्य के नीतिनिर्देशक सिद्धांतों को लागू करने की ज़िम्मेदारी विधान सभाओं को देने का जो फैसला किया था वह सही नहीं था। इन सिद्धांतोंको 'मूलभूत अधिकारों' का ही हिस्सा बनाया जा सकता था।

'क्रीमी लेयर' और 'अनुसूची से निकाल दिये जाने' को लेकर दिये गये फ़ैसले (बी. एन.लोकुर, सी वी राणे (गुजरात), चिनप्पा रेड्डी (कर्नाटक) और गुजरात उच्च न्यायालय का फैसला, 2004[72] मुख्यतः आरक्षण को समाप्त करने का ही काम करते हैं। इसका पूरा विश्लेषण किया जाये तो इससे आरक्षण की वर्तमान मात्रा कम हो जायेगी जो अनुसूचित जातियों, जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के लिये असहनिय होगा। लेकिन मुझे लगता है कि उचित यह रहेगा कि पहले अनुसूची में लाया जाये, फिर उसकी समीक्षा की जाए और तब निकाल दिया जाये, जैसे पहले उनको अनुसूची के अंतर्गत लाया जाये जिन्हें सकारात्मक कार्यवाही अर्थात आरक्षण की आवश्यकता है फिर समय–समय पर समीक्षा की जाये और तब उन वर्गों को निकाल दिया जाये जिन्हें आरक्षण की आवश्यकता नहीं है। यह प्रक्रिया अनुसूचित जातियों और जनजातियों को समाज की मुख्यधारा में मिलाने के लिये सहायक होगी। एक तो इससे प्रभुत्वशाली समुदायों का एकाधिकार समाप्त हो जायेगा, दूसरे अन्य समुदायों को भी समान अवसर प्राप्त होंगे। अतः इस प्रक्रिया को तब तक जारी रखना होगा जब तक समतावादी समाज अस्तित्व अस्तित्व में नहीं आता और संविधान का उद्देश्य पूरा नहीं होता।[73] इस तरह से आरक्षण की वर्तमान मात्रा भी वैसी की वैसी रहेगी। इस स्थिति को बनाये रखने के लिये 'समुन्नत वर्ग' अर्थात क्रीमी लेयर और 'उप–श्रेणीकरण' को साथ–साथ चलाना भी एक विकल्प हो सकता है। अतः देश को समुन्नत वर्गों अर्थात क्रीमी लेयर के अंतर्गत आने वाले समूहों को हर प्रकार के आरक्षण से बाहर करने के लिये एक राष्ट्रीय नीति की आवश्यकता है। चूंकि ऐसा अब तक नहीं हुआ है, इसलिये यही समय है कि जिस नेतृत्व के हाथ में निर्णय है वह इसे क़ानूनी निर्देश के रूप में चिन्हित करे।

लेखक दलित हितों के लिये संघर्षरत कार्यकर्ता हैं। वे भारत सरकार में सहायक सचिव रह चुके हैं। केंद्र सरकार के विधि सलाहकार रहने के साथ साथ आयकर अपीलीय न्यायाधिकरण, विधि और न्याय मंत्रालय, भारत सरकार के न्यायिक सदस्य का दायित्व भी संभाल चुके हैं। ■

संदर्भ संकेत

1 *भारतीय संविधान का भाग–4 देखें (102वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2018 के अंतर्गत संशोधित,पृ. 34)। देखें के आई विभूते का आलेख , सोशल जस्टिसः कांस्टिट्यूशनल स्कीम एण्ड स्पिरिट, मोहम्मद शब्बीर द्वारा संपादित ग्रंथ बी. आर.अंबेडकर, स्टडी इन लॉ एण्ड सोसायटी, (1997) पृ। 42–58.*

2 *भाग–3, भारतीय संविधान*

3 *भाग–3, भारतीय संविधान*

4 *देखें फाली एस. नरीमन, दि स्टेट ऑफ़ नेशन, इन दि कन्टेक्सट ऑफ़ इण्डियाज़ कॉन्स्टिट्यूशन, (2013), पृ112*

5 *देखें के.सी.सूरी, डायलेक्टिक ऑफ़ सोशल जस्टिस, डिवाइडिंग दलित्स, राइटिंग्स ऑन सब कैटेगराइज़ेशन ऑफ़ शेड्यूल्ड कास्ट्स, (2009), पृ. 172–187 ।.*

6 उपेन्द्र बख्शी, जूरिस्प्रूडेंस ऑफ़ इन्वर्टेड कॉमाज़, बायोलॉजी डज़ नॉट ट्रंप ह्यूमन राइट्स, दि हिन्दू, सितंबर 3, 2018, पृ.9.

7 देखें, जूलियस स्टोन, ह्यूमन लॉ एण्ड ह्यूमन जस्टिस, (1966), पृ. 122–146

8 केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य ए आइ आर 1973 एस सी 1461.

9 केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य ए आइ आर 1973 एस सी 1461.

10 केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य ए आइ आर 1973 एस सी 1461.

11 केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य ए आइ आर 1973 एस सी 1461, दुर्गा दास बसु का शॉर्टर कॉन्स्टिट्यूशन ऑफ़ इण्डिया पृ.443–453 भी देखें.

12 तवलीन सिंह, पॉवर्टी, ग्लोरियस पॉवर्टी, दि संडे एक्सप्रेस, जनवरी, 15, 2017 पृ. 15.

13 डॉ. ओ.पी. शुक्ला, रिज़र्वेशन इशू, दि हिन्दुस्तान टाइम्ज़, शनिवार, 25.12.1989, पृ.8, ग्रैनविल ऑस्टिन द्वारा संपादित 'दि इण्डियन कॉन्सटिट्यूशन, कॉर्नरस्टोन ऑफ़ नेशन (1972), पृ.50.

14 भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश जे. एस. वर्मा का कथन, दि पॉवार ऑफ़ दि लेटर, दि पीपुल्स रिपब्लिक , दि इंडियन एक्सप्रेस, जनवरी 26, 2007 पृ. 4, पर उद्धृत।

15 विस्तृत चर्चा के लिये देखें होली ग्रेल, नॉट अ होली बुक, दि पीपुल्स रिपब्लिक , दि इंडियन एक्सप्रेस, जनवरी 26, 2007 पृ. 5.

16 वही।

17 राजीव धवन, इन हूज़ हैण्डस इज़ दि कॉन्स्टिट्यूशन?, दि इंडियन एक्सप्रेस, जनवरी 26, 2007 पृ. 6.

18 शिल्पा वेंकटरामन, नॉट जस्ट अ डॉक्युमेंट...इट मेंट होप गुड फ़्यूचर, दि इंडियन एक्सप्रेस, जनवरी 26, 2007 पृ. 6.

19 संविधान सभा में डॉ. भीमराव अंबेडकर का भाषण, 25 नवंबर. 1949.

20 वही, पाद टिप्पणी 13, ओ.पी. शुक्ला, दि इंडियन एक्सप्रेस, नवंबर 19, 1986 पृ. 8.

21 विकास पाठक, मेकिंग अ केस फॉर सब–कोटाज़, हिन्दुस्तान टाइम्ज़, जून 9, 2008, पृ.8। यगति चिन्ना राव द्वारा संपादित डिवाइडिंग दलित्स, राइटिंग्स ऑन सब–कैटेगराइज़ेशन ऑफ़ शेड्यूल्ड कास्टस (2009) पृ.9 भी देखें।

22 मार्क गैलेंटर, कम्पीटिंग ईक्वैलिटीज़, लॉ एंड दि बैकवर्ड क्लासेज़ इन इण्डिया (1984) पृ.20–153 यगति चिन्ना राव द्वारा संपादित डिवाइडिंग दलित्स, राइटिंग्स ऑन सब–कैटेगराइज़ेशन ऑफ़ शेड्यूल्ड कास्टस (2009) पृ.7 भी देखें।

23 वही, मार्क गैलेंटर, पृ.127 से आगे।*Ibid-*

24 नवभारत टाइम्ज़, साठ लाख लोग क्यों आरक्षण छोड़ना चाहते हैं? 23 अप्रैल, 2018, पृ.16

25 डॉ. भीमराव अम्बेडकर व्हाट कांग्रेस एण्ड गांधी हैव डन टु दि अन्टचेब्ल्ज़, (राइटिंग्स एण्ड स्पीच्ज़, खंड.9, (1991), पृ.41–52

26 डॉ, ओ. पी.शुक्ला, लेजिस्लेटिव रिज़र्वेशन एण्ड सोशल डिवेलपमेंट अन्डर दि इण्डियन कान्स्टिट्यूशन, (अप्रकाशित शोध प्रबंध), दिल्ली विश्वविद्यालय, 1999.

27 हरिजन कल्याण के लिये गांधी के दृष्टिकोण के लिये देखें, मुकुटबिहारी वर्मा, हिस्ट्री ऑफ़ दि हरिजन सेवक संघ, 1932–1968, (1971), पृ.

28 देखें, मेघनाद देसाई, दि रॉक एण्ड दि आर्क, दि पीपुल्ज़ रिपब्लिक, दि इंडियनएक्सप्रेस, जनवरी 26, 2007, पृ.2.

29 देखें रेल बंधु, भारत सरकार के रेल मंत्रालय द्वारा प्रकाशित पत्रिका, (2006)

30 अमर्त्य सेन, सोशल एक्सक्लूजन, कन्सेप्ट एप्लिकेशन स्क्रूटिनी, 2004, पृ. 14–16

31 दि हिन्दू, 26 नवंबर, 2018, पृ.8.

32 न्यायमूर्ति सच्चर, वी आर आल माइनॉरिटीज़ दि पीपुल्ज़ रिपब्लिक, दि इंडियन एक्सप्रेस, जनवरी 26, 2007, पृ.7

33 चूंकि चतुर्थ श्रेणी के पदों की आउटसोर्सिंग एक ऐसा मामला है जो अनुसूचित जातियों और जनजातियों को प्रभावित करता है। हमारे संगठन ने कार्मिक एवं प्रशिक्षण विभाग, गृह मंत्रालय, सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय, अनुसूचित जाति आयोग, सफाई कर्मचारी आयोग से सूचना का अधिकार अधिनियम के अंतर्गत पूछा कि क्या वेतन आयोग की सिफ़ारिशों को लागू करने से पहले किसी से कोई परामर्श किया गया था। उन्होंने सूचना दी कि इस मुद्दे पर किसी भि मंत्रालय या विभाग के साथ कोई परामर्श नहीं किया गया।

34 उपेन्द्र बख्शी (सं), के के मैथ्यू ऑन डिमोक्रेसी, ईक्वेलिटी एण्ड फ्रीडम, 1978, पृ.26–51.

35 देखें भारतीय संविधान, 1950 (102 वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2018 के अंतर्गत संशोधित)

36 अनुबंध श्रम विनियमन और उन्मूलन अधिनियम 1970, समान पारिश्रमिक अधिनियम 1976, न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम 1948 और कामगार क्षतिपूर्ति अधिनियम, 1923.

37 विस्तार के लिये देखें, अनुच्छेद 8, राष्ट्रीय सफ़ाई कर्मचारी आयोग अधिनियम, 1993.

38 सफ़ाई कर्मचारियों और अन्य स्वच्छता श्रमिकों की समस्याओं और शिकायतों को अनुसूचित जाति आयोग और सफ़ाई कर्मचारी आयोग की अनेक रिपोर्टों में उठाया गया है, परंतू किसी भी रिपोर्ट को संसद के दोनों सदनों में नहीं रखा गया है और रखा भी गया हो तो अभी तक कोई कार्रवाई नहीं की गयी है।

39 विस्तृत चर्चा के लिये देखें, पी. चिदंबरम दोज़ हू आर लेफ़्ट बिहाइण्ड, दि इण्डियन एक्सप्रेस, नवम्बर 11, 2018, पृ.13.

40 देखें राजीव धवन, पाद टिप्पणी 17.

41 *वही, पाद–टिप्पणी, 14.*

42 *प्रकाश रंजन, विकास हैज़ मिस्ड दि बस, दि संडे एक्सप्रेस मैग्ज़ीनकृ"आइ" नवंबर 18, 2018, पृ.2।*

43 *फाली एस नरीमन, वही, पाद–टिप्पणी 4, पृ. 257–261.*

44 *दि टाइम्स ऑफ़ इन्डिया, नवंबर 11, 2018, पृ.10.*

45 *दि इंडियन एक्सप्रेस, नवंबर 27.11. 2018, पृ.8.*

46 *डॉ. परमानंद सिंह, "ईक्वेलिटी, रिज़र्वेशन एण्ड डिस्क्रिमिनेशन इन इण्डिया" (1985), पृ. 80–96*

47 *पी.बी.सालुंखे (सं) "छत्रपति साहू, दि पिलर ऑफ़ सोशल डिमॉक्रेसी साहू जी महाराज" (1994–95), पृ. 230–248.*

48 *यश समिति पंजाब, 1959–60.*

49 *बी.एन.लोकुर समिति 1965.*

50 *ई. वी.चिनैया बनाम आंध्र प्रदेश राज्य (2005) 1 SCC 394.*

51 *केरल राज्य बनाम एन.एम.थॉमस और अन्य (1976) 2 SCC 310.*

52 *वही।*

53 *इंदिरा साहनी बनाम भारत संघ, 992 Supp. (3) SCC 217.*

54 *एम नागराज बनाम भारत संघ (2006) 8 SCC 212M.*

55 *जरनैल सिंह और अन्य बनाम लक्ष्मी नारायण गुप्ता और अन्य, SC (DOJ: 26. 9 2018)*

56 *देखें गुरनाम सिंह आयोग की रिपोर्ट, 1990.*

57 *वही। यह भी देखें ओ.पी.शुक्ल द्वारा लिखित "व्हाट दि कान्सटिट्यूशन हैज़ गिवेन टु अनटचेब्ल्ज़"? 2017, हरियाणा की न्यायमूर्ति गुरनाम सिंह समिति की रिपोर्ट भी देखें. 1990.*

58 *न्यायमूर्ति उषा मेहरा समिति की रिपोर्ट,2008*

59 *दि हिन्दू, नवंबर 30, 2018, पृ 10.*

60 *दि इण्डियन एक्सप्रेस नवंबर 30, 2018, पृ.10*

61 *दि हिन्दू, नवंबर 30, 2018, पृ 10.*

62 *दि ट्रिब्यून, नवंबर 16, 2018,*

63 *ओ.पी.शुक्ला का विधि स्नातकोत्तर उपाधि हेतु दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रस्तुत अनछपा शोध प्रबन्ध देखें, "पोलिटिकल रिज़र्वेशन एण्ड डिस्ट्रिब्यूटिव जस्टिस" 1982, पृ. 60–77.*

64 *मिशन जस्टिस एक लघु प्रकाशन उद्यम है जो अनुसूचित जातियों और जनजातियों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने वाले सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों से संबंधित सामग्री उपलब्ध कराता है। अतः उद्देश्य केवल पाठकों को सूचना देना नहीं अपितु उन्हें वृहत्तस समाज को बंधनमुक्त करने के लिये प्रेरित करना भी है।*

65 *उपश्रेणीकरण से उत्पन्न् जातियों के आंतरिक संघर्ष के विस्तृत विवरण के लिये देखें "दि रैडिकल इन अंबेडकर, क्रिटिकल रिफ़्लेकशंस" में संकलित चंद्रैया गोपनि का आलेख "न्यू दलित मूवमेंट, एक अम्बेडकराइट पर्सपेक्टिव"। 2018, पृ 181–200।*

66 *दि टाइम्स ऑफ़ इन्डिया, अगस्त 24,2011,पृ 9.*

67 *इकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीक्ली, अक्तूबर 8, 2011,टवस. ग्स्प्ट छव 41, पृ.10–11.*

68 *दि हिन्दू, सितंबर 25, 2015, पृ 12.*

69 *संपादकीय पृष्ठ दि इण्डियन एक्सप्रेस, नवंबर 20, 2018, पृ 12*

70 *दि इण्डियन एक्सप्रेस, नवंबर 20, 2018, पृ 6। इण्डिया टुडे अक्तूबर 17, 2018 भी देखें।*

71 *राजीव धवन, वही, पाद टिप्पणी 17।*

72 *देखें समस्त गुजरात मोची समाज बनाम भारत संघ सचिव और अन्य के माध्यम से, गुजरात लॉ हेरल्ड (2004), पृ. 67।*

73 *देखें ओ.पी.शुक्ला, "रिज़र्वेशन इश्यू" दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 25.12.1989,पृ.8.*

श्रीमान् मसौदा समिति ने जो बहुमूल्य तथा महान सेवा की है उसकी मैं प्रशंसा करता हूँ। उसके सदस्य रात–दिन अथक परिश्रम करते रहे हैं जिसके फलस्वरूप ही महत्वपूर्ण अनुच्छेदों के सम्बन्ध में निर्णय हो सका है। मसौदा समिति के सभापति डा. अम्बेडकर ने जिस बुद्धिमत्ता तथा कार्यक्षमता का परिचय दिया है उसकी भी में प्रशंसा करता हूँ। (तुमूल हर्षध्वनि)। मैं भी उसी जाति का हूँ जिसने डा. अम्बेडकर को जन्म दिया है और मुझे इसका गर्व है कि उनकी कार्य पटुता को न केवल हरिजनों ने बल्कि भारत की सभी जातियों के लोगों ने स्वीकार किया है। अनुसूचित जातियों ने महान भक्त नन्दनार, महान वैष्णव सन्त निरुपाजानालवार और महान दार्शनिक निरुबलवार को जन्म दिया है जो इस देश के कोन कोने ही में नहीं बल्कि सारे संसार में विख्यात हैं।

इन महान हरजनों की नामावलि में अब हमें डा. अम्बेडकर का नाम भी जोड़ना है, जिन्होंने संसार को दिखा दिया है कि अनुसूचित जातियों का किसी से कम महत्व नहीं है और वे संसार में किसी भी महान कार्य को तथा महान सेवा को कर सकते हैं।

–श्री वी. आई. मुनिस्वामी पिल्ले
(मद्रास : जनरल)
भारतीय संविधान सभा के बाद विवाद

देवेश खंडेलवाल

भारत का संविधान और रियासतें

चैम्बर ऑफ़ प्रिंसेस यानी नरेन्द्र मंडल[1] की जनवरी 17–18, 1946 को एक बैठक बुलाई गई। पचास से अधिक विभिन्न रियासतों के नवाब, राजा अथवा महाराजा दिल्ली में एकत्रित हुए। यहाँ निर्णय लिया गया कि वह भारतीय संवैधानिक समस्याओं के समाधान में हर संभव सहयोग देने के लिए तैयार हैं।[2] बीकानेर के महाराजा ने अपने संबोधन में कहा कि हम भारत के राजा किसी अन्य से कम देशभक्त नहीं हैं। संविधान पर उनका मानना था, "मैं कह सकता हूँ कि यह मामला सामंजस्य का हैं। मुझे नहीं लगता कि इस सामंजस्य में कोई कठिन रूकावट आएगी। हम दोनों पक्ष सद्भावना के साथ और वास्तविकता को समझते हुए न्याय एवं निष्पक्षता की भावना से एक ऐसा संविधान बनने में समर्थ होंगे जिसमें रियासतें सुरक्षित होंगी और उनके अधिकारों का पर्याप्त रख–रखाव किया जाएगा।"[3]

भारत की नियति में अब एक नया मोड़ आने वाला था। अगले 18 महीनों में विभाजन की त्रासदी से लेकर स्वतंत्रता के सुखद एहसास का सफ़र तय किया जाने वाला था। रास्ते में उलझनों का आना तो लगभग पक्का था जो ब्रिटिश सरकार की पूर्व–नियोजित और मुस्लिम लीग की सांप्रदायिक नीतियों का नतीजा थीं। बावजूद इसके, 565 से अधिक छोटी–बड़ी देशी रियासतों में विभक्त भारत का एकीकरण हुआ। साथ ही भारतीयों द्वारा लिखित एक संविधान पूरे देश में लागू किया गया, जिसे विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र का महत्वपूर्ण हिस्सा माना जाता है।

भारत के स्टेट सेक्रेटरी, पेथिक लारेंस ने फरवरी 19, 1946 को स्वशासन की दिशा में एक घोषणा की। जिसके अंतर्गत ब्रिटिश संसद ने जल्दी ही तीन कदमों को उठाने का निर्णय लिया : (1) संविधान तैयार करने की विधि के रूप में एक समझौते के व्यापक उपायों को सुरक्षित करने के लिए ब्रिटिश भारत के निर्वाचित प्रतिनिधियों और रियासतों के साथ प्रारंभिक चर्चा; (2) संविधान बनाने के लिए निकाय का गठन; और (3) एक एग्जीक्यूटिव काउंसिल बनाना जिसे मुख्य भारतीय दलों का समर्थन मिला हुआ हो।[4] ब्रिटिश संसद ने यह तय कर लिया था कि भारत का नया संविधान भारतीयों को ही तैयार करना होगा। संविधान सभा में भी केवल भारतीय शामिल होंगे। उसके लिए जो भी कुछ आवश्यक शर्तें होंगी वह ब्रिटिश संसद अधिनियमित करेगी।

मार्च 24, 1946 को तीन वरिष्ठ ब्रिटिश अधिकारियों का एक कैबिनेट मिशन भारत आया। उन्होंने भारतीय नेताओं और रियासतों के महाराजाओं अथवा उनके प्रतिनिधियों से मिलना शुरू किया। अधिकतर रियासतों ने मिशन से वादा किया कि वह भारत में हो रहे इन परिवर्तनों में सहयोग देने के लिए तैयार हैं।[5] अनेक मुलाकातों और उठा–पठक के बाद मई 16, 1946 को ब्रिटिश संसद ने कैबिनेट मिशन की रिपोर्ट के आधार पर भारत में संविधान सभा के गठन की सूचना दी। तीन वर्गों में विभाजित किये गए ब्रिटिश भारत जिसमें चीफ कमिश्नर्स प्रान्त भी शामिल थे, उन्हें 296 सीटें दी गयी।[6] इसके अलावा रियासतों को 93 सीटें मिली लेकिन किस रियासत को कितनी सीटें मिलेगी उसके लिए एक वार्ता – समिति का बनाया जाना प्रस्तावित किया गया। मिशन ने संविधान के लिए एक आधारभूत प्रारूप भी तैयार कर लिया था। उसका मुख्य बिंदु था कि एक यूनियन ऑफ़ इंडिया बनाया जाएगा जिसमें ब्रिटिश भारत और रियासतें दोनों शामिल होगी।

मार्च 24, 1946 को तीन वरिष्ठ ब्रिटिश अधिकारियों का एक कैबिनेट मिशन भारत आया। उन्होंने भारतीय नेताओं और रियासतों के महाराजाओं अथवा उनके प्रतिनिधियों से मिलना शुरू किया। अधिकतर रियासतों ने मिशन से वादा किया कि वह भारत में हो रहे इन परिवर्तनों में सहयोग देने के लिए तैयार हैं

जिसका सरोकार विदेशी मामले, सुरक्षा और संचार से होगा और इन विषयों के लिए जरूरी पूंजी एकत्र करने की अनिवार्य शक्ति भी प्राप्त होगी।

चैम्बर ऑफ़ प्रिंसेस की स्थाई समिति की बैठक में मिशन का स्वागत किया गया। कुछ शर्तों को स्पष्टीकरण के लिए जरूरी समझा गया और उसके लिए नवम्बर 21, 1946 को वार्ता – समिति बना दी गई। इसमें चैम्बर के सदस्यों में चांसलर, भोपाल के नवाब के साथ पटियाला के महाराजा, नवानगर के जामसाहेब, सी.पी. रामस्वामी अय्यर, सुल्तान अहमद, मिर्ज़ा इस्माइल, डी. के. सेन, ए. रामस्वामी मुदालिर, के. एम. पाणिकर, विलासपुर के राजा (मनुभाई मेहता के स्थान पर), डूंगरपुर के महरवाल (डूंगरपुर के महाराजा विदर्भ सिंह के स्थान पर), वी. टी. कृष्णमचारी और रामचंद्र काक थे। चैम्बर, हालाँकि, पूरी तरह से सभी रियासतों का प्रतिनिधित्व नहीं करता था। कुछ महाराजा इसमें शामिल भी नहीं होना चाहते थे। कोचीन और बड़ौदा ऐसी रियासतें थी जिन्हें व्यक्तिगत तौर पर बातचीत करना अनुकूल लगा।[7]

मुस्लिम लीग की एक अलग और पूरी तरह से स्वतंत्र संप्रभु देश की मांग ने अब विकराल रूप ले लिया था। मोहम्मद अली जिन्ना ने लीग के निर्वाचित सदस्यों को दिल्ली बुलाया। उन्होंने बंगाल, पंजाब, सिंध, नार्थ–वेस्ट फ्रंटियर प्रोविंस, असम और बलूचिस्तान को जोड़कर पाकिस्तान की मांग के साथ संविधान सभा में कभी हिस्सा न लेने की प्रतिज्ञा भी ली।[8] अब एक असाधारण समस्या सामने थी – अगर भारत का विभाजन होता हैं तो संविधान सभा का प्रारूप कैसा होगा? रियासतों का प्रतिनिधित्व किस प्रकार तय किया जा सकेगा? ब्रिटिश संसद में तो विषय पर विचार भी किया जाने लगा था।[9]

तीन महीने बिताने के बाद मिशन वापस लौट गया और कांग्रेस ने इसकी सभी शर्तें मान ली थी। जुलाई 6, 1946 को बम्बई में आयोजित कार्यसमिति में जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि यह प्रश्न अभी अथवा बाद में कांग्रेस द्वारा मिशन की शर्तों को मानने का नहीं है। यह केवल संविधान सभा में प्रवेश की सहमति का प्रश्न है।[10] लीग विभाजन

यह तथ्य है कि रियासतों के अभिप्राय एक-दूसरे से अलग थे। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि कोचीन और बड़ौदा ने तो सीधी बातचीत का रास्ता अपनाया। जबकि दूसरी रियासतों ने वार्ता - समिति के अगले रुख का इंतजार करना ठीक समझा

की अपनी जिद पर अड़ गई थी। ब्रिटिश सरकार ने भी साफ कर दिया कि बिना लीग के संविधान सभा नहीं बुलाई जाएगी।[11] कांग्रेस इस देरी के लिए तैयार नहीं थी और वह सितम्बर 1946 में ही पहला सत्र बुलाना चाहती थी। आखिरकार, कई उतार–चढ़ाव के बाद दिसंबर 9, 1946 को पहला सत्र तो बुला लिया गया, लेकिन इसमें न तो लीग और न ही किसी रियासत की तरफ से कोई प्रतिनिधि शामिल हुआ।

यह तथ्य है कि रियासतों के अभिप्राय एक–दूसरे से अलग थे। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि कोचीन और बड़ौदा ने तो सीधी बातचीत का रास्ता अपनाया। जबकि दूसरी रियासतों ने वार्ता – समिति के अगले रुख का इंतजार करना ठीक समझा। फिर भी, दिसंबर 1946 से लेकर 1947 के शुरुआती महीनों में संविधान रचना की प्रक्रिया में रियासतों की भागीदारी सुनिश्चित करने की कोशिशें चलती रहीं। एक सदस्य, एम. आर. जयकर का सुझाव था कि केवल लीग ही नहीं बल्कि रियासतों के भी संविधान सभा में प्रतिनिधित्व तक के लिए चर्चा को स्थगित कर देना चाहिए।[12] इस सुझाव को संविधान सभा के बाहर से चैम्बर के सचिव, सुलतान अहमद के साथ हैदराबाद, मैसूर, त्रावणकोर और बीकानेर के दीवानों ने समर्थन दिया।[13] एक अन्य सदस्य, के. एम. मुंशी ने दिसंबर 21, 1946 को प्रस्ताव रखा कि रियासतों के साथ बातचीत के लिए संविधान सभा की एक समिति बनाई जाए। इसके सदस्यों में अबुल कलाम आजाद, जवाहरलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल, बी. पट्टाभि सीतारामय्या, शंकरराव देव और एन. गोपालस्वामी आयंगर थे। अंततः संविधान सभा को जनवरी 20, 1947 तक के लिए स्थगित कर दिया गया।

दोनों समितियों में आपसी बातचीत का सिलसिला लंबा चला और नतीजा भी मित्रतापूर्ण एवं संतोषजनक रहा। हालाँकि, चैम्बर की कुछ प्रतिक्रियावादी रियासतों ने जनवरी 29, 1947 को एक प्रस्ताव पारित किया जिसने सभी को आश्चर्य में डाल दिया। वह एक ऐसी संविधान सभा की मांग करने लगे जो केवल यूनियन का संविधान बनाएगी और उसका रियासतों अथवा उनके समूहों के आन्तरिक प्रशासन अथवा संविधान से कोई लेना–देना नहीं होगा। साथ ही ब्रिटिश क्राउन के साथ ब्रिटिश सर्वोपरिता (पैरामाउंटेसी) समाप्त होने पर वह सीधे रियासतों को मिलेगी और रियासतें संप्रभु होगी। बीकानेर के महाराजा ने यह कहते हुए इस प्रस्ताव का विरोध किया कि कुछ राजा भारत के राजनैतिक विकास में बाधा पैदा कर रहे हैं।[14]

चैम्बर में दो तरह की धड़े बने हुए थे। एक समूह का नेतृत्व बीकानेर और पटियाला के महाराजाओं ने किया और वह संविधान सभा में जल्दी शामिल होने के पक्ष में थे। इसके खिलाफ भोपाल के नवाब ने पूरा जोर लगा दिया था कि रियासतें संविधान सभा का हिस्सा न बने। दूसरी तरफ से सरदार पटेल भी सक्रिय हो गए थे और नवाब को चैम्बर से अलग होना पड़ा। अब धीरे–धीरे संविधान सभा ने अपना वास्तविक आकार लेना शुरू कर दिया था। अप्रैल 28, 1947 तक बड़ौदा, बीकानेर, कोचीन, जयपुर, जोधपुर, पटियाला और रीवा के प्रतिनिधि संविधान सभा में शामिल हो चुके थे।

जब यह प्रक्रिया चल रही तो इसी बीच ब्रिटेन के प्रधानमंत्री, क्लिमेण्ट एटली ने फरवरी 20, 1947 को बताया कि ब्रिटेन जून 1948 से पहले किसी भी दिन भारत छोड़ देगा। लुइस माउंटबैटन मार्च 22, 1947 को भारत आए और दो दिन बाद अगले वायसराय एवं गवर्नर–जनरल बने। ब्रिटिश सरकार भी अब भारत के विभाजन के लिए अपनी संसद में कानून बनाने के लिए तैयार हो गयी थी। जून 13, 1947 को गवर्नर–जनरल ने भारतीय नेताओं की एक

बैठक बुलाई, जिसमें रियासतों का भविष्य के दो नए देशों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने को लेकर चर्चा की गयी। इसके सुझावों पर जून 25, 1947 को एक नए रियासती विभाग (स्टेट्स डिपार्टमेंट) के सृजन का निर्णय लिया।[15] इस विभाग के मंत्री सरदार पटेल थे और वी.पी. मेनन को सचिव बनाया गया।

यह ध्यान रखना होगा कि अभी भारत का विभाजन हुआ नहीं है और न ही ब्रिटिश क्राउन ने रियासतों के साथ अपने सम्बन्ध ख़त्म किये हैं। भारत की संविधान सभा में रियासतें शामिल होने लगी थीं। विभाजन के लिए एक कानून बनाया जाना प्रस्तावित था। समय से अधिमिलन और संविधान का कार्य पूरा हो जाए, भविष्य में होने वाले विभाजन को ध्यान में रखते हुए, सरदार पटेल ने महाराजाओं से संपर्क करना भी शुरू कर दिया था। राजपूताना रीजनल काउंसिल, जोधपुर से जय नारायण व्यास ने जून 29, 1947 को सरदार को स्वतंत्र और एकीकृत भारत के लिए सुझाव दिए।[16] यह एक उदाहरण दर्शाता है कि अनेक ऐसी रियासतें थीं जिन्होंने भारत को एकजुट करने में अपना हरसंभव योगदान दिया था।

लन्दन में एटली की अध्यक्षता में जून 26, 1947 को एक बैठक हुई। सत्ता हस्तांतरण के बाद रियासतों के ब्रिटेन के साथ संबंधों पर जल्दी किसी नतीजे पर आने की कवायद शुरू हो चुकी थी। ब्रिटिश सरकार ने भरोसा दिया कि रियासतों का अधिमिलन दो नए देशों में किसी एक अथवा दूसरे में ही होगा। वह किसी भी रियासत को स्वतंत्र देश का दर्जा देने के लिए तैयार नहीं थे।[17] एटली ने हाउस ऑफ़ कॉमन्स में जुलाई 1947 के दूसरे सप्ताह में इंडियन इंडिपेंडेंस बिल प्रस्तावित किया। यह बिल जुलाई 18, 1947 को पारित किया गया और यह भारत के विभाजन की आधिकारिक घोषणा थी।

बिल की चर्चा के दौरान, ब्रिटिश संसद के सदस्य स्टैनले रीड ने वायसराय कर्ज़न के दिनों को याद करते हुए कहा था कि मुझे याद है कि लार्ड कर्जन कहा करते थे कि क्राउन का आधार राजा और उनकी रियासतें है।[18] इस नींव को ब्रिटेन ने ही जानबूझकर हिला दिया था। अधिनियम की सातवीं धारा के अनुसार रियासतों पर से ब्रिटिश आधिपत्य ख़त्म हो गया था। इससे केंद्र सरकार और रियासतों के आपसी राजनैतिक सम्बन्ध ही नहीं बल्कि आर्थिक एवं अन्य क्षेत्रों में समन्वय को लेकर गंभीर समस्या उत्पन्न हो गई। हालाँकि, अधिनियम में इस बात का उल्लेख ही नहीं है कि रियासतें स्वतंत्र अथवा उनके लिए अलग से कोई व्यवस्था की जाएगी। जो कुछ भी प्रावधान बनाए गए, वह दो नए देशों यानी भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध में थे। कुछ महाराजा व्यक्तिगत तौर पर महत्वाकांक्षी जरूर थे। वह मात्र उनकी कल्पनाएँ थीं उनका कोई क़ानूनी अथवा ठोस आधार ही नहीं था।

ब्रिटिश क्राउन की 40 रियासतों के साथ संधियां थी। वहीं अन्य महाराजाओं के साथ उन्होंने सनद एवं दूसरे प्रकार के समझौते किए हुए थे।[19] इस प्रकार भूसंपत्तियां और जागीरों को मिलाकर कुल 565 रियासतें थीं। ब्रिटिश आधिपत्य ख़त्म होने पर जुलाई 25, 1947 को गवर्नर–जनरल ने चैम्बर की एक विशेष बैठक बुलाई। माउंटबैटन ने महाराजाओं को सलाह दी कि वे किसी एक देश के साथ विदेशी मामले, सुरक्षा और संचार जैसे तीन विषयों के साथ अधिमिलन कर सकते हैं।[20] भारत सरकार अधिनियम 1935 के आधार पर अधिमिलन पत्र अथवा विलय समझौता तैयार किया गया था। अधिमिलन अथवा विलय की कोई समय सीमा निर्धारित नहीं थी इसलिए अगस्त 15, 1947 के बाद तक महाराजाओं ने हस्ताक्षर किये। ब्रिटिश सरकार ने रियासतों को एक अस्थाई सुविधा प्रदान की थी। अगर कोई महाराजा चाहे तो वह स्थानीय प्रशासनिक व्यवस्था और सामान्य मामलों की देखभाल के लिए भारत अथवा पाकिस्तान में किसी एक के साथ स्टैंडस्टिल एग्रीमेंट कर सकता था। भारत सरकार ने कई रियासतों के साथ अधिमिलन अथवा विलय होने तक ऐसा एग्रीमेंट किया था।

उपरोक्त अधिनियम के अनुसार पाकिस्तान में एक पृथक संविधान सभा का गठन किया गया। जिसका पहला सत्र अगस्त 10, 1947 को बुलाया गया। परिणामस्वरूप भारत की संविधान सभा में सदस्यों की संख्या घटकर 299 हो गई जिसमें रियासतों का प्रतिनिधित्व 89 हो गया। अधिमिलन के साथ संविधान सभा में उनके प्रतिनिधित्व को बनाए रखने के लिए आपसी बातचीत में पहले से तेजी आ गई थी। सरदार पटेल ने कह दिया था कि भारत में वह न तो अलग–थलग रहेंगे और न ही संविधान सभा के बाहर रह सकते हैं।[21] उनके मन में स्थिति साफ़ थी और वे लिखते है, "देशी रियासतों के काम निपट जाए और हिंदुस्तान में शांति स्थापित हो जाए, तो उसके बाद भविष्य की रचना का दूसरा काम शुरू करना है। ईश्वर की कृपा से सब ठीक ही रहेगा।"[22]

कुछ रियासतों राजप्रमुखों, सह–राजप्रमुखों अथवा प्रतिनिधियों की मौजूदगी में सरदार पटेल की अध्यक्षता में एक बैठक जुलाई 17, 1948 को बुलाई गई। इसमें रियासती विभाग के साथ संविधान सभा के अधिकारी भी शामिल थे। यहाँ एक अथवा उससे अधिक सीटें उन 15 रियासतों को मिली जिनकी जनसँख्या 10 लाख से अधिक थी। इस प्रकार 49 सीटें उनके खाते में गई। अन्य 550 रियासतों के लिए 40 सीटें बची थी। ऐसे में अब उन्हें समूहों का गठन करना था और तक़रीबन दो लेकर तीन अथवा बीस से पच्चीस रियासतों को मिलाकर उनके प्रतिनिधि संविधान सभा में भेजे जाने थे।[23] इस दिन तक जम्मू–कश्मीर और भोपाल को छोड़कर सभी के प्रतिनिधि तय हो चुके थे।

संविधान के निर्माण का कार्य अपने आखिरी चरण में पहुँच गया था। सबसे आखिरी में जम्मू–कश्मीर के प्रतिनिधि, डॉ. राजेंद्र प्रसाद की मौजूदगी में, 16 जून, 1949

यह ध्यान रखना होगा कि अभी भारत का विभाजन हुआ नहीं है और न ही ब्रिटिश क्राउन ने रियासतों के साथ अपने सम्बन्ध खत्म किये हैं। भारत की संविधान सभा में रियासतें शामिल होने लगी थीं। विभाजन के लिए एक कानून बनाया जाना प्रस्तावित था

को शेख मोहम्मद अब्दुल्ला के साथ मिर्जा मोहम्मद अफज़ल बेग, मौलाना मोहम्मद सईद मसूदी और मोती राम बगडा संविधान सभा के सदस्य बने। एक नियम यह भी था कि रियासतों को अपनी संविधान सभा द्वारा आतंरिक संविधान भी बनाना था।[24] आगे चलकर यह महसूस किया गया कि अगर सभी रियासतें बिना केंद्र की सहायता से अपना संविधान बना लेंगी तो मतभेद खड़े हो सकते हैं।[25] अतः बी. एन. राव के नेतृत्व में एक समिति को इस समस्या से निजात पाने के लिए नियुक्त किया गया। तय किया गया कि प्रांतीय संविधान के आधार पर इन रियासतों का एक समान संविधान बनाया जाएगा। समिति ने मार्च 22, 1949 को अपनी रिपोर्ट सौंप दी। जिसमें बताया गया कि संविधान बनाने में समस्याएं हैं क्योंकि राजस्थान, पेप्सू, विन्ध्य प्रदेश और मध्य भारत में संविधान सभाएं नहीं बन पाई हैं। इसका कारण था इनमे कई रियासतें अधिमिलन के बाद से अभी भी प्रारंभिक समस्याओं से जूझ रही हैं।

समय नहीं था क्योंकि सम्पूर्ण भारत का संविधान जनवरी 1950 तक लागू किया जाना था। ऐसे में विचार किया गया कि सभी के लिए अलग संविधान बनाया जाना लोकतंत्र में संभव नहीं हो सकता है। मामले के हल के लिए रियासती विभाग और रियासतों के प्रमुखों की बैठक मई 19, 1949 को बुलाई गई। इसमें निर्णय लिया गया कि भारत की संविधान सभा द्वारा बनाया गया संविधान ही सभी रियासतों का संविधान होगा। एक उपयुक्त प्रक्रिया द्वारा यह संविधान रियासतों द्वारा बहाल किया जायेगा।[26] एम.के. वेलोडी की अगुआई में एन. दांडेकर और एस. एन. मुखर्जी सहित एक समिति बनाई गई। इन्हें भारतीय संविधान के मसौदे की जाँच कर रियासतों के अनुसार उसमें संशोधन किये जाने का सुझाव देना था। मसौदा समिति और वेलोडी समिति की आपसी विचार–विमर्श के बाद जो संशोधन आये उन्हें सौराष्ट्र, त्रावणकोर–कोचीन और मैसूर में पहले से ही मौजूद संविधान सभाओं में भेजा गया। सौराष्ट्र ने नवंबर 13, 1949 को संविधान के मसौदे को पूरी तरह से अपना लिया। अन्य दोनों संविधानिक निकायों ने कुछ संशोधन प्रस्तावित किए। अंततः इनमें से कुछ को

शेख की वास्तविक मांग थी कि भारतीय संसद को राज्य के लिए कानून बनाने और अधिमिलन पत्र में उल्लिखित तीन विषयों- सुरक्षा, वैदेशिक मामले और संचार से सीधे संबंधित संविधान के प्रावधान के लिए प्रतिबंधित किया जाए

भारत की संविधान सभा द्वारा स्वीकार किए गए संशोधन में शामिल किया गया और अन्य सुझावों को इन सभाओं के प्रतिनिधियों के साथ चर्चा के परिणामस्वरूप स्वीकार नहीं किया गया।[27] जहाँ फिलहाल संविधान सभा मौजूद नहीं थी वहां के राजप्रमुख द्वारा घोषणा की गई कि उन्होंने भारत के संविधान को स्वीकार कर लिया है।[28]

अब सवाल आता है जम्मू–कश्मीर का, जिसके लिए एक अस्थाई प्रावधान – अनुच्छेद 370 भारत के संविधान में अक्तूबर 17, 1949 को शामिल किया गया। इसे प्रस्तुत करने वाले गोपालस्वामी आयंगर का कहना था कि वहां स्थिति असामान्य हैं, इसलिए इस अनुच्छेद को संविधान सभा के समक्ष पेश किया गया है। जब एक सदस्य पूछा कि यह भेदभाव किसलिए किया जा रहा है? इस पर उनका उत्तर था कि जम्मू–कश्मीर अभी अधिमिलन के लिए परिपक्व नहीं है, लेकिन जल्दी ही यह अन्य रियासतों की तरह भारत का हिस्सा होगा।[29] आयंगर ने इस अनुच्छेद का मसौदा तैयार किया। अब्दुल्ला को यह पसंद नहीं आया और उन्होंने अपनी तरफ से मसौदा बनाकर भेज दिया। इसे कुछ सुधार के बाद अक्तूबर 15, 1949 को शेख के पास भेजा गया। इस बार भी उन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया। सरदार पटेल ने भी कुछ सुझाव दिए थे जिन्हें दरकिनार कर दिया गया था। बाद में उन्होंने इस पूरे मामले से अपने आप को पीछे करते हुए आयंगर को अक्तूबर 16 को पत्र लिखा, "इन परिस्थितियों में मेरी सहमति का कोई प्रश्न नहीं बनता। आपको लगता है कि ऐसा करना ही ठीक है तो आप वह कीजिए।"[30]

शेख की वास्तविक मांग थी कि भारतीय संसद को राज्य के लिए कानून बनाने और अधिमिलन पत्र में उल्लिखित तीन विषयों– सुरक्षा, वैदेशिक मामले और संचार से सीधे संबंधित संविधान के प्रावधान के लिए प्रतिबंधित किया जाए। शेख ने यह खुलासा अक्तूबर 17, 1949 को आयंगर को लिखे एक पत्र में किया जिसमें उन्होंने यह भी कहा कि प्रधानमंत्री नेहरू ने इसके लिए उनसे वादा किया है।[31] सरदार पटेल की मौजूदगी में यह संभव नहीं था। अनुच्छेद को दो अथवा तीन बार बदलाव के बाद अक्तूबर 17, 1949 को प्रस्तुत किया गया।

आखिरी समय में भी एक परिवर्तन किया गया था। शेख इस दिन संविधान सभा में मौजूद थे और उन्हें वह बदलाव रास नहीं आया। उन्होंने स्थिति को अपने अनुकूल बनाने के लिए बाहर आकर आयंगर को पत्र लिखा और संविधान सभा से त्याग पत्र देने की धमकी दी। वास्तव में, शेख इस बात की कल्पना नहीं कर पाए कि संशोधन सूची में परिचालित अंतिम मसौदे में ऐसा कोई परिवर्तन होगा। हालाँकि, इस विषय में अंतिम निर्णय से पहले उन्हें बताया गया था। वे सभा छोड़कर चले गए और यह मानते रहे कि वह उसी रूप में प्रस्तुत किया जायेगा जिस रूप में उसकी स्वीकृति प्राप्त हुई थी। हालाँकि, ऐसा हुआ नहीं और अनुच्छेद की धारा 1 की उपधारा ख के स्पष्टीकरण में एक परिवर्तन कर दिया गया था।[32]

अनुच्छेद 370 संविधान सभा का सबसे अंतिम प्रावधान था। अगले महीने की 26 तारीख को भारत का संविधान अंगीकृत कर लिया गया। रियासतों सहित सभी सदस्यों ने जनवरी 24, 1950 को संविधान पर अपने हस्ताक्षर किए और एक दिन बाद यह पूरे देश में लागू हो गया। इस प्रकार दो साल और ग्यारह महीनों में संविधान निर्माण का कार्य पूरा हुआ। यह सही है कि रियासतों का संविधान निर्माण में ज्यादा खास योगदान नहीं था। इसके पीछे का कारण था कि उन्हें शामिल करने में बहुत समय चला गया था। इसकी एकमात्र जिम्मेदार ब्रिटिश सरकार थी। उन्होंने ऐसी अव्यवस्था और उलझनें

पैदा कर दी कि शुरुआत में किस दिशा में जाना है यही समझना मुश्किल हो गया था। फिर भी संविधान सभा में रियासतें शामिल हुई जो कि दर्शाता है कि भारत के एकीकरण में उनका योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण था। ■

संदर्भ संकेत

1 *चैम्बर ऑफ़ प्रिंसेस की स्थापना फरवरी 8, 1921 को हुई। 1946 तक तक़रीबन 140 रियासतें इसकी सदस्य थी।*

2 *चैम्बर ऑफ़ प्रिंसेस की बैठक की कार्यवाही, जनवरी 17–18, 1946, दिल्ली, पृष्ठ 3*

3 *वही, पृष्ठ 22–23*

4 *यूनाइटेड किंगडम की संसद, भारत में कैबिनेट, फरवरी 19, 1946*

5 *वी.पी. मेनन, द ट्रांसफर ऑफ़ पॉवर इन इंडिया, लॉन्गमैन : बॉम्बे, 1957, पृष्ठ 264*

6 *वर्ग ए में मद्रास, बॉम्बे, संयुक्त प्रान्त, बिहार, मध्य प्रान्त और उड़ीसा शामिल थे और इनके 187 सदस्यों का प्रतिनिधित्व तय किया गया। वर्ग बी में पंजाब, नार्थ–वेस्ट फ्रंटियर प्रोविंस और सिंध थे और इनके कुल सदस्यों की संख्या 35 थी। वर्ग सी में बंगाल और असम की 70 सदस्यों का प्रतिनिधित्व था। इसके अतिरिक्त वर्ग ए के दिल्ली, अजमेर–मारवाड़ एवं कुर्ग और वर्ग बी के ब्रिटिश बलूचिस्तान चीफ कमिश्नर्स प्रत्येक प्रान्तों से एक सदस्य को संविधान सभा में शामिल होना था।*

7 *एस. एम. गोखले, इंडियन स्टेट्स एंड कैबिनेट मिशन प्लान, पृष्ठ 61*

8 *चौधरी खालिकज्मान, पाथवे टू पाकिस्तान, लॉन्गमैन : लाहौर, 1961, पृष्ठ 340–41*

9 *यूनाइटेड किंगडम की संसद, भारत : कैबिनेट मिशन का वक्तव्य, मई 16,1946*

10 *वी.पी. मेनन, द ट्रांसफर ऑफ़ पॉवर इन इंडिया, लॉन्गमैनःबॉम्बे, 1957, पृष्ठ 280*

11 *संविधान सभा के लिए ब्रिटिश भारत में जुलाई 1946 में चुनाव हुए। सामान्य सीटों में कांग्रेस को बहुमत मिला जबकि मुस्लिम लीग ने मुसलमान बहुल क्षेत्रों की 78 सीटों में से 72 में जीत हासिल की। लीग के इन नतीजों ने भारत विभाजन की आग को हवा दी। जिसे ब्रिटिश सरकार ने माउंटबैटन प्लान (जून 3, 1947) के अनुसार स्वीकार कर लिया।*

12 *भारत की संविधान सभा, लक्ष्य एवं उद्देश्य, दिसंबर 16, 1946*

13 *वी.पी. मेनन, द ट्रांसफर ऑफ़ पॉवर इन इंडिया, लॉन्गमैनः बॉम्बे, 1957, पृष्ठ 331*

14 *एस. एम. गोखेले, इंडियन स्टेट्स एंड कैबिनेट मिशन प्लान, पृष्ठ 67*

15 *निकोलस मंसेर्घ, द ट्रांसफर ऑफ़ पॉवर 1942–7, खंड XI, हिज मेजेस्टी स्टेशनरी ऑफिस : लन्दन, पृष्ठ 620*

16 *दुर्गा दास, सरदार पटेल कॉरेस्पोंडेंस 1945–1950, खंड 5, अहमदाबाद : नवजीवन, पृष्ठ 393*

17 *निकोलस मंसेर्घ, द ट्रांसफर ऑफ़ पॉवर 1942–7, खंड XI, हिज मेजेस्टी स्टेशनरी ऑफिसः लन्दन, पृष्ठ 662–663(इंडिया एंड बर्मा कमिटी की 36वीं बैठक)*

18 *यूनाइटेड किंगडम की संसद, इंडियन इंडिपेंडेंस बिल, जुलाई 10, 1947*

19 *वाइट पेपर ऑन इंडियन स्टेट्स, मिनिस्ट्री ऑफ़ स्टेट्स, 1950, पृष्ठ 21*

20 *वही, पृष्ठ 35*

21 *वी. शंकर, सरदार पटेलः चुना हुआ पत्र व्यवहार, खंड 1, अहमदाबादः नवजीवन, पृष्ठ 588*

22 *मणिबेन पटेल एवं जी. एम. नांदुरकर, सरदार श्री के विशिष्ट और अनोखे पत्र दृ 1, अहमदाबाद, पृष्ठ 86–87*

23 *10 लाख की जनसँख्या वाली रियासतों में हैदराबाद (16), मैसूर (7), त्रावणकोर (6), जम्मू–कश्मीर (4), बड़ौदा एवं जयपुर (प्रत्येक को 3), जोधपुर (2), कोचीन, बीकानेर, भोपाल कोहलापुर, मयूरभंज, सिक्किम + कूंचबिहार, त्रिपुरा + मणिपुर + खासी स्टेट्स एवं रामपुर + बनारस (प्रत्येक को 1) और रियासतें के समूहों में उड़ीसा (4), मध्य भारत एवं बेरार (3), मद्रास (1), बॉम्बे (4), हिमाचल प्रदेश (1), काठियावाड़ (4), मतस्य (2), राजस्थान (4), विन्ध्य प्रदेश (4), मालवा (7), पटियाला एवं ईस्ट पंजाब स्टेट्स यूनियन (3), कच्छ एवं जूनागढ़ (प्रत्येक को 1) एवं अन्य (1) के सदस्य संविधान सभा का हिस्सा बने।*

24 *मैसूर, त्रावणकोर, बड़ौदा, कोचीन, जम्मू–कश्मीर, हैदराबाद, उन्ध, बांसवारा, ग्वालियर, जयपुर, इंदौर, रामपुर, बनारस, पुदुकोट्टई, जींद, सांगली, सावंतवाडी, नयागढ़, सरायकेला, सिरमौर, भोर, पोरबंदर, जमखंडी, मिराज सीनियर, मिराज जूनियर, देवास सीनियर, देवास जूनियर, मुधोल, फलटन, सीतामऊ, कोहलापुर, मयूरभंज, भोपाल, कूंचबिहार, भावनगर, भरतपुर, टीहरी–गढ़वाल, पालनपुर, रायगढ़, अकालकोत, कुरुंदवाड सीनियर, त्रिपुरा और इदर में विधानसभाए मौजूद थी।*

25 *बी. एन. राव, द फ्रेमिंग ऑफ़ इंडिया कंस्टीटूशन, खंड 4, दिल्लीः आईआईपीए, 1968, पृष्ठ 547*

26 *वही, पृष्ठ 548*

27 *भारतीय राज्यों पर श्वेत पत्र, भारत सरकार, 1950, पृष्ठ 109*

28 *बी. एन. राव, द फ्रेमिंग ऑफ़ इंडिया कंस्टीटूशन, खंड 4, दिल्ली : आईआईपीए, 1968, पृष्ठ 554 (राजस्थान एवं हैदराबाद ने नवम्बर 23, 1949; पेप्सू एवं मध्य भारत ने नवंबर 24, 1949; और जम्मू–कश्मीर ने नवम्बर 25, 1947 को इस प्रकार की घोषणा की)*

29 *भारत की संविधान सभा, अनुच्छेद 306 ।, अक्तूबर 17, 1949 (जम्मू–कश्मीर का भारत में अधिमिलन अक्तूबर 26, 1947 को हुआ। हालाँकि, सितम्बर 1947 में ही पाकिस्तान की तरफ से हमले की शुरुआत हो चुकी थी।)*

30 *वी. शंकर, सरदार पटेलः चुना हुआ पत्र व्यवहार, खंड 1, अहमदाबाद : नवजीवन, पृष्ठ 305*

31 *दुर्गा दास, सरदार पटेल कॉरेस्पोंडेंस 1945–1950, खंड 1, अहमदाबाद : नवजीवन, पृष्ठ 306*

32 *वी.शंकर, सरदार पटेलः चुना हुआ पत्र व्यवहार, खंड 1,अहमदाबादः नवजीवन, पृष्ठ 369 (शेख अब्दुल्ला का पत्र गोपालस्वामी आयंगर को–अक्तूबर 17, 1949)*

आशुतोष कुमार झा

भारतीय संविधान में अल्पसंख्यक

भारत में हज़ारों वर्षों से विविध संस्कृतियों का निवास रहा है। यह भारत का धार्मिक सिद्धांत ही है जो सदैव ही कल्याण और मानवता को सबसे महत्वपूर्ण मानता आया है। युगों पुरानी सभ्यता तथा सभी प्रमुख धर्मों का उद्‌गम होने के कारण हमारा देश अपने मूल में ही विविधता में एकता को सहेजे और समेटे हुए है। यही सहज सांस्कृतिक एकता ही हमारी संस्कृति का आधार तथा यह मानव जाति की बहुलतावादी सोच को एकीकृत करती है।

भारत के लिए अल्पसंख्यकवाद एक विदेशी अवधारणा है। धरती के इस भूभाग में बहु-संख्यक और अल्पसंख्यक की अवधारणा ऐतिहासिक सन्दर्भ में अस्तित्व में ही नहीं थी। लोगों के विभाजन के आधार पर चीजों की पहचान करने के स्थान पर भारतीयों ने परस्पर सामंजस्य में रहने का तरीका सीखा। पश्चिम में अनेकता की अवधारणा को सदैव ही भिन्नता के आधार पर समझा गया

भारतीय सन्दर्भ में अल्पसंख्यक को समझना

भारत के लिए अल्पसंख्यक वाद एक विदेशी अवधारणा है. धरती के इस भूभाग में बहु-संख्यक और अल्पसंख्यक की अवधारणा ऐतिहासिक सन्दर्भ में अस्तित्व में ही नहीं थी. लोगों के विभाजन के आधार पर चीज़ों की पहचान करने के स्थान पर भारतीयों ने परस्पर सामंजस्य में रहने का तरीका सीखा. पश्चिम में अनेकता की अवधारणा को सदैव ही भिन्नता के आधार पर समझा गया। वर्तमान समय में, बहुसंस्कृतिवाद अपने बहुलतावाद एवं विविधता के उद्देश्यों के कारण काफी महत्वपूर्ण हो गया है। इसे पश्चिम के कई देशों में संस्कृति तथा पहचान संबंधी भिन्नताओं से उत्पन्न होने वाली समस्याओं के एक हल के रूप में देखा जा रहा है।

भारत ने स्वयं को स्वतंत्रता के उपरांत एक आधुनिक राष्ट्र के रूप में दिखाने का कार्य किया तो आधुनिक भारत राज्य ने संविधान की योजना में अल्पसंख्यक जैसी अवधारणाओं को सम्मिलित करना आरम्भ कर दिया। परन्तु भारत में अल्पसंख्यक का मुद्दा पश्चिमी तथा साम्राज्यवादी लेंस के माध्यम से भारत को आकार देने और उसके समाज को देखने का एक प्रयास था। वेस्टफेलिया की संधि के उपरान्त पश्चिमी जगत ने अपने-अपने राष्ट्र-देशों में 'अन्य' के भाव के साथ अपने-अपने क्षेत्र का निर्माण करना आरम्भ कर दिया. परंतु भारत ने किसी भी तरह से किसी भी अन्य का भाव जाग्रत करने के स्थान पर सभी की सहज एकता पर विश्वास किया. इसका परिणाम हुआ राष्ट्र-देश का निर्माण कई तरह की अवधारणाओं पर, कई तरह के सिद्धांतों पर जैसे अल्पसंख्यक अधिकारों, अल्पसंख्यक सुरक्षा तथा बहुलतावाद. परन्तु एक मूलभूत समस्या जो भारत और पश्चिम को अलग करती है वह है धर्म की अवधारणा. ईसाई धर्म एक प्रभु/दूत की अवधारणा तथा एक पवित्र पुस्तक बाइबिल पर आधारित धर्म है. परन्तु यही बात हिन्दू धर्म पर तनिक भी लागू नहीं हो सकता है क्योंकि हिन्दू धर्म में कई देवी देवता हैं, कई पूजा पद्धतियाँ हैं, कई ग्रन्थ हैं, कई पवित्र पुस्तकें हैं। तो भारत में पश्चिमी नज़रिए से अल्पसंख्यक को देखने से भारत अल्पसंख्यक तथा बहुसंख्यक की भूमि दिखाई देगी.

भारत में अल्पसंख्यकों को विशेष महत्ता देने का मुद्दा भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के दौरान उठा जिसके परिणामस्वरूप एक राजनीतिक-धार्मिक देश पाकिस्तान का जन्म हुआ। तो अल्पसंख्यकों का तुष्टिकरण हमारे संविधान निर्माताओं के लिए अपने उस संकल्प का एक ऐसा उपकरण बन गया जिससे एक कथित आधुनिक, लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष भारत का निर्माण करना सम्मिलित था। तो अल्पसंख्यकों के अधिकारों के मुद्दे को एक राज्य के लोकतंत्र की संवेदनशील व्याख्या के रूप में माना गया जो बहुसंख्यक से रहित थी. पश्चिम में अल्पसंख्यकों के अधिकार इसलिए आवश्यक बन गए क्योंकि वहां राज्य का संचालन धर्म के द्वारा होता था।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अल्पसंख्यक अधिकार

अल्पसंख्यक शब्द की व्याख्या करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय रूप से कोई भी नियत या स्वीकृत परिभाषा नहीं है. एक कानूनी तथा संवैधानिक समूह के रूप में प्रथम विश्व युद्ध के बाद यूरोपीय देशों के बीच नई सीमाओं के दौरान उभरा। किसी भी पहले कानूनी दस्तावेज में अल्पसंख्यक शब्द पहली बार आया। वह थी अल्पसंख्यक संधि जो प्रथम विश्वयुद्ध के उपरांत स्थापित शांति समझौते के बाद उभरी। अल्पसंख्यक संधि मात्र जातीय, भाषीय या धार्मिक अल्पसंख्यकों की बात करती है तथा वह राष्टीय अल्पसंख्यकों की श्रेणी को अनदेखा करती है। (Liebich 2008, pp- 245)

अल्पसंख्यकों की सुरक्षा मानवाधिकारों तथा मूलभूत स्वतंत्रता की अवधारणा के अंदर समाहित है जैसा कि संयुक्त राज्य के चार्टर में सम्मिलित की गई है। तो द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत अल्पसंख्यकों के अधिकार ही दिशानिर्देश करने वाले सिद्धांत नहीं रहे बल्कि इनके स्थान पर मानवाधिकारों के सिद्धांत को अपनाया गया। संयुक्त राज्य के चार्टर तथा मानवाधिकारों तथा स्वतंत्रता की वैश्विक घोषणा तथा गैर–भेदभाव व समानता के सिद्धांत ने पिछली व्यवस्था को बदल दिया।

संयुक्त राज्य की अवधारणा तथा अल्पसंख्यकों की सुरक्षा को नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों पर प्रतिज्ञापत्र में शामिल किया गया है। भारत नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों पर प्रतिज्ञापत्र पर एक पक्ष है। इस प्रतिज्ञापत्र की धारा 27 जातीय, धार्मिक तथा राजनीतिक अल्पसंख्यकों के अधिकारों की पहचान करती है। हालांकि अभी भी हमारे पास इस शब्द की पर्याप्त व्याख्या का अभाव है परंतु संयुक्त राज्य अपनी अल्पसंख्यकों की सुरक्षा तथा भेदभाव से बचाव पर उप समिति ने एक संतोषजनक अंतर्राष्ट्रीय कानूनी बोध दिया है। इस प्रकार के संपूर्ण प्रभाव 1979 में कैपोटोरी रिपोर्ट में पूरी तरह से उभर कर आए हैं।

भारतीय संविधान में अल्पसंख्यक की अवधारणा

भारत में अल्पसंख्यक शब्द एक उपनिवेशी विरासत है। भारतीय संविधान के रचनाकारों ने अल्पसंख्यकों को हर प्रकार के अधिकार देने को तो सुनिश्चित किया परंतु अल्पसंख्यक की कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी। अल्पसंख्यक को परिभाषित करने के लिए कोई कानून भी भारतीय कानून में नहीं है। मोतीलाल नेहरू रिपोर्ट (1928) में अल्पसंख्यकों की पर्याप्त सुरक्षा का प्रावधान है परंतु यह उसे पूरी तरह से परिभाषित नहीं करती है। सप्रू रिपोर्ट (1945) अल्पसंख्यक आयोग को तो प्रस्तावित करती है परंतु वह अल्पसंख्यक को परिभाषित नहीं करती है।

अंग्रेजों ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के उपरांत रणनीतिक रूप से उन नीतियों का पालन किया जिन्होंने अल्पसंख्यक की अवधारणा का विकास किया। उन्होनें धर्म के आधार पर भारतीयों को विभाजित करने के लिए योजनाओं का विकास किया। ऐसा प्रथम प्रयास उन्होंने 1905 में बंगाल का विभाजन कर किया था। गवर्नमंट ऑफ इंडिया अधिनियम 1909 में मुसलमानों को अलग निर्वाचन अधिकार दिया। गर्वनमेंट ऑफ इंडिया अधिनियम 1919 ने सिखों को अलग किया तथा एंग्लो इंडियन को भी अलग निर्वाचन अधिकार दिए गए।

1909 के संवैधानिक प्रस्तावों द्वारा मुसलमानों के लिए एक पृथक निर्वाचन का निर्माण करने के उपरांत तथा अन्य सुधारों के कारण यह सभी समूह उपनिवेशी राज्य की समूह प्राथमिकता की नीति के मुख्य लाभार्थी हुए। जैसे ही संविधान सभा ने 9 दिसंबर 1946 को नियत अपनी कार्यवाही को आरंभ किया वैसे ही मुस्लिम लीग ने सत्र का बहिष्कार किया) संवैधानिक मसौदों तथा विचारों में राजनीतिक सुरक्षा गार्डों ने चुनावों में सुरक्षित सीटों, सरकारी नौकरी में कोटा, कैबिनेट में आरक्षित पदों तथा प्रशासनिक मशीनरी के निर्माण का प्रावधान अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा के लिए किया। यह ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि सभी अल्पसंख्यक समूह संविधान की आरंभिक प्रस्तावना तथा प्रथम मसौदे का हिस्सा थे जो 1948 में प्रकाशित हुआ था। किंतु एक उल्लेखनीय कदम में सभी अल्पसंख्यक समूह संविधान के अंतिम मसौदे में उस राजनीतिक संरक्षण के अधीन आ गए जो अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए आरक्षित था। अल्पसंख्यक सुरक्षा में ये परिवर्तन भारतीय संविधान सभा की बहसों में देश के विभाजन के आधार पर संकलित हैं। (Bajpai, 2000, pp- 1837-1845)

सदन ने किसी विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान के संरक्षण को प्राथमिकता देने के स्थान पर राष्ट्रवादी दृष्टि का पालन करने को प्राथमिकता दी। समूह के प्राथमिकता प्रावधानों के लिए समूह के विजन के पिछड़ेपन को वैध आधार माना जाता था। सदन ने अल्पसंख्यकों के लिए राजनीतिक सुरक्षा के विचार को खारिज कर दिया। उनके लिए ऐसी किसी भी सुरक्षा की वैधता में पिछड़े वर्गों की सामाजिक और आर्थिक अक्षमताओं को सुधारने के लिए एक विशिष्ट उद्देश्य सम्मिलित है। यह औपनिवेशिक नीति में सांप्रदायिक सुरक्षा उपायों की रक्षा और बचाव के तरीके से अलग था तथा यह एक परिवर्तन लेकर आया। (Ibid)

यह माना जाता है कि विभाजन के भाव ने सांप्रदायिक ताकतों के विरुद्ध बहुत ही मजबूत भावना पैदा की और इसलिए संविधान सभा ने कभी भी बहुत ही सुस्पष्ट शब्दों में 'अल्पसंख्यक' को परिभाषित करने का प्रयास नहीं किया। इस भावना की शक्ति को इस तथ्य से समझा जा सकता है कि संविधान के पाठ में जहां भी "अल्पसंख्यकों के लिए कुछ आया तो उस शब्द के लिए "कुछ वर्ग" शब्द प्रयोग किए गए थे। हमारे संविधान में अल्पसंख्यक शब्द का उपयोग शायद ही कभी किया जाता है और इसमें किसी समूह को अल्पसंख्यक के रूप में स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया जाता है। 'अल्पसंख्यक' शब्द का उल्लेख केवल दो लेख, 29 और 30 में किया गया है।

राजनीतिक प्रतिनिधित्व

संविधान सभा में विधायिका में अल्पसंख्यकों

अंग्रेजों ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के उपरांत रणनीतिक रूप से उन नीतियों का पालन किया जिन्होंने अल्पसंख्यक की अवधारणा का विकास किया। उन्होनें धर्म के आधार पर भारतीयों को विभाजित करने के लिए योजनाओं का विकास किया

के प्रतिनिधित्व की सुविधा के लिए प्रस्तावित मुख्य प्रक्रियाएं थी अलग–अलग निर्वाचन क्षेत्र, आबादी के अनुपात में विधायिकाओं में समुदायों के लिए आरक्षित कोटा और आनुपातिक प्रतिनिधित्व के विभिन्न रूप। मुस्लिम प्रतिनिधि ऐसी मांगों में सबसे आगे थे हालांकि इसी प्रकार की मांगें सिक्ख तथा अन्य पिछड़ी जाति के लोगों के द्वारा भी की गईं थीं। लेकिन सदन ने इस मुद्दे पर विचार–विमर्श किया और एक अलग निर्वाचन क्षेत्र के अधिकार को खारिज कर दिया। ऐसी मांग को अस्वीकार करने के लिए प्रमुख तर्क राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय एकता के विचार पर आधारित था। धर्मनिरपेक्ष आधार पर अलग निर्वाचन क्षेत्र का भी विरोध किया गया, क्योंकि उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में धार्मिक विचारों की शुरुआत की।

रोजगार में आरक्षण

रोजगार में आरक्षण के विषय में बहस ने विशेष प्रतिनिधित्व प्रावधानों के विषय में होने वाली बहसों के जैसे ही पैटर्न को प्रस्तुत किया। पिछड़े वर्गों के लिए सेवाओं में कोटा के पक्ष में सदन में आम सहमति थी। 'निष्पक्षता' के मानदंडों को भी इस तरह के फैसले में शामिल किया गया था क्योंकि इस निर्णय को अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातियों के खिलाफ इतिहास में हुए अन्याय के पुनर्भुगतान के रूप में देखा गया था। यह इस रूप में उभर कर आया कि राज्य निचली जातियों और जनजातियों पर इतिहास में किए गए अन्यायों के खिलाफ क्षतिपूर्ति करने को तैयार था। इस मुद्दे पर सर्वसम्मति विकसित करने में एक प्रमुख भूमिका उस प्रायश्चित की भावना की थी जो यहां के उच्च वर्ग में थी।

नेहरू ने अल्पसंख्यकों के लिए आरक्षित सीटों को छोड़ने के लिए संविधान सभा के निर्णय की सराहना की। उन्होंने स्वीकार किया कि इस तरह की सुरक्षा एक निरंकुश या विदेशी शासन के अंतर्गत भी आवश्यक थी। लेकिन चूंकि भारत एक स्व–शासित लोकतंत्र बनने वाला था, इसलिए इसे अपने सभी गठित नागरिकों के लिए समान आवाज उठाने की आवश्यकता थी। लोकतंत्र की नेहरू की परिभाषा यह थीः "यदि यह लोकतंत्र है, लंबे समय तक या कम समय

रोजगार में आरक्षण के विषय में बहस ने विशेष प्रतिनिधित्व प्रावधानों के विषय में होने वाली बहसों के जैसे ही पैटर्न को प्रस्तुत किया। पिछड़े वर्गों के लिए सेवाओं में कोटा के पक्ष में सदन में आम सहमति थी

में, यह बहुमत की इच्छा के अनुसार ही चलेगा।" इसे देखते हुए, अल्पसंख्यक सुरक्षा, जैसे आरक्षण, शायद अल्पसंख्यकों को "थोड़ी सी सीमा तक बचाएंगी, लेकिन बहुसंख्यकों की आंतरिक सहानुभूति और साथी भावना को ठुकराकर, जो कि खतरनाक है", जैसा नेहरू ने दोहराया था, "जैसा कि प्रकृति है लोकतंत्र में, बहुमत की इच्छा अंततः प्रबल होगी। (झा 2003), पीपी। 1579–1583)

पूजा या धार्मिक पालनों का अधिकार

जब अप्रैल 1947 में संविधान सभा की मौलिक अधिकार उपसमिति में धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार की पहली बार चर्चा की गई, तो इस उपसमिति के सदस्यों के बीच धार्मिक असमानता को परिभाषित करने के तरीकों के विषय में अत्यधिक ही असहमति थी। चिंता इस तथ्य को लेकर थी कि क्या धार्मिक स्वतंत्रता को 'पूजा' की स्वतंत्रता या धर्म का पालन करने की स्वतंत्रता के रूप में परिभाषित किया जाना था। राजकुमारी अमृतकौर ने तर्क दिया कि चूंकि "महिलाओं और दलितों के अधिकारों का उल्लंघन भारत के कई धर्मों की प्रक्रियाओं व पालन का हिस्सा था, और इसलिए सभी भारतीय नागरिकों के मौलिक अधिकारों को सुनिश्चित करने वाले अध्याय में 'पालन का अधिकार देने का अर्थ एक प्रकार की विसंगति होगा। "उन्होंने धार्मिक 'पूजा' के लिए बहुत अधिक संकुचित अधिकार देने की अनुशंसा की। अमृतकौर संविधान सभा में 'सांख्यिकी' राष्ट्रवादी स्थिति का प्रतिनिधित्व कर रही थीं। संविधान सभा के सामने मुख्य कार्य था भारतीयों को उस देश का सदस्य बनाना जिसके वह नागरिक बनने जा रहे हैं। नए भारतीय नागरिक की पहचान इस प्रकार की गई थी– भारत के नागरिक, एक समान हैं तथा एक जागरुक राज्य नीति के द्वारा अतिरिक्त राजनीतिक पहचान जैसे लिंग, धर्म, भाषा और संस्कृति जैसे सभी चिन्हों को क्षीण किया जाना था। यदि यह लक्ष्य था, तो संविधान सभा की सबसे बड़ी गलती अल्पसंख्यकों को पृथक सांस्कृतिक और शैक्षणिक अधिकार देकर या धार्मिक स्वतंत्रता को व्यापक रूप से धर्म के पालन के अधिकार के रूप में परिभाषित कर सार्वजनिक रूप से धर्म को सम्मुख रखकर व्यक्ति के अतिरिक्त राजनीतिक पहलुओं को उजागर करना होती।(Ibid)

के.एम. मुंशी, जिन्होंने धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यकों के लिए शैक्षिक और सांस्कृतिक अधिकारों के साथ–साथ धर्म के पालन के व्यापक अधिकार की वकालत की थी, उन्होंने भी इस आधार पर नए राज्य में किसी भी विधायी निकाय में इन अल्पसंख्यकों के लिए किसी भी आरक्षण के विचार को इस आधार पर खारिज कर दिया कि यह एक कदम खतरनाक रूप से अतिरिक्त राजनीतिक पहचान को मजबूत करेगा। (ibid)

इस विषय में एच.सी. मुखर्जी के शब्दों में बहुत ही रोचक व्याख्या देखी जा सकती है जो अल्पसंख्यक उपसमिति के अध्यक्ष थे, उन्होंने विधायिकाओं में धार्मिक अल्पसंख्यकों के लिए आरक्षण का विरोध करते हुए 11 मई, 1949 को अपनी अस्वीकृति व्यक्त करते हुए कहा था कि "कुछ ऐसे लोग हैं जो वास्तव में अपने समुदायों के भविष्य पर चिंतित हैं। ऐसे लोग विधायिकाओं में आना चाहते हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि वे उन समूहों के हितों की रक्षा कर सकते हैं जिनका वे हिस्सा हैं ... लेकिन जब हमने विभिन्न मौलिक अधिकारों को पारित किया है जो धार्मिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक सुरक्षा की गारंटी देते हैं जो न्यायसंगत हैं, उन सुरक्षा गार्ड को कानून की अदालत में तय किया जा सकता है तो ऐसे में मुझे लगता है कि कुछ समूहों से संबंधित लोगों की उपस्थिति का होना अनिवार्य नहीं है।" (ibid)

भाषाई समूहों के लिए सांस्कृतिक अधिकार

आज अल्पसंख्यक धर्म से मान्यता प्राप्त है लेकिन संविधान सभा ने चर्चा की थी कि

सांस्कृतिक अधिकार मात्र भाषाई समूहों के लिए प्रदान किए जाने चाहिए न कि धार्मिक समूहों को। जय प्रकाश नारायण ने कहा कि "राष्ट्रीय शिक्षा और एकता के विकास के लिए आवश्यक है एक सामान्य धर्मनिरपेक्ष शिक्षा और आवश्यक है कि संविधान में सुनिश्चित किए गए सांस्कृतिक और शैक्षणिक अधिकार केवल भाषाई अल्पसंख्यकों तक ही सीमित रहें। इसी तरह, दामोदरसवारुप सेठ ने सुझाव दिया कि "मात्र भाषाई आधार पर ही अल्पसंख्यकों को मान्यता प्राप्त होनी चाहिए: धर्म या समुदाय के आधार पर अल्पसंख्यकों की मान्यता राज्य के धर्मनिरपेक्ष चरित्र के अनुसार नहीं है। अगर ऐसे अल्पसंख्यकों को अपने स्वयं के शैक्षिक संस्थानों को स्थापित करने व उनका संचालन करने का अधिकार दिया गया तो यह न केवल राष्ट्रीय एकता के मार्ग को अवरुद्ध करेगा बल्कि सांप्रदायिकता और राष्ट्र विरोधी दृष्टिकोण को भी बढ़ावा देगा। "उनके शब्द आधुनिक भारत में एकदम तर्कसंगत हैं जो आज एक प्रतिस्पर्धी अल्पसंख्यक की भूमि बन गया है।

जी. बी. पंत ने इससे पूर्व ही अल्पसंख्यक उप समिति की अप्रैल 1947 की बैठक में सुझाव दिया था कि अल्पसंख्यकों के सांस्कृतिक और शैक्षिक अधिकारों को गैर–न्यायसंगत निर्देश सिद्धांतों में सम्मिलित किया जाना चाहिए। राजकुमारी अमृतकौर ने इसी तरह प्रस्तावित किया था कि धार्मिक अल्पसंख्यकों को अलग–अलग शैक्षणिक संस्थान स्थापित करने की अनुमति नहीं दी जाएगी, न ही इन संस्थानों को राज्य सहायता प्रदान की जाएगी। (ibid) इसलिए हम संवैधानिक असेंबली में भी धर्म पर आधारित सांस्कृतिक अधिकारों की मान्यता को अस्वीकार करते हैं, मात्र भाषाई आधार पर ही अल्पसंख्यक की परिभाषा को स्वीकार करते हैं। लेकिन भारतीय संविधान ने उन मुसलमानों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए कार्य करना आरंभ किया जो पाकिस्तान नहीं गए थे तथा उन्हें संविधान के अंतिम मसौदे में भाषाई और धार्मिक अल्पसंख्यकों दोनों के लिए इन अधिकारों को मान्यता दी।

अनुच्छेद 29 और 30

संविधान ने 'अल्पसंख्यक' शब्द को पर्याप्त रूप से परिभाषित नहीं किया था। भले ही यह धर्म और भाषा की सांस्कृतिक विशेषताओं का उल्लेख करता है, फिर भी इसमें इस अवधारणा के भौगोलिक या संख्यात्मक विनिर्देश पर किसी भी प्रकार का कोई विवरण नहीं है। संविधान अल्पसंख्यक श्रेणी के अंतर्गत विशेष रूप से किसी भी भाषा और धर्म का उल्लेख नहीं करता है। अनुच्छेद 23 पर संविधान सभा में हुई बहस में, भीम राव अम्बेडकर ने कहा कि इस शब्द का प्रयोग तकनीकी रूप से अल्पसंख्यक को इंगित करने के लिए किया जाता था, बल्कि इस शब्द के दायरे में वह अल्पसंख्यक भी आएंगे जो तकनीकी अर्थों में अल्पसंख्यक नहीं हैं, लेकिन फिर भी सांस्कृतिक और भाषाई अर्थ में अल्पसंख्यक हैं। (संविधान सभा बहस, खंड II 9 22–923)। यह उपर्युक्त व्याख्या से प्रतीत होता है कि मसौदे के अनुच्छेद 23 का दायरा जो अब अनुच्छेद 29 है, अल्पसंख्यक शब्द को हटाकर इस प्रकार विस्तृत हो गया था कि इसमें उनमें सभी अल्पसंख्यकों को सम्मिलित किया जाए जो तकनीकी रूप से अल्पसंख्यक नहीं है परंतु फिर भी अल्पसंख्यक थे।

अल्पसंख्यक अधिनियम, 1992 के राष्ट्रीय आयोग ने केंद्र को केवल उस अधिनियम के सीमित उद्देश्यों के लिए अल्पसंख्यकों को सूचित करने और उस शक्ति के प्रयोग में सक्षम करने के लिए सक्षम किया, सरकार ने पांच धार्मिक समुदायों– मुस्लिम, ईसाई, सिख, बौद्ध और पारसी को अल्पसंख्यकों के रूप में सूचित किया। ये पांच समुदाय देश की लगभग आबादी का लगभग 17þ हिस्सा हैं।

ऐसा लगता है कि संविधान निर्माता अल्पसंख्यकों के विचार के आधार पर एक अलग प्रतिनिधित्व की औपनिवेशिक विरासत को शामिल करने के इच्छुक नहीं थे, अपितु वह धार्मिक और भाषाई पहचान के आधार पर सांस्कृतिक संरक्षण के लिए अल्पसंख्यक अधिकार को पहचानने पर सहमत हुए। यहां तक कि यह प्रस्ताव समस्या को सही से पहचान नहीं सका क्योंकि इसने अल्पसंख्यक को एक ऐसी तरल पहचान प्रदान की है जो अंतरिक्ष और समय के साथ बदलती रहती है। लेकिन देश में छद्म–धर्मनिरपेक्षता की राजनीति की वजह से सबसे बड़ा खतरा कई संविधान निर्माताओं द्वारा विरोध किए गए धार्मिक अल्पसंख्यक को पहचानने के तथ्य से उत्पन्न हुआ है।

न्यायिक निर्णयों में अल्पसंख्यक

सबसे पहली बार धारा 30 पर केरल शिक्षा अधिनियम, 1975759 में अनुच्छेद 143 के अंतर्गत राष्ट्रपति द्वारा किए गए संदर्भ पर विचार करने के लिए सात न्यायाधीश संविधान बेंच के गठन के सम्मुख व्याख्या हुई। यह कहा गया, "अल्पसंख्यक समुदाय का अस्तित्व सभी परिस्थितियों में होना चाहिए और उस राज्य के सभी कानूनों के प्रयोजनों के लिए केवल राज्य आधार पर निर्धारित किया जाना चाहिए केवल तब जब पूरे राज्य में विस्तारित कानून की वैधता प्रश्न में है या इसे विशेष क्षेत्र की जनसंख्या के आधार पर निर्धारित किया जाना चाहिए, हमारे सामने जो अधिनियम पूरे राज्य में है और इसके परिणामस्वरूप अल्पसंख्यक को पूरे राज्य के संदर्भ में निर्धारित किया जाना चाहिए। इस लिहाज से ईसाई, मुस्लिम और एंग्लो इंडियंस निश्चित रूप से केरल राज्य में अल्पसंख्यक होंगे। "(एआईआर 1958 एससी 956)। उच्चतम न्यायालय ने ने अल्पसंख्यक पहचान के लिए 50 प्रतिशत से कम आबादी के अंकगणितीय सारणी की तकनीक का सुझाव दिया। यह लागू कानून की प्रयोज्यता पर लागू किया जाना था। यदि कानून को राष्ट्रीय स्तर पर लागू किया जाना है तो प्रयोज्यता को राष्ट्रीय आंकड़ों पर फैसला किया जाना चाहिए और यदि इसे किसी राज्य में लागू किया जाना है तो इसे राज्य के आंकड़ों पर निर्णय करना होगा।

डीएवी कॉलेज में जालंधर केस (1971) में उच्चतम न्यायालय की संवैधानिक खंडपीठ ने अपने पहले के फैसले की पुष्टि की कि अल्पसंख्यकों को केवल उस विशेष कानून के संबंध में ही निर्धारित किया जाना चाहिए जिसे लागू किया जाना है, अर्थात् यह केवल राज्य की जनसंख्या के आधार पर ही तय होगा कि अल्पसंख्यक कौन है। (एआईआर 1971 एससी 1737) जहां तक भाषा का सवाल है, डीएवी कॉलेज जालंधर बनाम पंजाब राज्य के मामले को महत्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि भाषाई अल्पसंख्यक को परिभाषित करने में अदालत ने कहा, 'अनुच्छेद 30 (1) के उद्देश्य के लिए एक भाषाई अल्पसंख्यक वह है जिसके पास कम से कम एक अलग बोली जाने वाली भाषा होनी चाहिए। यह जरूरी नहीं है कि भाषा

बोलने वालों के लिए एक अलग लिपि भी होनी चाहिए "इस फैसले का महत्व भाषाई अल्पसंख्यक के तथ्य से बहुत तरल पहचान होने के तथ्य से समझा जा सकता है।

ब्रहमचारी सिंधेश्वरीशाई बनाम पश्चिम बंगाल राज्य (1995) में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि संविधान के अनुच्छेद 26 के अंतर्गत एक हिंदु संप्रदाय रामकृष्ण मिशन को अनुच्छेद 30 के अंतर्गत धार्मिक अल्पसंख्यक नहीं माना जा सकता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुच्छेद 30 (1) की सुरक्षा देने का न्यायालय निर्णय केवल धार्मिक समूहों के लिए उपलब्ध है ((1 99 5) 4 एससीसी 646)। इस फैसले ने स्पष्ट किया कि अल्पसंख्यक स्थिति की मान्यता केवल धार्मिक समूह के लिए उपलब्ध है और धर्म के संप्रदायों या समूह के लिए उपलब्ध नहीं है।

टीएमए पाई फाउंडेशन बनाम कर्नाटक राज्य (2002) में उच्चतम न्यायालय की ग्यारह न्यायाधीश खंडपीठ ने बहुमत से उपरोक्त मामले में निर्णय देकर कहा कि 'अनुच्छेद 30(1) में अल्पसंख्यक का अर्थ भाषाई और धार्मिक अल्पसंख्यकों से है।' अल्पसंख्यक का निर्धारण करने की इकाई राज्य होगी न कि पूरा भारत अर्थात अल्पसंख्यकों का निर्धारण राज्यवार होना चाहिए। ((2002) 8 एससीसी 481)

अल्पसंख्यक की अवधारणा अभी भी विकसित ही हो रही है, क्योंकि यह मुद्दा एक बार फिर बलपतिल बनाम केन्द्र सरकार (2005) और अंजुमन मदरस नूरुल इस्लाम देहरा कलान,गाजीपुर बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (2007) मामले में बताया गया था। लेकिन बाद के निर्णयों ने अल्पसंख्यकों की परिभाषा के सवाल को और जटिल बना दिया है, क्योंकि ये दोनों निर्णय निश्चित रूप से कुछ निश्चित मुद्दों से संबंधित हैं। बलपतिल निर्णय ने जैनों की धार्मिक अल्पसंख्यक के रूप में पहचान की, जबकि अंजुमन मदरस नूरुल इस्लाम देहरा कलान, गाजीपुर बनाम उत्तर प्रदेश राज्य में माननीय एस एन श्रीवास्तव जे ने यह निर्णय दिया कि मुसलमानों को उनकी संख्या के आधार पर उत्तर प्रदेश में अल्पसंख्यक नहीं माना जा सकता है। पटना उच्च न्यायालय ने आर्य समाज (आर्यप्रतिनिधिभाव राज्य बिहार) (1958) को हिंदुओं से अलग एक अल्पसंख्यक बताया। हालांकि, 1976 में, आर्यसमाज एजुकेशन ट्रस्ट बनाम शिक्षा निदेशक में दिल्ली उच्च न्यायालय ने संप्रदायों को अनुच्छेद 30 के लाभ प्रदान करने के विरूद्ध निर्णय लिया।

इससे हिंदू धर्म के भीतर अलग–अलग संप्रदायों की मांगों के बढ़ने तथा उन्हें अलग संप्रदाय घोषित करने की भी आशंका है। उपरोक्त न्यायिक निर्णय इसी तरह के प्रश्न पर न्यायाधीशों के दृष्टिकोण में असंगतता दिखाते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि प्रतिस्पर्धी अल्पसंख्यकता इस देश में पहले से ही नाजुक हिंदू एकता को खंडित करने की क्षमता रखती है।

निष्कर्ष

'अल्पसंख्यक' की पश्चिमी धारणा की मान्यता और सत्ता प्राप्त करने के साधन क रूप में प्रयोग ने हमारे संविधान निर्माताओं के डर को प्रकट किया है। हिंदू धर्म एक बहु–धार्मिक पहचान है, इसलिए बहुमत वाले हिंदू राज्य में धार्मिक अल्पसंख्यक के विचार ने सांप्रदायिक राजनीति को बढ़ने और समृद्ध होने के लिए बहुत ही अनुकूल आधार प्रदान किए हैं। भारत में अल्पसंख्यक शब्द को एक साम्राज्यवादी योजना ने उस पर शासन करने के लिए तैयार किया था। इससे उत्पन्न हुए अल्पसंख्यकवाद ने भारत का विभजन कराया। परंतु भारत इससे भी सबक सीखने में असफल रहा, इसलिए अल्पसंख्यकवाद की राजनीति भारत की राष्ट्रीय एकता और अखंडता को हर क्षण खंडित कर रही है। भारत के संविधान में धार्मिक अल्पसंख्यक की अवधारणाओं से बचा जाएगा तभी भारत की एकता और अखंडता को और मजबूत किया जा सकता है। एक धर्मनिरपेक्ष देश में अल्पसंख्यक के सांप्रदायिक आधार ने आज राजनीति में दिखाई देने वाले विभाजन के संकेतों को छोड़ा नहीं है। भारत को इस संबंध में एक संवैधानिक संशोधन की आवश्यकता है ताकि धार्मिक अल्पसंख्यक के विचार को एकदम नेस्तनाबूत किया जा सके। सामाजिक–राजनीतिक एकता की प्राप्ति की दिशा में पहला कदम, एक समान नागरिक संहिता को देश में राष्ट्रीय एकता का प्रवाह करने के लिए लागू की जानी चाहिए। ■

संदर्भ संकेत

1 *जीन जैकस रोसेउ, द सोशल कॉंट्रैक्ट, अनूदित तथा प्रस्तुत मॉरिस कांस्टन, पेग्विन, हार्मडस्वर्थ1968ए पृष्ठ 153*
2 *लैपोंस जे ए, द प्रोटेक्शन ऑफ माइनोरिटीज, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलीफोर्निया, पॉलिटिकल साइंस, संस्करण 1960, पृष्ठ5 में प्रकाशित*
3 *फ्रैंक कैपोटोरी, स्टडी ऑन द राइट ऑफ पर्सन बिलॉगिंग टू द एथेनिक, रिलिजियस एंड लिंग्विस्टिक माइनोरिटीज (न्यूयॉर्कः यूनाइटेड नेशंस 1979) अनुच्छेद 568*
4 *इंटरनेशनल कोवेंट ऑन सिविल एंड पॉलिटिकल राइट्स, 16 दिसंबर 1966 को अपनाई गई जो 23 मार्च 1976 को लागू हुई जीए रेस. 2200 (XXI), 21 यूएन, जीएओआर सप्प सं0 16, 52ए यूएन, डॉक ए/6316 (1966).)*
5 *हुसैन मुजफ्फरपुर, इन्साइट इनटू माइनोरिटिज्म इंडिया फर्स्ट फाउंडेशन, नई दिल्ली 2003 पृष्ठ 27.38*
6 *एंड्रे लीबिग माइनोरिटी एज इंफीरियरिटीः माइनोरिटी राइट्स इन हिस्टोरिकल पर्सपेक्टिव रिव्यु ऑफ इंटरनेशनल स्टडीज, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस संस्करण 34ए सं 2 (अप्रैल 2008) पृष्ठ 243. 263*
7 *रोचना बाजपेयी, कांस्टिटयुट असेम्बली डिबेट एंड माइनोरिटी राइट्स इकॉनोमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, संस्करण 35ए सं 21/22 (मई 27 – जून 2, 2000), पृष्ठ 1837–1845)*
8 *शेफाली झा राइट्स बनाम रिप्रेजेंटेशनः डिफेंडिंग माइनोरिटी इंटरेस्ट इन द कॉस्टिटवेंट असेंबली इकॉनोमिक्स एंड पॉलिटिकल वीकली, संस्करण 38, सं. 16 (अप्रैल 19–25, 2003), पृष्ठ 1579–1583*
9 *एआईआर 1958 SC 956*
10 *संविधान सभा की बहसें संस्करण II :पृष्ठ 922–923).*
11 *एआईआर 1971 एससी 1737*
12 *(1995) 4 SCC 646*
13 *(2002) 8 SCC 481*

अलिशा ढींगरा

भारत में महिला अधिकारों के संघर्ष का इंतिहास

एनी बेसेंट 1917 में कांग्रेस की पहली महिला अध्यक्ष बनी। उनके अध्यक्ष पद के कार्यकाल के दौरान ही कांग्रेस में इस विश्वास व मत की पुष्टि हुई कि शिक्षा के संबंध में महिलाओं और पुरुषों पर एक समान ही नियम लागू होंगे। -उनके द्वारा महिलाओं का शक्तिवर्धन गांधी के समान ही है-और उनके अनुसार होम रूल आंदोलन में भारी संख्या में महिलाओं को कॉग्रेस से जोड़ने से इसका आकार दस गुना बढ़ गया

भारतीय संविधान में महिलाओं को प्राप्त लैंगिक समानता महिला कार्यकर्ताओं, प्रगतिशील पुरुष नेताओं और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के भीतर महिला नेताओं और महिला संगठनों के लंबे संघर्ष का परिणाम हैं। जब हम एकीकृत राष्ट्रीय आंदोलन की छवि को देखते हैं तो पाते हैं कि वह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के गठन से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति तक महिलाओं के अधिकारों के आंदोलन की उपेक्षा करती है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक कई महिलाओं जैसे ताराबाई शिंदे[1] तथा बीसवीं शताब्दी के दौरान पेरियार जैसे पुरुषों ने पितृसत्तात्मक विचारधारा को चुनौती दी, जिसमें परिवार में महिलाओं की अधीनता पर कई प्रश्न उठाए गए। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य जगत में यह भी माना जाता है कि पूर्ण कानूनी और राजनीतिक समानता प्राप्त होने के पश्चात ही परिवार में समानता की मांग उत्पन्न होती है। भारत में ऐसा नहीं था। 1930 तक, महिला संगठनों ने परिवार में समानता का दावा करना शुरू कर दिया और व्यक्तिगत कानूनों के सुधार के लिए अभियान शुरू कर दिए थे।

यह भी देखना उल्लेखनीय है कि 1889 के कांग्रेस अधिवेशन (कांग्रेस के गठन के सिर्फ चार साल बाद) में महिलाओं की उपस्थिति थी। 1889 कांग्रेस की रिपोर्ट बताती है कि ''कम से कम दस महिला प्रतिनिधियों ने सभा को गरिमा प्रदान की थी, एक को सार्वजनिक बैठक में पुरुषों द्वारा चुना गया था जबकि अन्य महिलाएं विभिन्न महिला संगठनों, महिला ईसाई धर्म संगठन, बंगाली महिला संगठन और महिला आर्य समाज[2] से हिस्सा लेने आईं (कुमार 1993: 34)।'' यह रामाबाई[3] के प्रयासों का ही प्रताप था कि महिला प्रतिनिधियों ने इस बैठक में भाग लिया। चार्ल्स ब्रैडलाघ ने उन्हें सलाह दी कि महिला प्रतिनिधियों को इस समय से ही कांग्रेस में शामिल होना चाहिए ताकि जब कांग्रेस स्वतंत्र भारत की संसद बनाए तो उनकी हर समस्या पर बात हो सके। रिपोर्ट इस तथ्य को पूर्णतया प्रदर्शित नहीं करती है कि यद्यपि महिला प्रतिनिधियों को बैठक में बैठने की तो अनुमति दे दी गई थी, परंतु उन्हें अपना मत रखने या किसी प्रस्ताव पर अपना वोट देने का अधिकार नहीं था। 1890 के अधिवेशन के दौरान एक महिला को कॉग्रेस के अध्यक्ष को धन्यवाद देने का अवसर प्रदान किया गया था। उन्होंने स्वयं को बोलने की अनुमति देने के लिए आभार व्यक्त करते हुए कहा था कि इसने भारतीय महिलाओं की सामाजिक स्थिति को ऊंचा उठाया।[4]

एनी बेसेंट[5] 1917 में कांग्रेस की पहली महिला अध्यक्ष बनी। उनके अध्यक्ष पद के कार्यकाल के दौरान ही कांग्रेस में इस विश्वास व मत की पुष्टि हुई कि शिक्षा के संबंध में महिलाओं और पुरुषों पर एक समान ही नियम लागू होंगे[6]। -उनके द्वारा महिलाओं का शक्तिवर्धन गांधी के समान ही है-और उनके अनुसार होम रूल आंदोलन में भारी संख्या में महिलाओं को कॉग्रेस से जोड़ने से इसका आकार दस गुना बढ़ गया। जिसके कारण स्त्री के स्वभावगत नायकत्व, धैर्य तथा आत्म बलिदान को प्रचारित करने में सहायता प्राप्त हुई।[7]

कुछ संभ्रात महिलाओं के अखिल भारतीय प्रतिनिधिमंडल ने 15 दिसंबर, 1917 को मोंटेग्यू और चेम्सफोर्ड से भेंट की। उन्होंने उन्ही शर्तों के आधार पर मताधिकार की मांग की जो शर्तें पुरुषों के लिए निर्धारित थीं। इसके अगले वर्ष,

वर्ष, मुम्बई में आयोजित कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में नायडू[8] ने महिलाओं के लिए मताधिकार की मांग की थी। (वही) उन्होनें कहा था,

कभी नहीं, कभी नहीं, हम यह अनुभव करते हैं कि पुरुषों व स्त्रियों के अलग–अलग लक्ष्य हैं, अलग नियतियां हैं तथा जिस प्रकार एक पुरूष कभी भी स्त्रियों की जिम्मेदारियों को नहीं निभा सकता, उसी प्रकार स्त्रियां भी पुरुषों की जिम्मेदारियों को नहीं निभा सकती हैं, ... हम वोट मांगते हैं, इसलिए नहीं कि हम आपके आधिकारिक कार्यों, आपके नागरिक कर्तव्यों, आपके सार्वजनिक स्थानों और आपकी शक्ति में हस्तक्षेप कर सकें हैं, बल्कि हम उन बच्चों की आत्माओं में राष्ट्रीय चरित्र की नींव रख सकते हैं जिन्हें हम अपनी गोद में थामते हैं, और उनमें राष्ट्रीय जीवन के आदर्शों को डाल सकते हैं।[9]

इस विशेष अधिवेशन में 5000 प्रतिनिधियों ने भाग लिया था और प्रस्ताव को 75 प्रतिशत बहुमत से अनुमोदित किया गया था।

सरला देवी चौधरानी[10] ने दिसंबर 1918 में कांग्रेस के तीसरे सत्र में महिलाओं के लिए मतदान की वकालत करते हुए इसके प्रस्ताव को प्रस्तुत किया। उन्होंने जोर देकर कहा कि महिलाओं को मानवाधिकार, न्याय, स्वतंत्रता और आत्मनिर्णय के इस युग में अपनी नियति को स्वयं निर्धारित करने का अधिकार उतना ही है जितना पुरुषों को। महिलाओं के पास भी आत्मनिर्णय का अधिकार है। उन्होंने कहा कि दुनिया ने कुछ विचारों को उखाड़ कर फेंक दिया है और मुख्य रूप से उनमें विभाजन का वह विचार है जो स्थापित करता है कि बुद्धि और भावना के क्षेत्र क्रमशः पुरुषों और महिलाओं के मध्य विभाजन है[11]। उन्होंने जोर देकर कहा कि पुरुषों के जीवन में हर उतार–चढाव में उनका साथ देना महिलाओं का कार्यक्षेत्र है तथा राजनीति व अन्य क्षेत्रों में पुरुषों के साथी कार्यकर्ता के रूप में सम्मिलित होना है।[12]

वहीं कुमार[13] (1993) तर्क देती हैं कि राष्ट्रवाद और स्त्रीवाद के बीच एक अस्पष्ट संबंध था। एक तरफ, राष्ट्रवाद का स्त्रीवाद पर अत्यंत ही लाभकारी प्रभाव पडा क्योंकि इसने इसे मात्र आभिजात्य वर्ग के दायरे से बाहर निकाला तो वहीं दूसरी ओर इसने स्त्रीवादियों के बीच विभेद पैदा किया। बेगम शाह नवाज[14] और कमला सुब्बारायण[15] ने प्रथम गोल मेज सम्मेलन (नवंबर 1930 से जनवरी 1931 तक) में विधायिकाओं में महिलाओं के लिए आरक्षण की मांग को उठाया और तर्क दिया कि महिलाएं प्रारंभिक आरक्षण के माध्यम से पुरुषों के साथ समानता तक पहुंच सकती हैं। राष्ट्रवादी महिलाओं ने इस तर्क का विरोध किया और सम्मेलन में बेगम शाह नवाज और कमला सुब्बारायण की प्रतिभागिता के खिलाफ राष्ट्रीय स्त्री सभा और देश देविका संघ द्वारा प्रदर्शन आयोजित किए गए[16]।

दूसरे गोलमेज सम्मेलन के दौरान, राष्ट्रवादी स्त्रीवादियों द्वारा सम्मेलन में एक ज्ञापन प्रस्तुत किया गया, जिसने महिलाओं को दी जाने वाली सभी छूटों का निषेध किया गया, फिर चाहे वह आरक्षण हो, नामांकन हो या सह–वरण, और यह घोषणा की कि 'किसी भी प्रकार के प्राथमिकता वाले व्यवहार की मांग करना राजनीतिक स्थिति की पूर्ण समानता के लिए भारतीय महिलाओं के सार्वभौमिक निर्णय की एकात्मकता का उल्लंघन करना ही है'[17]।

1917–1927 के बीच की अवधि में राष्ट्रीय स्तर पर तीन महिलाओं के संगठनों का उद्भव देखने को मिलता हैः वीमेंस इंडियन एसोसिएशन (डब्ल्यूआईए), अखिल भारतीय महिला सम्मेलन (एआईडब्ल्यूसी) और तथा अखिल भारतीय स्त्री परिषद (एनसीडब्ल्यूआई)। इन संगठनों के अभियानों में जिन मुद्दों का वर्चस्व था वह अधिकांश शादी, तलाक और विरासत से संबंधित थे और महिलाओं के लिए शैक्षणिक और आर्थिक अवसरों का विस्तार करने के लिए थे। वीमेंस इंडिया एसोसिएशन की स्थापना एनी बेसेंट, डोरोथी जिनाराजादास[18], मालती पटवर्धन[19], अम्मु स्वामीनाथन[20], श्रीमती दादाभाई और श्रीमती अंबुजमल[21] ने की थी। 1932 में राजकुमारी अमृतकौर[22] ने इस संगठन को 'भारत में रूप लेने वाले पहले शुद्ध स्त्रीवादी संगठन' के रूप में कहकर सम्मानित किया।[23] वीमेंस इंडिया एसोसिएशन महिला श्रमिकों की मांगों को उठाने वाला पहला महिला संगठन था। मातृत्व अवकाश की मांग पहली बार 1921 की जमशेदपुर हड़ताल में सामने आई थी। इसे अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के चार्टर में संगठन के गठन के वर्ष से ही प्रस्तुत किया गया था। बॉम्बे मातृत्व लाभ अधिनियम 1929 में पारित किया गया था, जिसके बाद अन्य प्रांतों में उसके जैसे ही कानून बने।[24]

जब यह स्पष्ट हो गया कि बंगाल कांग्रेस महिलाओं की समस्याओं के विषय में गंभीर नहीं है तो महिला नेताओं ने एक अलग महिला कांग्रेस बनाने के लिए एक बैठक की मांग की। मई 1931 में, बंगाल महिला सम्मेलन आयोजित किया गया जहां सरलादेवी चौधरानी ने सुस्पष्ट स्त्रीवादी एजेंडे के साथ एक विचारोत्तेजक भाषण दिया। जहां उन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओं को स्थान देने में पुरुषों की भूमिका की सराहना की लेकिन संदेह व्यक्त किया कि क्या वे वास्तव में महिलाओं की स्थिति में सुधार के बारे में चिंतित हैं। उन्होंने जोर देकर कहा कि हालांकि महिलाओं को सजावटी व लुभावने भाषणों से तो सम्मानित किया गया था लेकिन उप–समितियों और परिषदों में उन्हें नियुक्त नहीं किया गया। उन्होंने आरोप लगाया कि कांग्रेस ने केवल महिलाओं को 'कानून–तोड़ने वालों की स्थिति दी है, न कि कानून निर्माताओं' की स्थिति[25]। उन्होंने घोषणा की कि समय आ गया है

कभी नहीं, कभी नहीं, हम यह अनुभव करते हैं कि पुरुषों व स्त्रियों के अलग-अलग लक्ष्य हैं, अलग नियतियां हैं तथा जिस प्रकार एक पुरूष कभी भी स्त्रियों की जिम्मेदारियों को नहीं निभा सकता, उसी प्रकार स्त्रियां भी पुरुषों की जिम्मेदारियों को नहीं निभा सकती है

महिलाओं की स्थिति के विषय में पूरी तरह से आवाज उठाई जाए तथा पूरी दुनिया में जिस तरह से महिलाओं की आवाजें उठ रही हैं, उनमें शामिल होना चाहिए। उन्होंने सवाल किया कि कांग्रेस ने अभी तक वेश्या विरोधी अभियान क्यों नहीं चलाया। उन्होंने कानूनी, आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक समानता की मांग की। सरलादेवी जिन श्रोताओं से बात करती थीं वह उनके जैसे कट्टर नहीं थे और इस सम्मेलन के भी समापन सत्र में उन्होंने सामान्य मांगों को ही सामने रखा तथा कई महत्वपूर्ण मुद्दों को रोक दिया जैसे जन्म नियंत्रण तथा महिलाओं के लिए समान अधिकारों आदि। साथ ही यह फैसला किया कि अलग महिला कांग्रेस नहीं बनाई जाएगी।[26]

अखिल भारतीय महिला कांग्रेस सारदा अधिनियम और प्रस्तावित भारत अधिनियम दोनों से असंतुष्ट थी और 1934 में सरकार से उसने महिलाओं की कानूनी अक्षमताओं को दर्शाने के लिए एक समग्र आयोग की नियुक्ति करने को कहा। वह जिन समस्याओं को सामने लाई थी वह विरासत, विवाह और बच्चों का अभिभावक होने की समस्याएं थीं। उनका अंतिम उद्देश्य एक नया कानून पारित करना था। अखिल भारतीय महिला कॉग्रेस की कानूनी सचिव रेणुका रे[27] ने एक पुस्तिका लिखीः 'भारतीय महिलाओं की कानूनी विकलांगताः जांच आयोग के लिए एक दलील'। उन्होंने सभी भारतीय महिलाओं के लिए एक नए कानून के समर्थन में बात की। उन्होंने लिखा कि भारतीय महिलाओं की कानूनी स्थिति आज दुनिया में सर्वाधिक असमानताग्रस्त है। रे ने नए निजी और पारिवारिक कानून की मांग की जो महिलाओं को स्वायत्तता दे और पूरी तरह से सार्वजनिक जीवन में भाग लेने के लिए तैयार करे।[28]

1937 में जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक 'राष्ट्रीय योजना समिति' की स्थापना की गई थी। लक्ष्मीबाई राजवाड़े[29], सरोजिनी नायडू, विजय लक्ष्मी पंडित[30], हंसा मेहता[31], श्रीमती मनेकलाल प्रेमचंद[32], बेगम शाह नवाज[33], बेगम हामिद अली[34], सुषमा सेन और राधाभाई सुब्बारॉयन नियोजित अर्थव्यवस्था[35] में महिलाओं की भूमिका का विश्लेषण करने

आर्थिक स्वाधीनता को न केवल इस संदर्भ में समझा गया था कि रोजगार महिलाओं को समान रूप से मिलें बल्कि सामूहिक आय और परिवार के संसाधनों में महिला को सहसाझीदार बनाना भी अधिक महत्वपूर्ण था

के लिए गठित उपसमिति की अन्य मुख्य सदस्या थीं। उप–समिति की अंतिम रिपोर्ट (योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था में महिला भूमिका– डब्लूआरपीई) को 1940 में राष्ट्रीय योजना समिति के पूर्ण सत्र के समक्ष प्रस्तुत किया गया था। उप–समिति ने जिन कुछ अधिकारों के विषय में अपने विचार रखे थे वह थे एक व्यक्ति के रूप में नए मतदान का समान अधिकार, सार्वजनिक पद या रोजगार प्राप्त करने का अधिकार, सार्वजनिक सेवाओं के लिए बराबर उपलब्धता की मांग करते हुए कार्य का अधिकार, और महिलाओं के लिए रोजगार के अवसरों को खतरे में डाले बिना एक काम में एक समान मजदूरी, किसी भी राष्ट्रीयता को चुनने का अधिकार, स्वास्थ्य, अवकाश और मनोरंजन का समान अधिकार[36]। रिपोर्ट में निहित विचार था कि 'गृहिणियां भी कामकाजी महिला हैं।'[37] 'काम के निश्चित घंटों की अवधारणा, रसोई में कार्यों से पर्याप्त राहत, घरेलू कर्तव्यों को कम करने/साझा करने के सहयोगी प्रयास आदि सुझावों ने महिलाओं के काम के दायरे और अर्थ का विस्तार करने की मांग की'[38]।

इस रिपोर्ट में, आर्थिक स्वाधीनता को न केवल इस संदर्भ में समझा गया था कि रोजगार महिलाओं को समान रूप से मिलें बल्कि 'सामूहिक आय और परिवार के संसाधनों में महिला को सहसाझीदार बनाना भी अधिक महत्वपूर्ण था (आर्य 2000: 48)। इसके अलावा, इस रिपोर्ट ने घर पर महिलाओं के काम के आर्थिक मूल्य पर जोर दिया और परिवार के संचालन में उनके योगदान के लिए मान्यता की मांग की। इस रिपोर्ट में महिलाओं की स्थिति को सुधारने के लिए समान मजदूरी, काम के बराबर अवसर, बच्चों की देखभाल सेवाओं आदि की मांग सहित कई अनुशंसाएं थीं।[39] डब्लूआरपीई रिपोर्ट ने यह संज्ञान लिया कि 'महिलाओं के आर्थिक अधिकार इस विषय में प्रासंगिक थे कि हर स्त्री को उसी आर्थिक संरचना में एक पृथक तथा स्वतंत्र इकाई समझा जाए'[40](आपराधिक कानून 2013 में संशोधन पर समिति की रिपोर्टः 34)। रिपोर्ट में क्रेच की सुविधाओं के प्रावधान पर जोर दिया गया है, यह उल्लेखनीय है क्योंकि इस महत्वपूर्ण प्रावधान को 2006 के उत्तरार्ध 'महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना (मनरेगा)' तक मान्यता नहीं मिली थी। रिपोर्ट में सुझाव दिया गया है कि "दिन के दौरान सभी कामों को कम करना चाहिए – ताकि दिन में भोजन आसानी से लिया जा सके और गृहणी को रसोई के कार्यों से मुक्त किया जा सके"[41]। रिपोर्ट ने 'महिलाओं के बजाय पुरुष श्रमिकों को प्राथमिकता दिए जाने की निंदा की और महिलाओं के लिए उनकी वैवाहिक स्थिति को तवज्जो न देते हुए काम के लिए समान गारंटी की मांग की।[42]

रॉय ने बताया कि हालांकि रिपोर्ट की कई अनुशंसाएं ऐसी हैं जो महिलाओं के लिए उपलब्ध अवसरों में और वृद्धि करती है। हालांकि, उप–समिति लिंग समानता का जब अपना दावा करती है तो वह देश और समुदाय के लिए महिलाओं के द्वारा उन विशेष योगदानों को ध्यान में रखती है जो वह पुर्नसर्जक तथा निर्वाहक के रूप मे तथा भविष्य की पीढियों के अभिभावक और ट्रस्टी के रूप में करती हैं।[43]

महिलाओं के अधिकारों से संबंधित विभिन्न प्रयासों को 1937 और 1938 के मध्य इसी समय के दौरान आरंभ किया गया था जैसे हिंदू महिला अधिकार संपत्ति विधेयक, बाल विवाह प्रतिबंध अधिनियम में संशोधन, अंर्तजातीय विवाह की अनुमति देने के लिए एक विधेयक, हिंदू महिला का तलाक अधिकार का विधेयक, मुस्लिम पर्सनल लॉ विधेयक , बहुपत्नी रोकथाम अधिनियम और मुस्लिम महिलाओं का तलाक अधिकार अधिनियम । इनके साथ

ही दहेज विरोधी विधेयक, विवाह कानून और महिलाओं को विरासत में अधिकार विधेयक को प्रांतीय विधायिकाओं में प्रस्तुत किया गया था।[44]

पेश किए गए इन विधेयकों को एक–एक करके निरस्त कर दिया गया था। बहस में जिस तरह से विरोधी आवाजों ने अपना रूप दिखाया उसने महिला सदस्यों को चौंका दिया। बेगम हामिद अली तो विधानसभा में पुरुषों के पूरी तरह से असहज रवैये से विचलित हो गईं और उन्होनें निष्कर्ष निकाला कि पुरूष इस बात से डर गए थे कि उन्हें अपनी भूमि, शक्ति और धन का आधा हिस्सा खोना पड सकता है'।[45] उन्होंने तर्क दिया कि हालांकि महिलाओं की सभी समस्याओं को हल करने के लिए कानूनी सुधार स्वयं में अक्षम है, लेकिन फिर भी ये कुछ महिलाओं को वित्तीय सुरक्षा प्रदान करेंगे जो अपना जीवन जी सकती हैं और अपने बच्चों का ख्याल रख सकती हैं। यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि महिलाओं ने मानवीय अधिकारों की शब्दावली में अपनी इच्छाओं को तेजी से व्यक्त किया तथा राजनीति के विशेष योगदान के बारे में अक्सर कम बात की। बेगम हामिद अली ने जोर देकर कहा, 'महिलाएं मात्र मानवीय व्यवहार मांग रहीं हैं और कुछ नहीं तथा वह अपनी अक्षमताओं से मुक्त होना चाहती हैं।[46]

हिंदू कानून का अध्ययन करने और अनुशंसा देने के लिए सरकार द्वारा प्रतिष्ठित वकीलों की एक समिति का गठन करने का निर्णय युद्ध और राजनीतिक गड़बड़ी के कारण 1941 तक टलता गया। सर बीएन रॉव को जनवरी में 1941 इस समिति का अध्यक्ष चुना गया। समिति में एक महिला को भी शामिल करने की अपील पर ध्यान नहीं दिया गया। इसके बावजूद, महिलाओं के संगठनों ने इस कदम का समर्थन करने के लिए कड़ी मेहनत की। यह पहली बार था कि सभी महिला संगठनों ने राव कमेटी के लिए जानकारी इकट्ठा करने के लिए मिलकर काम किया[47]। राव कमेटी के लिए वक्तव्य का मसौदा तैयार करने के लिए, अखिल भारतीय महिला कॉंग्रेस ने मई 1941 में मुम्बई में स्थायी समिति की एक बैठक आयोजित की। मसौदे में अखिल भारतीय महिला कॉंग्रेस ने विरासत, विवाह, अभिभावक, बहुविवाह का निषेध और तलाक के वैधीकरण में महिलाओं के लिए बराबर अधिकार मांगा[48]। अखिल भारतीय महिला कॉंग्रेस ने प्रांतीय विधायकों के सामने कृषि भूमि के लिए हिंदू महिला के अधिकार अधिनियम का विस्तार करने की याचिका दायर की।

1941 में जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने विधानसभा का बहिष्कार किया, तो राष्ट्रवादी और स्त्रीवादी कार्यकर्ता दोनों ही इस दुविधा का शिकार हुईं कि क्या उन्हें महिलाओं के अधिकारों की रक्षा करने के लिए राव समिति के साथ सहयोग करना चाहिए या कांग्रेस बहिष्कार में शामिल होना चाहिए? गांधी जी हालांकि इस तथ्य से पूरी तरह से अवगत थे कि राव समिति वास्तविक मुद्दों से ध्यान हटाने के लिए ही थी, तथापि उन्होंने महिला कार्यकर्ताओं से समिति का बहिष्कार करने को नहीं कहा। उनका समझौता समाधान यह था कि राव कमेटी के साथ काम करने की इच्छा रखने वाली महिलाएं अपनी व्यक्तिगत क्षमता में यह काम कर सकती हैं लेकिन महिलाओं को किसी भी समूह के लिए वक्ता के रूप में कार्य करने से बचना चाहिए। इस तथ्य के बावजूद कि मृदुला साराभाई ने इस बात को स्वीकार किया कि यह प्रस्तावित सुधार 'मंदिरों में हरिजनों के प्रवेश अधिनियम के समान ही था फिर भी महिलाओं से असहयोग आंदोलन[49] को सफल बनाने के लिए कहा गया। दूसरी तरफ, सरोजिनी नायडू, विजयलाक्ष्मी पंडित और अमृत कौर जैसी कुछ कांग्रेस महिला नेताओं ने कानूनी सुधार की मांग की। इसके अलावा, श्रीमती रेणुका रे और श्रीमती राधाभाई सुब्बारायण (केंद्रीय विधान सभा में कांग्रेस महिला समूह) ने राव की समिति के काम की प्रशंसा की।[50]

अधिकारों के लिए अपने संघर्ष में, महिला नेताओं ने राष्ट्रवादी शब्दावली का प्रयोग किया। इस तथ्य के बावजूद कि भारत जैसे बहुलतावादी देश में विभिन्न क्षेत्रों, जातियों और वर्गों में महिलाओं के जीवन की स्थितियों में उल्लेखनीय अंतर था फिर भी भारतीय राष्ट' के विचार के निर्माण के लिए 'भारतीय स्त्रीत्व की एकीकृत छवि का निर्माण अत्यंत ही महत्वपूर्ण था। संविधान सभा की महिला सदस्यों द्वारा दिए गए भाषण स्पष्ट रूप से स्त्रीवाद पर राष्ट्रवादी विमर्श को दर्शाते हैं। संविधान सभा में, उन सभी मुद्दों पर एक आम सहमति देखी गई, जिन पर राष्ट्रवादी आंदोलन के दौरान सहमति बन चुकी थी जैसे महिलाओं को वोट देने का अधिकार प्रदान करना। महिला सदस्यों ने महिला होने के आधार पर विशेष प्रतिनिधित्व का विरोध किया और महिलाओं के आरक्षण के विरूद्ध बात की। उनके विचार राष्ट्रवादी शब्दावली से प्रभावित थे, जिन्होंने किसी भी विशेष प्रतिनिधित्व को राष्ट्रीय एकीकरण में एक अवरोध के रूप में देखा। राष्ट्रवादी शब्दावली ने इस प्रकार परिवर्तन के एजेंडे को उन्नत तो किया परंतु इसी के साथ बाधित भी उतना ही कर दिया। महिलाओं को देश सेवा का मौका उनकी योग्यता के आधार पर ही दिया गया। यह देखना रोचक था कि कई प्रगतिवादी प्रस्ताव जो कि लिंग भेद को हटा सकते थे, बदल सकते थे उन्हे या तो अनदेखा या पराजित कर दिया गया। इन प्रस्तावों में से कुछ प्रस्ताव देवदासी प्रणाली को खत्म करने, वैध और गैरकानूनी बच्चों के बीच भेदभाव को हटाने, विवाह के लिए कुरीतियों को हटाने, व्यक्तिगत कानूनों में सुधार, विवाह के क्षेत्र में समानता के स्पष्ट उल्लेख के द्वारा निजी क्षेत्र में समानता को विस्तारित करने के लिए आदि थे। ये प्रावधान

राष्ट्रवादी शब्दावली ने इस प्रकार परिवर्तन के एजेंडे को उन्नत तो किया परंतु इसी के साथ बाधित भी उतना ही कर दिया। महिलाओं को देश सेवा का मौका उनकी योग्यता के आधार पर ही दिया गया। यह देखना रोचक था कि कई प्रगतिवादी प्रस्ताव जो कि लिंग भेद को हटा सकते थे, बदल सकते थे उन्हे या तो अनदेखा या पराजित कर दिया गया

यहां तक कि वोट का अधिकार मौलिक अधिकारों का हिस्सा नहीं बन सका था और संविधान के भाग 15 में स्थानांतरित कर दिया गया था। संविधान सभा के एक सदस्य के द्वारा लाया गया संशोधन जो स्पष्ट रूप से निर्वाचित होने के अधिकार के विषय में था, उसे अस्वीकार कर दिया गया

पितृसत्तात्मक संरचना की जड़ को उखाड़ सकते थे और समाज में लिंग संबंधों मे बदलाव लाने की दिशा में काफी आगे ले जाते हैं। इस प्रकार, केवल उन अधिकारों को भारतीय संविधान में शामिल किया गया था, जिस पर राष्ट्रवादी आंदोलन के दौरान आम सहमति हासिल की गई थी, जैसे वोट देने का अधिकार। यहां तक कि वोट का अधिकार मौलिक अधिकारों का हिस्सा नहीं बन सका था और संविधान के भाग 15 में स्थानांतरित कर दिया गया था। संविधान सभा के एक सदस्य के द्वारा लाया गया संशोधन जो स्पष्ट रूप से निर्वाचित होने के अधिकार के विषय में था, उसे अस्वीकार कर दिया गया। इस तथ्य के बावजूद कि कई प्रगतिशील प्रस्ताव स्वीकार नहीं किए गए थे, लेकिन संविधान सभा के कुछ सदस्यों द्वारा व्यक्त की गई चिंता कि महिलाएं उनके साथ प्रतिस्पर्धा कर सकती हैं संविधान की परिवर्तनीय क्षमता को प्रमाणित करता हैं। भारतीय लोकतंत्र के गठित क्षण में प्रचलित लिंग विमर्श स्वतंत्रता के उपरांत राज्य के कई अंगों में परिलक्षित होते हैं व संविधान की व्याख्या करते हैं जैसे अदालतों द्वारा निर्णय, सरकारों द्वारा स्थापित समितियों की रिपोर्ट और आरक्षण और समान नागरिक संहिता पर विधायी बहस। ■

संदर्भ

1 *आर्य, साधना 2000. महिलाएं, लिंग समानता और राज्य–वीमेन, जेंडर एंड स्टेट। नई दिल्लीः दीप और दीप*
2 *फोर्ब्स, गेराल्डिन 1996 आधुनिक भारत में महिलाएं – वीमेन इन मॉर्डन इंडिया न्यूयॉर्कः कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस*
3 *कुमार, राधा .1993द हिस्ट्री ऑफ़ डूइंगः भारत में महिलाओं के अधिकारों और महिलाओं के लिए आंदोलन का एक इलस्ट्रेटेड खाता– एन इल्लस्ट्रेटड अकाउंट ऑफ मूवमेंट फॉर वीमेंस राइट एंड फेमिनिज्म इन इडिया 1800–1909। नई दिल्लीः जुबान*
4 *रॉय, अनुपमा 2005. जेंर्डड सिटीजनशिप नई दिल्लीः ओरिएंट लॉन्गमैन*
5 *आपराधिक कानून 2013 में संशोधन पर समिति की रिपोर्ट, 5 फरवरी 2015 को देखी गई जो निम्न लिंक पर उपलब्ध है– http://www.thehindu.com/multimedia/archive/01340/Justice_Verma_Comm_1340438a.pdf*

संदर्भ संकेत

1 *ताराबाई शिन्दे ने 'स्त्री–पुरुष तुलना' शीर्षक से एक पुस्तिका लिखी थी। 1882 में छपी यह पुस्तिका मूलतः मराठी में लिखी गयी थी। इस पुस्तिका में ऊंची जातियों में व्याप्त पुरुषसत्ताक प्रवृत्तियों की आलोचना की गयी है और इसे अक्सर आधुनिक भारतीय नारीवादी विचारधारा की प्रथम अभिव्यक्ति माना जाता है।*
2 *राधा कुमार, 1993, दि हिस्ट्री ऑफ़ डूइंग, एन इलस्ट्रेटिड़ एकाउंट ऑफ़ मूवमेंट्स फॉर वीमेन्स राइट्स एण्ड फेमिनिज़्म इन इंडिया 1800–1990, नई दिल्ली, जुबान।.*
3 *रमाबाई पहली महिला थीं जिन्हें पूरी जांच पड़ताल के बाद कलकत्ता विश्वविद्यालय की अध्यापक मण्डली ने संस्कृत के उनके ज्ञान को देखते हुये 'पंडिता'और 'सरस्वती' की उपाधियां दीं। 1888 में छपी उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि हाइ कास्ट हिन्दू वूमैन' मूलतः मराठी में लिखी गयी थी जो अंग्रेज़ी में अनुदित हुई और अमरीका में खूब बिकी।*
4 *राधा कुमार, 1993, दि हिस्ट्री ऑफ़ डूइंग, एन इलस्ट्रेटिड़ एकाउंट ऑफ़ मूवमेंट्स फॉर वीमेन्स राइट्स एण्ड फेमिनिज़्म इन इंडिया 1800–1990, नई दिल्ली, जुबान।*
5 *एनी बेसेन्ट ब्रिटिश समाजवादी, थियोसॉफिस्ट, महिला अधिकार कार्यकर्ता, लेखिका, प्रखर वक्ता और आइरिश तथा आइरिश और भारतीय स्वशासन की हिमायती थीं। उन्होंने भारत में होम रूल आंदोलन का नेतृत्व किया।.*
6 *राधा कुमार, 1993, दि हिस्ट्री ऑफ़ डूइंग, एन इलस्ट्रेटिड़ एकाउंट ऑफ़ मूवमेंट्स फॉर वीमेन्स राइट्स एण्ड फेमिनिज़्म इन इंडिया 1800–1990, नई दिल्ली, जुबान।*
7 *राधा कुमार, 1993, दि हिस्ट्री ऑफ़ डूइंग, एन इलस्ट्रेटिड़ एकाउंट ऑफ़ मूवमेंट्स फॉर वीमेन्स राइट्स एण्ड फेमिनिज़्म इन इंडिया 1800–1990, नई दिल्ली, जुबान, पृ.48..*
8 *सरोजिनी नायडू भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की पहली अध्यक्ष बनीं। बाद में वे संयुक्त प्रांत (अब उत्तर प्रदेश) की राज्यपाल बनाई गयीं। वे सुविख्यात कवयित्री थीं और 'भारत–कोकिला' के नाम से जानी जाती थीं।*
9 *जेराल्डीन फोर्ब्स,1996, वीमेन इन*

मॉडर्न इंडिया, न्यू यॉर्क, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस। पृ.94.

10 *सरला देवी चौधरानी ने 1910 में इलाहाबाद में भारत के प्रथम महिला संगठन भारत स्त्री महामंडल की स्थापना की। उस समय भारत में स्त्री शिक्षा का पर्याप्त विकास नहीं हुआ था इसलिये इस संगठन ने इसे अपना एक प्राथमिक उद्देश्य बनाया।*

11 *जेराल्डीन फोर्ब्स,1996, वीमेन इन मॉडर्न इंडिया, न्यू यॉर्क, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस। पृ.94.*

12 *जेराल्डीन फोर्ब्स,1996, वीमेन इन मॉडर्न इंडिया, न्यू यॉर्क, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस। पृ.94.*

13 *राधा कुमार, 1993, दि हिस्ट्री ऑफ़ डूइंग, एन इलस्ट्रेटिड़ एकाउंट ऑफ़ मूवमेंट्स फॉर वीमेन्स राइट्स एण्ड फेमिनिज़्म इन इंडिया 1800–1990, नई दिल्ली, जुबान।.*

14 *बेगम जहांआरा शाहनवाज़ मुस्लिम लीग कार्यकर्ता और राजनीतिज्ञ थीं। वे अखिल भारतीय मुस्लिम महिला सम्मेलन का बहुविवाह विरोधी प्रस्ताव लाने में सफल रहीं।*

15 *राधाबाई सुब्बारायण ने 'अखिल भारतीय महिला सम्मेलन' की एक सदस्य के रूप में उल्लेखनीय कार्य किया। 1930 के प्रथम गोल मेज़ सम्मेलन में दो ही महिलायें सक्रिय महिला कार्यकर्ताओं के रूप में मनोनीत की गयी थींकृराधाबाई सुब्बरायण और बेगम जहांआरा शाहनवाज़। दोनों ने विधान सभाओं में महिलाओं के लिये 5 प्रतिशत आरक्षण को लेकर अपना मत रखा परंतु लागू करवाने में सफल न हो सकीं। राधाबाई ने दूसरे गोल मेज़ सम्मेलन में भी भाग लिया और आरक्षण को लेकर जनता की राय का आकलन करने के लिये गठित लोथियान समिति की सदस्या भी रहीं। 1938 में वे एक सामान्य निर्वाचन क्षेत्र से राज्यों की परिषद के लिये निर्विरोध चुनी गयीं इस प्रकार परिषद की पहली महिला सदस्य बनीं।*

16 *राधा कुमार, 1993, दि हिस्ट्री ऑफ़ डूइंग, एन इलस्ट्रेटिड़ एकाउंट ऑफ़ मूवमेंट्स फॉर वीमेन्स राइट्स एण्ड फेमिनिज़्म इन इंडिया 1800–1990, नई दिल्ली, जुबान, पृ.81.*

17 *राधा कुमार, 1993, दि हिस्ट्री ऑफ़ डूइंग, एन इलस्ट्रेटिड़ एकाउंट ऑफ़ मूवमेंट्स फॉर वीमेन्स राइट्स एण्ड फेमिनिज़्म इन इंडिया 1800–1990, नई दिल्ली, जुबान, पृ.81.*

18 *डोरोथी जिनराजदास अंग्रेज़ नारीवादी और थियोसॉफिस्ट थीं जिन्होंने थियोसॉफिकल सोसायटी (आडयार)के चौथे अध्यक्ष सी. जिन राजदास से विवाह किया था। वे वीमेन्स इंडियन एसोसियेशन की सह–संस्थापिका थीं।*

19 *मालती पटवर्धन ने वीमेन्स इंडियन एसोसियेशन की सचिव और इस संस्था की पत्रिका 'स्त्रीधर्म' की संपादिका के रूप में कार्य किया। इस पत्रिका का पहला अंक जनवरी 1918 में दो थियोसॉफिस्ट नारीवादियों मार्गरेट कज़िन्स और डोरोथी जिनराजदास ने छापा था। पत्रिका अगस्त 1936 तक छपती रही।*

20 *अम्मू स्वामीनाथन सामाजिक कार्यकर्ता, स्वतंत्रता सेनानी और राजनीतिक कार्यकर्ता थीं। वे संविधान सभा की सदस्या रहीं और 1951 से 1957 तक लोकसभा की सदस्या भी रहीं।*

21 *श्रीमती अंबुजम्मल स्वतंत्रता सेनानी और नारी अधिकार कार्यकर्ता थीं। एक प्रखर गांधीवादी के रूप में उन्होंने असहयोग आंदोलन में भाग लिया और तमिल नाडु कांग्रेस कमेटी की उपाध्यक्ष भी रहीं। 1964 में उन्हें पद्मश्री से सम्मानित किया गया।*

22 *राजकुमारी अमृत कौर भारत की पहली स्वास्थ्य मंत्री थीं। वे दस वर्षों तक इस पद पर बनी रहीं। वे एक प्रखर गांधीवादी, स्वतंत्रता सेनानी और सामाजिक कार्यकर्ता थीं। वे संविधान सभा की सदस्या भी रहीं। वे अखिल भारतीय महिला सम्मेलन की सह–संस्थापिका थीं। 1930 में वे सम्मेलन की सचिव बनीं और 1933 में उन्होंने इसकी अध्यक्षता संभाली।*

23 *राधा कुमार, 1993, दि हिस्ट्री ऑफ़ डूइंग, एन इलस्ट्रेटिड़ एकाउंट ऑफ़ मूवमेंट्स फॉर वीमेन्स राइट्स एण्ड फेमिनिज़्म इन इंडिया 1800–1990, नई दिल्ली, जुबान। पृ. 81,*

24 *राधा कुमार, 1993, दि हिस्ट्री ऑफ़ डूइंग, एन इलस्ट्रेटिड़ एकाउंट ऑफ़ मूवमेंट्स फॉर वीमेन्स राइट्स एण्ड फेमिनिज़्म इन इंडिया 1800–1990, नई दिल्ली, जुबान।*

25 *राधा कुमार, 1993, दि हिस्ट्री ऑफ़ डूइंग, एन इलस्ट्रेटिड़ एकाउंट ऑफ़ मूवमेंट्स फॉर वीमेन्स राइट्स एण्ड फेमिनिज़्म इन इंडिया 1800–1990, नई दिल्ली, जुबान।.*

26 *जेराल्डीन फोर्ब्स,1996, वीमेन इन मॉडर्न इंडिया, न्यू यॉर्क, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस। पृ.143.*

27 *रेणुका रे प्रसिद्ध स्वतंत्रता सेनानी, सामाजिक कार्यकर्ता और राजनीतिज्ञ थीं। वे अखिल भारतीय महिला सम्मेलन की सदस्या थीं और 1952–53 तक इसकी अध्यक्षा रहीं। वे संविधान सभा की सदस्या भी रहीं।*

28 *जेराल्डीन फोर्ब्स,1996, वीमेन इन मॉडर्न इंडिया, न्यू यॉर्क, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।पृ.143.*

29 *रानी लक्ष्मीबाई राजवाड़े दो वर्षों तक अखिल भारतीय महिला सम्मेलन की सचिव रहीं और उसके बाद इसकी अध्यक्षा बनीं। जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें महिला कल्याण, शिक्षा एवं विकास अनुभाग का प्रमुख नियुक्त किया जो कि राष्ट्रीय योजना समिति के अंतर्गत आता था। राजवाड़े प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में एक प्रतिनिधिमण्डल की सदस्या के रूप में अमरीका भी गयीं।*

30 *विजयलक्ष्मी पंडित पहली भारतीय महिला थीं जिन्होंने स्वतंत्रता से पहले भारत में केबिनेट स्तर के पद का भार ग्रहण किया था. 1937 में वे संयुक्त प्रांत कि विधान सभा के लिये निर्वाचित हुईं और उन्हें स्थानीय स्वशासन और स्वास्थ्य मंत्री का पदभार दिया गया। 1946 में वे संयुक्त प्रांत से संविधान सभा के लिये चुनी गयीं। 1953 में*

वे संयुक्त राष्ट्र महासभा की पहली महिला अध्यक्ष बनीं।

31 *हंसा मेहता सुधारवादी, सामाजिक कार्यकर्ता, शिक्षक, स्वतंत्रता सेनानी, नारीवादी और लेखिका थीं। वे संविधान सभा की सदस्या थीं। 1945–46 में वे अखिल भारतीय महिला सम्मेलन की अध्यक्षा बनीं। हैदराबाद में आयोजित महिला सम्मेलन की सभा में अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने महिला अधिकारों का एक चार्टर प्रस्तावित किया। वे मूलभूत अधिकारों की सलाहकार समिति और उप–समिति की सदस्या भी रहीं।*

32 *श्रीमती मानिकलाल प्रेमचन्द ने 1934 में पेरिस में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय महिला परिषद के सम्मेलन में गये 10 महिलाओं के भारतीय प्रतिनिधिमण्डल के नेतृत्व किया। 1936 में वे अंतर्राष्ट्रीय महिला परिषद की एक उपाध्यक्ष बनाई गयीं।*

33 *बेगम शाहनवाज़ मुस्लिम लीग कार्यकर्ता और राजनितिज्ञ थीं। अखिल भारतीय मुस्लिम महिला सम्मेलन को बहुविवाह के विरूद्ध प्रस्ताव पारित करवाने में वे सफल रहीं। 1935 में उन्होंने पंजाब प्रांत की महिला मुस्लिम लीग की स्थापना की.*

34 *बेगम हामिद अली एकमात्र मुस्लिम महिला थीं जिन्होंने राष्ट्रीय योजना समिति की महिला उप–समिति में कार्य किया।*

35 *जेराल्डीन फोर्ब्स,1996, वीमेन इन मॉडर्न इंडिया, न्यू यॉर्क, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस। पृ.143.*

36 *अनुपमा रॉय,2005, जेन्डर्ड सिटिज़ेनशिप, नई दिल्ली, ऑरिएंट लॉंगमैन, पृ. 214.*

37 *अनुपमा रॉय,2005, जेन्डर्ड सिटिज़ेनशिप, नई दिल्ली, ऑरिएंट लॉंगमैन, पृ. 214.*

38 *अनुपमा रॉय,2005, जेन्डर्ड सिटिज़ेनशिप, नई दिल्ली, ऑरिएंट लॉंगमैन, पृ. 214.*

39 *साधना आर्य, 2000, वीमेन, जेन्डर ईक्वैलिटी एण्ड दि स्टेट, नयी दिल्ली, दीप एंड दीप, पृ.48।*

40 *आपराधिक क़ानून संशोधन समिति 2013 की रिपोर्ट, पृ.13.*

41 *राष्ट्रीय योजना समिति, 1948 की रिपोर्ट, पृं 224, आपराधिक क़ानून संशोधन समिति की रिपोर्ट के पृ.34 पर उद्धृत।*

42 *राष्ट्रीय योजना समिति, 1948 की रिपोर्ट, पृं 224, आपराधिक क़ानून संशोधन समिति की रिपोर्ट के पृ.34 पर उद्धृत।*

43 *अनुपमा रॉय, 2005, जेन्डर्ड सिटिज़ेनशिप, नई दिल्ली, ऑरिएंट लॉंगमैन, पृ. 215.*

44 *जेराल्डीन फोर्ब्स,1996, वीमेन इन मॉडर्न इंडिया, न्यूयॉर्क, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।*

45 *जेराल्डीन फोर्ब्स,1996, वीमेन इन मॉडर्न इंडिया, न्यूयॉर्क, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ.146 ।*

46 *जेराल्डीन फोर्ब्स,1996, वीमेन इन मॉडर्न इंडिया, न्यूयॉर्क, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस। पृ.146 ।*

47 *जेराल्डीन फोर्ब्स,199 6, वीमेन इन मॉडर्न इंडिया, न्यूयॉर्क, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस। पृ.116 ।*

48 *चित्रा सिन्हा, 2012, डिबेटंग पॉवर्टी, दि हिन्दू कोड बोल कंट्रोवर्सी इन इंडिया (1941–1956) ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ.56. .*

49 *जेराल्डीन फोर्ब्स,1996, वीमेन इन मॉडर्न इंडिया, न्यूयॉर्क, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस। पृ.116.*

50 *जेराल्डीन फोर्ब्स,1996, वीमेन इन मॉडर्न इंडिया, न्यूयॉर्क, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस। पृ.116.*

एक परिवार में बहू की केंद्रीय भूमिका

वेदों ने परिवार की बहू को रानी की भूमिका दी है जो पूरे परिवार को एकजुट करती है और उस परिवार का केंद्र बन जाती है। भाभी को सबसे अच्छी दोस्त कहा जाता है। वेदों में गृहस्थी पर बहू के अधिकार के बारे में निम्नलिखित आदेश दिए गए हैं–, वेदों के अनुसार बहू घर की रानी हैः –

साम्राज्ञी श्वाशुर भव, साम्राज्ञी श्वासन भव।
नानंदारी साम्राज्ञी भव, साम्राज्ञी आदि देविषु।

इस श्लोक का अर्थ हैः

हे बहू! आप एक चक्रवर्ती राजा की रानी की तरह हैं, और आपको बिना किसी पूर्वाग्रह के रहना चाहिए और नए परिवार में अपने ससुर और अन्य वरिष्ठों के साथ एकसा व्यवहार करना चाहिए, परिवार की रानी की तरह उनकी भावनाओं और अपेक्षाओं का सम्मान करना चाहिए। जैसे कि बहू को अपने अच्छे व्यवहार और आत्मीयता के साथ सभी परिवार के सदस्यों के साथ जुड़ना चाहिए। यह आपसी जिम्मेदारी और भावनात्मक संवेदनशीलता का मामला है। इस स्रोत में पत्नी को पति के घर में रानी की उपाधि से विभूषित किया गया है। जिस तरह से वह अपने माता–पिता के घर में अपनी माँ, पिता, भाई और बहन के साथ एक निष्पक्ष व्यवहार करती थी उसी तरह उसे अपने पति की माँ, पिता, भाई की बहन के साथ ससुराल में प्यार और संवेदनशीलता के साथ व्यवहार करना चाहिए।

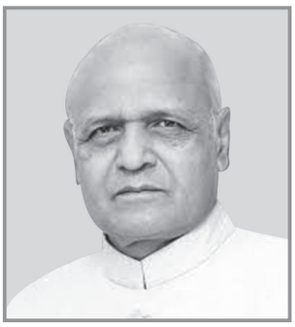

प्रो0 भगवती प्रकाश शर्मा

भारतीय संविधान और परिवार संस्था

वेदों में, विशेषकर ऋग्वेद व अथर्ववेद में परिवारों में पारस्परिक सद्भाव व कर्तव्यपालन पर अत्यंत बल दिया गया है। परिवार में प्राप्त संस्कारों, सहयोग व सम्बल से ही हमारी सामर्थ्य का विकास होता है और शैशवकाल से वृद्धावस्था पर्यन्त, हमारे लिये परिवार का आश्रय अमृत-तुल्य व स्वर्ग से कम नहीं है

परिवार हमारी सांस्कृतिक विरासत का सर्वाधिक अनमोल उपहार है। हमारे अपने परिजनों के हितार्थ किए जाने वाले त्याग व सहकार की यह पावन तपस्थली भी है। इसीलिये हमारे प्राचीन वाङ्मय अर्थात पुराणों में, यथा पद्म पुराण[1], नारद पुराण[2] व स्कन्द पुराण[3] आदि में परिवार भावना को पुष्ट कर माता–पिता व वृद्ध जनों के प्रति एवं पति–पत्नी के मध्य पारस्परिक कर्त्तव्य पालन को तीर्थ स्नान से भी अधिक पुण्यदायी कहा है। वेदों में, विशेषकर ऋग्वेद व अथर्ववेद में परिवारों में पारस्परिक सद्भाव व कर्तव्यपालन पर अत्यंत बल दिया गया है। परिवार में प्राप्त संस्कारों, सहयोग व सम्बल से ही हमारी सामर्थ्य का विकास होता है और शैशवकाल से वृद्धावस्था पर्यन्त, हमारे लिये परिवार का आश्रय अमृत–तुल्य व स्वर्ग से कम नहीं है। भारत में हमारी तीन पीढ़ियों के मध्य परस्पर सहयोग व सम्मान पूर्वक, एक दूसरे के प्रति निःस्वार्थ भाव से अपने–अपने कर्त्तव्यों का सहर्ष पालन करते हुये एक साथ संयुक्त परिवार में प्रसन्नतापूर्वक रहने की परम्परा, अन्य अनेक देशों के निवासियों के लिये एक अबूझ पहेली है।

संविधान एवं परिवार संस्था

लेकिन, हमारे संविधान में परिवार संस्था के सम्बन्ध में कोई चिन्तन, कर्त्तव्य निरूपण, कर्त्तव्यों की पारस्परिकता आदि का कोई भी सन्दर्भ नहीं है। परिवार जो मानव के समग्र जीवन व्यवहार, हमारे समाज जीवन एवं राष्ट्रीय जन–जीवन की सब प्रकार से मौलिक इकाई होने के साथ ही हमारे सभी प्रमुख निर्णयों की भी इकाई रही है, उस परिवार संस्था की भूमिका, सार्थकता व उपादेयता का उल्लेख तो दूर कोई अर्थपूर्ण नामोल्लेख भी नही है। हमारी अर्थव्यवस्था की आधार रही 'हिन्दू अविभक्त परिवार इकाई को भी कर निर्धारण हेतु केवल एक व्यावसायिक इकाई के रूप में आयकर अधिनियम में स्थान दिया गया है[4]। भारतीय संविधान केवल व्यक्ति के एकाकी अधिकारों को मान्यता एवं संरक्षण प्रदान कर वैयक्तिक सम्प्रभुता को भी ठीक से प्रतिष्ठापित करता है। हमारे संविधान में मानव के एकाकी वैयक्तिक अधिकारों पर ही केन्द्रित होने का प्रमुख कारण यह भी हो सकता है कि हमारे संविधान निर्माण के काल में विश्व में मानवाधिकारों पर चर्चा चरम पर थी व उसी काल खण्ड में मानवाधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय घोषणापत्र को भी अंगीकार किया गया था[5]। हमारे संविधान निर्माता भी उस चर्चा से अवश्य ही इतना अभिभूत हो गये कि भारतीय परिवार संस्था एवं हमारी सांस्कृतिक विरासत के अधिकांश आयाम उनकी दृष्टि से सर्वथा ओझल ही रहे। सोवियत संघ व चीन के समाजवाद का चश्मा भी अवश्य ही ऐसा चढ़ा प्रतीत होता हैं कि 1976 में आपात काल में 42वें संशोधन के माध्यम से प्रस्तावना में समाजवाद शब्द भी अवश्य जोड़ दिया गया। अर्थतंत्र के सचांलन में गाँधी के न्यास धारिता के सिद्धान्त सहित परिवार के भाव संवर्धन को नीति निर्देशक सिद्धान्तों में भी स्थान दिये जाने को बल नही मिला। परिणामतः तब 1976 मे भी नागरिकों के 10 मौलिक कर्त्तव्यों को जोड़ते समय भी पारिवारिक कर्त्तव्यों का उल्लेख कदापि नहीं किया गया[6]। केवल 1986 के 86वें संशोधन से ग्यारहवें कर्तव्य के रूप में अभिभावकों के अपने पालितों के शिक्षण का कर्त्तव्य अवश्य ही जोड़ा गया है[7]।

वस्तुतः, मध्य 1950 के दशक में हिन्दू नागरिक विधान बनाये गये, तब उनमें भी परिवार संस्था

व उसमें वांछित पारस्परिकता की अनदेखी ही की गयी। संविधान का अनुच्छेद 44 सभी नागरिकों के लिए समान नागरिक संहिता के निर्माण का स्पष्ट निर्देश देता है[8]। लेकिन, संविधान के इस समान नागरिक संहिता के विधेयन के प्रावधान का भी सर्वथा उल्लंधन कर केवल हिन्दू समाज के लिये ही 4 एकाकी अधिनियम बनाये गये। उनमें भी परिवार संस्था का उल्लेख व उसे सुदृढ़ता प्रदान करने के प्रावधानों के स्थान पर उसे निर्बल करने के ही प्रयासों का आक्षेप ही परोक्ष रूप से लगता रहा है। ये 04 विधान हैः–

- हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956
- हिन्दू विवाह अधिनियम
- हिन्दू अवयस्कता और संरक्षकता अधिनियम (Hindu Minority and Guardianship Act)
- हिन्दू दत्तक और भरण–पोषण अधिनियम (Hindu Adoptions and Maintenance Act)

संविधान के समुचित क्रियान्वयन व उसकी अनुपालना सुनिश्चित करवाने के अपने दायित्व निर्वहन के क्रम में हाल ही में, सर्वोच्च न्यायालय ने समलैंगिकता[9] एवं व्याभिचार के (किसी पुरूष का विवाहित स्त्री से बिना उसके पति की सहमति के अवैध सम्बन्ध स्थापित कर लेने पर निषेध व दण्ड के प्रावधान हमारे दण्ड विधान में से विलोपन) विलोपन का निर्णय कर[10] वैधता प्रदान की है। उससे अकल्पनीय पारिवारिक विकृतियाँ उत्पन्न होना स्वाभाविक है। अब तक भारतीय दण्ड सहिता के परिच्छेद 377 व 497 के अन्तर्गत क्रमशः समलैंगिक सम्बन्ध एवं किसी विवाहिता से उसके पति की सहमति के बिना अवैध सम्बन्ध स्थापित करना दण्डनीय अपराध थे। सर्वोच्च न्यायालय ने इसी वर्ष, 2018 में, पृथक–पृथक निर्णयों में क्रमशः 6 सितम्बर व 27 सितम्बर को इन दोनों अपराधों पर सजा के प्रावधानों को असंवैधानिक अर्थात संविधान विरुद्ध ठहरा दिया है। इन दोनों ही निर्णयों का परिवार संस्था पर गम्भीर दुष्प्रभाव होगा। अविवाहित युगल के सह–निवास 'लिव इन रिलेशनशिप' को भी हमारे संविधान के संरक्षक सर्वोच्च न्यायालय ने 23 जुलाई, 2015 को ही विधि सम्मत घोषित कर दिया था[11]। आज अनेक पश्चिमी देशों में उच्च विवाह विच्छेद दर, वयस्कों के विवाह रहित सह–निवास, ऐसे युगलों की सन्तति की बढ़ती संख्या, उनके पृथक्करण के दौर, एकाधिक बार विवाह, सौतेले अभिभावक युक्त परिवारों की बढ़ती संख्या सात से चौदह वर्ष की आयु में ही मनोरोगी बनाये दे रही है। एक दृष्टिपात ऐसी विकृतियों पर भी आवश्यक है।

सम्भवतः अब देश में समाज को मुखर होकर संविधान में नैतिकता, परिवार, पारिवारिक कर्त्तव्यों, मर्यादाओं एवं हमारी संस्कृति पर सकारात्मक प्रावधानों के समावेश हेतु आगे आना पड़ेगा।

मेरिज फाउण्डेशन के ही सर्वेक्षण में पाया गया कि बिना विवाह के ही साथ रह रहे युगल माता-पिता के बिना संबंध विच्छेद के ही 27 प्रतिशत बच्चों में मानसिक स्वास्थ्य संबंधी समस्याएँ देखी गई

पश्चिमी देशों में परिवार विच्छेद जनित बाल मनोरोगों की समस्या

अमेरिका सहित अधिकांश पाश्चात्य देशों यथा यूरोप, आस्ट्रेलिया आदि में भी बढ़ते विवाह विच्छेद व एकाधिक बार पुनर्विवाह, उनके कारण एकल अभिभावक अथवा परिवार में सौतेले माता या पिता या सौतेले बच्चों से युक्त परिवारों की बढ़ती संख्या के कारण वहां बाल व किशोर मनोरोगियों की संख्या बढ़ रही है। वहां कलह पूर्ण परिवारों या विखण्डित अथवा विच्छेदित परिवारों में बाल मनोरोग महामारी जैसी द्रुत गति से बढ़ने लगे हैं। ऐसे विखण्डित या सौतेले परिवारों में एटेन्शन डेफिशिएन्सी हाइपर एक्टिविटी सिण्ड्रोम जैसे विकारों से बढ़ती अपराध वृत्ति, संस्कार विहीनता आदि समस्याओं से विवाह रहित युगल सह–जीवन, उसके कारण विवाह रहित मातृत्व आदि जैसी कई अकल्पित समाज शास्त्रीय संकट व विडम्बनाएँ भी बढ़ रही हैं। भारत में भी विगत दो दशकों में विवाह विच्छेद (तलाक) की दर 15 गुनी हुयी है और इसके बढ़ने की दर उत्तरोत्तर तीव्र होती जा रही है। वर्ष 2001 में यह दर 1 विवाह विच्देद (तलाक) प्रति 1000 दम्पत्ति थी जो 2017 में बढ़कर 15.1 प्रति 1000 दम्पत्ति (1.51 प्रतिशत) हो गयी है[12]।

इंगलैण्ड में मेरिज फाउण्डेशन और यूनिवर्सिटी ऑफ लिंकन द्वारा 14 वर्ष की आयु के बच्चों की 10929 माताओं का बाल मनोरोग पर सर्वेक्षण कर उसे नवम्बर 2017 में प्रकाशित किया गया। इस सर्वेक्षण में पाया गया कि जिन बच्चों के माता–पिता पृथक हो जाते हैं अथवा बिना विवाह के साथ रह रहे होते हैं उन बच्चों में किशोरावस्था से पहले ही मानसिक रूग्णता के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। एक अन्य सर्वेक्षण में शोधकर्त्ता ने पाया कि माता–पिता में से एक ही अभिभावक अथवा परिवार में सौतेली मां अथवा सौतेले पिता होने की दशा में बच्चों में मानसिक स्वास्थ्य की गंभीर समस्या देखी जाती है।[13]

उपरोक्त मेरिज फाउण्डेशन के ही सर्वेक्षण में पाया गया कि बिना विवाह के ही साथ रह रहे युगल माता–पिता के बिना संबंध विच्छेद के ही 27 प्रतिशत बच्चों में मानसिक स्वास्थ्य संबंधी समस्याएँ देखी गईं। तलाक की दशा में तलाक लेने वाले अभिभावकों के 32 प्रतिशत बच्चों में गम्भीर मानसिक स्वास्थ्य संबंधी समस्याएँ पायी गईं। और बिना विवाह साथ रह रहे (लिव इन रिलेशनशिप) वाले जोड़ों के पृथक हो जाने की दशा में 38 प्रतिशत बच्चों में मनोरोग की समस्या पाई गई।

अमेरिका में ही किशोर अवस्था के पूर्व मनोचिकित्सा वार्ड में इलाज ले रहे 154 बच्चों का एक अध्ययन लिंकन पेरिरे बिहेवियरल हैल्थ सेंटर पर जुलाई से दिसम्बर 2012 के बीच किया गया। इस अध्ययन में पाया गया कि किशोरावस्था से पूर्व मनोरोग से ग्रस्त होने वाले बच्चों में से केवल 11 प्रतिशत बच्चे ही ऐसे थे जो अपने दोनों नैसर्गिक माता पिता के साथ रह रहे थे। अन्यथा 89 प्रतिशत बच्चे ऐसे थे जिनकी परिवार संरचना किसी न किसी रूप में विखण्डित हो गई थी। इन बच्चों में 71 प्रतिशत बच्चे ऐसे थे जिनके परिवार में कलह या विघटन के कारण उनके अभिभावक अथवा भाई या

बहिन को भी मानसिक स्वास्थ्य की समस्या रही है।[14]

विघटित परिवारों के अधिकांश बच्चों के अटेंशन डेफिसिट हाइपर एक्टिविटी डिसऑर्डर (attention deficit hyperactivity disorder) के कारण बच्चों के शैक्षिक अभिलेख अर्थात पढ़ाई व व्यवहार पर होने वाले प्रभावों पर जेरेमी ऑर्क्स द्वारा 7 से 14 वर्ष के बच्चों के अध्ययन में पाया गया कि बच्चों के माता पिता के तलाक की तिथि के 2 से 4 वर्ष पूर्व ही उनके बच्चों के शैक्षिक अभिलेख पर अर्थात पढ़ाई में भारी व्यवधान व उनके शैक्षिक निष्पादन में स्पष्ट गिरावट देखी गई।

ऐसे ही एक अन्य अध्ययन में बिना तलाक या पारिवारिक विघटन के ही केवल पारिवारिक कलह के कारण बच्चों का व्यवहार मनोदशा और अध्ययन गंभीर रूप से प्रभावित होता है।

यूरो अमेरिकी देशों में वयस्क मनोरोगियों में भी उन व्यक्तियों का अनुपात ऊँचा है जो अपने बाल्यकाल या किशोरावस्था में उनके माता–पिता में कलह अथवा विवाह विच्छेद अथवा सौतेले परिवार के कारण किशोरावस्था में मानसिक रोगों के शिकार रह चुके हैं। पति–पत्नी के बीच तनाव व टकराव उनके बच्चों के जीवन व उनके स्वस्थ विकास को गम्भीर रूप से प्रभावित करते हैं। इसलिये दम्पत्ति को अपने अहंकार के टकराव में अपने बच्चों को नारकीय जीवन की ओर नहीं ढकेलना चाहिये।

भारत में भी पारिवारिक विघटन की बढ़ती दर गंभीर

भारत की 2011 की जनगणना में 13 लाख 60 हजार उत्तरदाताओं में अपना वैवाहिक स्तर तलाकशुदा बतलाया। यह संख्या कुल विवाहित जनसंख्या का 0.02 प्रतिशत व देश की कुल जनसंख्या का 0.11 प्रतिशत है। इसके 10 वर्ष पूर्ण 2001 की जनसंख्या में तलाकशुदा उत्तरदाताओं का अनुपात 0.07 प्रतिशत था।

वर्ष 2011 की जनसंख्या में तलाक व पृथक्करण का अनुपात 0.07 से बढ़कर 0.08 प्रतिशत हो गया है अर्थात कुल विवाहित जोड़ों में से 0.08 प्रतिशत विवाह विच्छेद हो चुके थे। इनमें से 0.56 प्रतिशत के पुनर्विवाह कर लेने के कारण तलाक के बाद एकाकी जीवन जी रहे उत्तरदाताओं का अनुपात 0.2 प्रतिशत पाया गया। वर्ष 2016 के अंत तक विवाह विच्छेद अथवा तलाक का प्रतिशत 1.3 अर्थात 13 प्रति हजार हो गया।

वर्ष 2001 में विवाह विच्छेद की दर 0.01 से बढ़कर 2011 में 0.8 व 2016 में 1.3 हो जाना एक गंभीर संकेत है। इसलिए यूरो अमेरिकी देशों में महामारी की तरह फैलते बाल मनोरोगों को देखते हुए सभी विवाहित दम्पतियों एवं सभी परिवारजनों को पारिवारिक कलह व विवाह विच्छेदों पर सर्वथा पूर्ण विराम लगाने के प्रयास करने चाहिए। भावी पीढ़ी के स्वरूप विकास के लिए पारिवारिक सौहार्द का होना परम आवश्यक है।

भारतीय ज्ञान परंपरा में हमारे सम्पूर्ण प्राचीन वाङ्मय परिवार को अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की है। यहाँ पर हमारे प्राचीन वाङ्मय में परिवार की भूमिका का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है।

हमारे प्राचीन वाङ्मय में परिवार का स्थान

वेद विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं और ऋग्वेद को तो यूनेस्को ने भी विश्व–विरासत घोषित किया हुआ है। वैदिक चिन्तन के अनुसार व्यक्ति से परिवार और परिवारों से समाज व राष्ट्र का निर्माण होता है। वेदों के अनुसार लोक कल्याण की भावना से तप में दीक्षित ऋषियों ने राष्ट्र के निर्माण की पहल की। राष्ट्र के तेज, ओज, व बल में सद्ग्रहस्थों का सर्वोच्च योगदान होता आया है। इसीलिये वेदों में सद्गृहस्थों से युक्त समाज को राष्ट्र के उत्कर्ष का आधार कहा है। इस प्रकार वैदिक काल से ही सबल राष्ट्र व स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए मूल्यपरक पारिवारिक जीवन हमारे राष्ट्र जीवन की पहली व प्रमुख आवश्यकता कही गयी है। **ऋग्वेद ने परिवार को अपूर्व तपःस्थली कहा है एवं नारी सम्मान को उसकी सर्वोपरी साधना कहा है।** ऋग्वेद 3(53/6)। पद्म पुराण में पत्नी तीर्थ अर्थात पत्नी के परितोष व सम्मान को भी तीर्थ तुल्य पुण्यप्रद कहा है। उसमें माता–पिता, गुरु व पति–पत्नी को तीर्थ रूप में विवेचित किया है। परिवार में सौहार्द व परस्पर सम्मान के अभाव में तीर्थ यात्रा को भी उसी प्रकार निष्फल ठहराया है, जैसे तीर्थ जल में निवास करने वाले मछली आदि प्राणियों के लिये उस तीर्थ जल में अवगाहन का कोई अर्थ नहीं रह जाता है।

वेदों में परिवार–जीवन व पारस्परिक कर्त्तव्यबोध

परिवार में सभी सदस्यों का किस प्रकार रहना चाहिए इसकी स्पष्ट मर्यादा वेदों व अन्य ग्रन्थों ने बताई है। प्रत्येक व्यक्ति परिवार में अनेक सम्बन्धों से युक्त होता है। वह किसी का पुत्र है, तो किसी का पिता भी है। किसी का वह भाई है, तो किसी का मामा भी है। किसी का वह पति है, तो किसी का वह दामाद भी है। किसी की बहिन या पुत्रवधु भी हो सकती है। यथाः वेदों में परिवार में इस पारस्परिकता का सुन्दर वर्णन किया है।

पारिवारिक सम्बन्धों, पारस्परिक कर्त्तव्यों एवं दायित्वों को विधिक व संवैधानिक सम्बलः परिवार के महत्व को रेखांकित करते हुये परिवार के सम्मान व परिवार में परस्पर सहयोग की आवश्यकता सम्बन्धी प्रावधान संविधान में जोड़ने पर जापान में बड़ी चर्चा है। वहाँ लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी ने संविधान के प्रारूप में पारिवारिक कर्त्तव्यों को स्थान देने का प्रस्ताव किया है[15]। भारत में यह समय है जब समाज में पारिवारिक सौहार्द व पारस्परिक सहकारिता के सम्बन्ध में कोई अचार संहिता विकसित करने व परिवार संस्था की सुदृढ़ता हेतु उचित विधिक व संवैधानिक प्रयासों पर विमर्श प्रारम्भ किया जाए। ■

वेद विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं और ऋग्वेद को तो यूनेस्को ने भी विश्व-विरासत घोषित किया हुआ है। वैदिक चिन्तन के अनुसार व्यक्ति से परिवार और परिवारों से समाज व राष्ट्र का निर्माण होता है

संदर्भ संकेत

1. *पद्मपुराण, भूमिखण्ड 53। 11–14, 24 / पद्मपुराण, भूमिखण्ड 63। 14,19,21 / पद्मपुराण 1 भूमिखण्ड 95। 12–14 / पद्मपुराण 41। 12–14 /*
2. *नारदपुराण।*
3. *स्कन्दपुराण, काषीखण्ड, अध्याय–6*
4. *आयकर अधिनियम 1961, धारा 80ढ*
5. *भारतीय संविधान के अंतर्गत मानवाधिकार, इंटरनेट लिंक http://www.lex-warrier.in/2010/08/human-rights-under-indian-constitution/*
6. *भारतीय संविधान अनुच्छेद 51।*
7. *भारत के संविधान के अनुच्छेद 51 ए में धारा (क) 2002 में जोड़ी गयी।*
8. *भारतीय संविधान का अनुच्छेद 44। https://www.jagran.com/haryana/bahadurgarh-14908806.html*
9. *समलैंगिक यौनाचार को कानूनी मान्यता देने वाला उच्चतम न्यायालय का फैसले का लिंक https://khabar.ndtv.com/news/file-facts/ipc-section-377-supreme-court-verdict-on-decriminalising-gay-sex-today-10-points-1912079*
10. *उच्चतम न्यायालय ने व्यभिचार को धारा 497 के अंतर्गत अपराध मानने को निरस्त किया। लिंक देखें : https://www.livehindustan.com/national/story-adultery-verdict-live-updates-supreme-court-strikes-down-adultery-as-offence-under-section-497-of-ipc-2193873.html*
11. *"वयस्क स्त्री–पुरुष विवाह के बिना भी साथ साथ रह सकते हैं: उच्चतम न्यायालय" https://www.hindustantimes.com/india-news/adult-couple-can-live-together-without-marriage-supreme-court/story-78VUJpqqqLVlLm7EqSfeBK.html*
12. *"भारत में तलाक की दर बढ़ रही है" https://marriagelane.com/divorce-rate-in-india-increasing/*
13. *"समलक्षणी स्नायु–आनुवंशिक स्थितियों में ध्यानाभाव एवं अतिसक्रियता विकार (ADHD) बच्चियो को होनेवाला टर्नर विकार और रैसोपैथी विकार" https://www.ncbi.nlm.nih.gov/pmc/articles/PMC5502326/*
14. *"लघु–अवधि आवासीय चिकित्सारू बच्चों की जटील मानसिक व्याधियों में गहन चिकित्सा की प्रभावशीलता।" शोध प्रबंध का लिंक : "Evaluation of the Short Term Residential Treatment Unit Serving Children and Youth Ages 6-13" Shannon, L.Stewart,Ph.D., C.Psych.Christine Cullion, M.A. Chloe Hamza, B.A. http://www.excellenceforchildandyouth.ca/sites/default/files/gai_attach/PEG-657_Final_Outcomes_Report.pdf*
15. *" एल डी पी (जापान में सत्ताधारी उदारवादी जनतांत्रिक दल) ने जापान के लिये नये संविधान के प्रारूप की घोषणा कीरू। लिमक देखें https://www.jimin.jp/english/news/117099. उदारवादी जनतांत्रिक दल द्वारा प्रस्तावित संविधान का प्रारूप, अध्याय 3, जनता के अधिकार और कर्तव्य: "यह अध्याय राष्ट्रीय और स्थानीय स्तरों पर सार्वभौमिक मताधिकार की परिस्थितियों को निर्धारित करता है: जापानी वयस्कों को सार्वजनिक मताधिकार दिया जायेगा। यह नया नियम भी निर्धारित किया जाता है कि समाज की मुलभुत इकाई के रूप में परिवार को सम्मान देना होगा परिवार के सदस्यों को एक दूसरे की सहायता करनी होगी। पर्यावरण संरक्षण, अन्य देशों में आपात स्थितियों में जापानियों की सुरक्षा, और अपराध के शिकार लोगों की सुनवाई।"*

गृहस्थी और परिवार राष्ट्र की नींव के रूप में:

वेद ने व्यक्ति के जीवन को चार चरणों में विभाजित किया है
(ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास)

एक अच्छे परिवार में, अगर लोग बचपन से लेकर बुढ़ापे तक के जीवन के तरीके सीखते हैं और उन्हे बनाए रखते हैं तो परिवार हमेशा एकसाथ, एकजुट और खुश रहेगा'। उनमें से सबसे महत्वपूर्ण है पति–पत्नी के बीच आजीवन बना रहने वाला सद्भाव व प्रेम। परिवार और रिश्तेदारों में बच्चों को अच्छी संस्कृति व सभ्यता सिखाना सबसे पहली आवश्यकता है। इसीलिए, परमात्मा ने ऋग्वेद के स्तोत्रों में कहा है कि:

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमार्युव्यश्नुतम।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नभिर्मोदमानौ स्वे गृहे।

इस श्लोत में, सर्वशक्तिमान प्रभु एक पति और पत्नी को आशीर्वाद दे रहे हैं–
तुम दोनों हमेशा (परिवार में) यहाँ रहो; कभी अलग न हों; तुम अपने घर में अपने पुत्रों और पौत्रों के साथ खेलते हुए एक लंबी खुशहाल ज़िंदगी जियो। '

ब्रज किशोर शर्मा

भारतीय संविधान का अधिकृत हिंदी पाठ

हिंदी में प्राधिकृत पाठ तैयार करने की प्रक्रिया राज्य भाषा अधिनियम में दी गई है। अंग्रेजी पाठ का हिंदी में अनुवाद करके उस पर राष्ट्रपति की अनुमति ली जाती है और फिर उसे भारत के राजपत्र में प्रकाशित किया जाता है। प्रकाशित होने पर वह अधिनियम का हिंदी में प्राधिकृत पाठ हो जाता है। न्यायालय उसके आधाार पर निर्णय दे सकते हैं। इस प्रकार एक से अधिक प्राधिकृत पाठ हो सकते हैं

प्राधिकृत पाठ और अनुवाद

प्रारंभ में ही यह बता देना उचित है कि अनुवाद और प्राधिकृत पाठ में अंतर होता है। जब कोई विधेयक संसद के दोनों सदनों द्वारा पारित हो जाता है और राष्ट्रपति उस पर हस्ताक्षर कर देते हैं तो वह अधिनियम बन जाता है। उस अधिनियम में जो भी लिखा है, वह उसका प्राधिकृत पाठ होता है। उसमें कोई संशोधन करना होगा तो भी यही प्रक्रिया अपनानी होगी जो मूल विधेयक के लिए अपनाई गई थी। संसद में विधेयकों की भाषा अंग्रेजी है। इसलिए वह अंग्रेजी भाषा का प्राधिकृत पाठ होगा।

हिंदी में प्राधिकृत पाठ तैयार करने की प्रक्रिया राज्य भाषा अधिनियम में दी गई है। अंग्रेजी पाठ का हिंदी में अनुवाद करके उस पर राष्ट्रपति की अनुमति ली जाती है और फिर उसे भारत के राजपत्र में प्रकाशित किया जाता है। प्रकाशित होने पर वह अधिनियम का हिंदी में प्राधिकृत पाठ हो जाता है। न्यायालय उसके आधार पर निर्णय दे सकते हैं। इस प्रकार एक से अधिक प्राधिकृत पाठ हो सकते हैं। कनाडा के संविधान के दो प्राधिकृत पाठ हैं। एक फ्रेंच में और दूसरा अंग्रेजी में। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के पांच भाषाओं में प्राधिकृत पाठ हैं।

संविधान सभा में पहले ही दिन हिंदी का प्रश्न

संविधान सभा में पहले ही दिन (09–12–1946) को श्री रघुनाथ विष्णु धुलेकर ने यह आग्रह किया कि सदन की कार्रवाई हिंदी में होनी चाहिए और संविधान हिंदी में बनाया जाना चाहिए। उस दिन डॉ. सच्चिदानंद सिन्हा अस्थाई अध्यक्ष थे। दो दिन बाद डॉ. राजेंद्र प्रसाद स्थाई अध्यक्ष चुने गए। राजेंद्र बाबू की हार्दिक इच्छा थी कि संविधान हिंदी में रचा जाए।

संविधान का प्रारूप अंग्रेजी में

अक्टूबर, 1947 में संविधान का पहला प्रारूप परिचालित हुआ। इसे सर बी. एन. राम ने तैयार किया था। दूसरा प्रारूप प्रारूपण समिति की ओर से 21 फरवरी 1948 को परिचालित हुआ। तत्पश्चात विचार–विमर्श और संशोधनों के पश्चात तीसरे प्रारूप पर 4 नवंबर 1948 को खंडशः विचार प्रारंभ हुआ। ये तीनो अंग्रेजी में थे। सेठ गोविंद दास ने यह प्रश्न किया कि जो धाराएं हम पारित करेंगे। वे क्या पुनः हिंदी में पारित होंगी। अध्यक्ष ने उत्तर दिया कि इनके पारित हो जाने पर आपके सामने हिंदी अनुवाद आएगा और आप उसको मंजूर करेंगे। बालकृष्ण शर्मा नवीन ने सुझाव दिया कि हिंदी के खंडों पर भी विचार होता रहे जिससे कुछ काल पश्चात मूल रूप से संविधान हिंदी भाषा में स्वीकृत समझा जाए और वही प्रामाणिक माना जाए।

डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने कहा जिन लोगों के हाथ में विधान के प्रारूप का कार्य सौंपा गया था उनके सामर्थ्य को ध्यान में रखते हुए अंग्रेजी में प्रारूप बनाने के अतिरिक्त हमारे लिए कोई और गति नहीं थी। जब भाषा का प्रश्न तय हो जाएगा तब उसके अनुसार अनुवाद तैयार किया जाएगा और सदन के समक्ष रखा जाएगा।

श्री धुलेकर ने इस दिन पुनः कहा कि अंग्रेजी से अनूदित संविधान हमारे लिए अपमानजनक है। अभी तक किसी राष्ट्र ने ऐसा नहीं किया है। अलगूराय शास्त्री ने भी इस विचार का समर्थन किया। अंत में अध्यक्ष ने कहा कि हम अपनी भाषा में संविधान बनाएंगे। इस पर किसी बहस की गुंजाइश नहीं है।

किंतु समय का चक्र कुछ इस प्रकार चला

कि राजेंद्र बाबू का आश्वासन पूरा नहीं हो सका।

डॉ. राजेंद्र प्रसाद और संविधान का हिंदी में अनुवाद

1947 में ही डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने संविधान का अनुवाद करने के लिए एक विशेषज्ञ समिति गठित की थी। समिति इस प्रकार थी–

1 श्री घनश्याम सिंह गुप्त, अध्यक्ष। श्री गुप्त मध्यप्रांत और विदर्भ की विधान सभा के अध्यक्ष और संविधान सभा के सदस्य थे। (तब मध्य प्रदेश की रचना नहीं हुई थी)

2 प. कमलापति त्रिपाठी, संविधान सभा के सदस्य, बाद में उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री बने।

3 डॉ. रघुवीर–ख्याति प्राप्त भाषाविद, इतिहासकार और कोशकार।

4 श्री हरिभाऊ उपाध्याय–स्वतंत्रता सेनानी। बाद में राजस्थान में मंत्री बने।

5 डॉ. नगेंद्र–आकाशवाणी में सलाहकार। दिल्ली विश्वविद्यालय में आचार्य और हिंदी विभाग के अध्यक्ष रहे।

6 श्री बालकृष्ण–पिलानी में राजनीति शास्त्र के प्राध्यापक। तत्पश्चात राजभाषा (विधायी) आयोग के सदस्य सचिव रहे।

इस समिति ने संविधान के प्रारूप का हिंदी अनुवाद तैयार किया। इसे संविधान सभा के सदस्यों को भेजा गया। इसी बीच श्री सुंदरलाल, पं. राहुल सांकृत्यायन और काका कालेलकर ने प्रारूप संविधान के अनुवाद छपवा दिए थे। राहुल जी ने गुप्ता समिति के अनुवाद की आलोचना की। दुख की यह बात हुई कि एक छोटी सी भूल को लेकर बाबू पुरुषोत्तम दास टंडन ने भी मुखर विरोध कर दिया।

हिंदुस्तानी में अनुवाद

यह ध्यान देने योग्य है कि समिति की छोड़कर जो तीन अनुवाद हुए थे उनके अनुवादकों को विधि का या विधि के निर्वचन के सिद्धांत का कोई ज्ञान नहीं था। उन्होंने यह नहीं सोचा कि विधि में अभिव्यंजना का विशेष ढंग है। प्रारूपण का उद्देश्य एकार्थता लाना है। प्रारूपण का अर्थ न्यायालय करेगा। प्रारूपण निर्वचन के

हिंदी के स्थान पर एक कृत्रिम भाषा रचने का प्रयास विफल हुआ, वैसा ही जैसे मुसलमानों को एक के बाद एक सुविधा और विशेषाधिकार देकर एकता प्राप्त करने का प्रयत्न। भाषाएं प्रयोगशाला में नहीं बनती। भाषाएं प्रयोग से बनती हैं

नियमों के अनुकूल होना चाहिए। इग्लैंड में भी साधारण व्यक्ति जिसकी मातृभाषा अंग्रेजी है, अधिनियम की भाषा नहीं समझ सकता।

श्री सुंदरलाल और काका कालेलकर तो यह मानकर चलते थे कि कुछ कुछ शब्द और व्याकरण रूप सब भाषाओं से लेकर एक नई भाषा बनाई जा सकती है। श्री सुंदरलाल द्वारा प्रयुक्त कुछ पर्याय देखिए। ये अपनी कथा (या व्यथा) स्वयं कहते हैं। ऐसी भाषा कभी प्रचलित नहीं की जा सकती।

International	अंतरकौमी
Discipline	कायदादारी
Legislature	कानूनकारी
Chairman	मसनदी
Broadcasting	धुनपसार
Socialise	समाजियाना
Controller general	सरपड़तालिया
Reaction	पलटकारी
Central	बिचबिंदी खोली
Individualise	एकजनियाना
citizen	नागरा
compensation	यतजाना
residuary powers	रही सही शक्ति

इस अनुवाद के पीछे गांधीजी का हिंदुस्तानी भाषा का विचार था। 23–5–1917 को गांधीजी ने सरस्वती के संपादक को पत्र लिखकर कहा था कि हिंदी ही हिंदुस्तान की भाषा हो सकती है। 1945 में गांधीजी ने अपने विचार बदल दिए और ऐसी भाषा के रूप में हिंदुस्तानी को प्रस्तुत किया जो देवनागरी और फारसी दोनों लिपियों में लिखी जाएगी और जिसमें अरबी, फारसी, संस्कृत सबके शब्द होंगे। मुसलिम लीग की मांगों में उर्दू को राजभाषा का स्थान देने की बात थी। इसीलिए गांधीजी ने नई भाषा हिंदुस्तानी रचने का प्रयास किया। उन्हीं के शिष्य श्री अनंतशयनम् अयंगर ने (जो लोकसभा के अध्यक्ष रहे) 1948 में हिंदी साहित्य सम्मेलन के मेरठ के अधिवेशन में सभापति के पद से दिए गए भाषण में कहा कि भारत की अखंडता और हिंदुओं और पाकिस्तानी मनोवृत्ति के मुसलमानों की एकता बनाए रखने के लिए महात्माजी ने अपनी भाषा का बलिदान करना स्वीकार कर लिया...किंतु विरोधियों (मुसलमानों) ने उनके इस प्रयत्न को रत्ती भर नहीं सराहा....और अंत में अलग होकर ही माने।

हिंदी के स्थान पर एक कृत्रिम भाषा रचने का प्रयास विफल हुआ, वैसा ही जैसे मुसलमानों को एक के बाद एक सुविधा और विशेषाधिकार देकर एकता प्राप्त करने का प्रयत्न। भाषाएं प्रयोगशाला में नहीं बनती। भाषाएं प्रयोग से बनती हैं। भाषा को संस्कृति से विलग नहीं किया जा सकता। बादशाह राम और बेगम सीता जैसे पद किसी हिंदू को स्वीकार नहीं हो सकते।

बाद में राहुलजी ने माना कि सांविधानिक विधि का ज्ञान न होने से उनका अनुवाद ठीक नहीं था। यह उनकी विद्वता और विनयशीलता है का परिचायक है।

दूसरी अनुवाद समिति

जब हिंदी अनुवाद का विरोध नेहरूजी, मौलाना आजाद आदि के अतिरिक्त टंडनजी ने भी किया तो डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने एक दूसरा मार्ग निकाला। उन्होंने दूसरी अनुवाद समिति गठित की। इसमें थे–

श्री घनश्याम सिंह गुप्त, अध्यक्ष

डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी, विख्यात भाषाविद्

पं. राहुल सांकृत्यायन

पं. जयचंद विद्यालंकार, प्रसिद्ध इतिहास लेखक

श्री मोटुरी सायनारायण–संविधान सभा के सदस्य, हिंदी के प्रचारक और अनेक भाषाओं के ज्ञाता

श्री यशवंत रामकृष्ण दाते, मराठी के कोशकार

न्या. डब्ल्यू. आर. पुराणिक, मध्यप्रांत के उच्च न्यायालय के न्यायाधीश
प्रो. मुजीब, जामिया मिलिया के उर्दू के आचार्य
श्री बालकृष्ण, सचिव

संविधान सभा का संकल्प

संविधान के निर्माण में विलंब हो रहा था। प्रारंभ में जितना अनुमान था उससे कहीं अधिक समय हो गया था। इस कारण यह निर्णय लिया गया कि हिंदी में संविधान नहीं पारित कराया जाए। 17 सितंबर 1949 को संविधान सभा ने एक संकल्प पारित करके अध्यक्ष को यह प्राधिकार दिया कि वे संविधान का हिंदी में और तत्पश्चात प्रमुख भारतीय भाषाओं में अनुवाद कराएं।

उसी दिन डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने सदस्यों से कहा कि वे आपस में चर्चा करके अपने प्रांत और भाषा के विद्वानों के नाम दें जिससे मैं पारिभाषिक शब्दावली तय करने के लिए एक समिति गठित कर सकूं। राजेंद्र बाबू इस विवशता से क्षुब्ध थे कि संविधान हिंदी में पारित नहीं हो सकेगा। सेठ गोविंददास और रामनारायण सिंह ने भी इसका विरोध किया।

भाषा विशेषज्ञ सम्मेलन

डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने एक भाषा विशेषज्ञ सम्मेलन (Conference of Language Experts) बुलाया जिसका उद्देश्य संविधान के अनुवाद के लिए ऐसी शब्दावली तय करना था जिसका प्रयोग हिंदी और अन्य भाषाओं में यथाशक्य किया जा सके। उनकी यह धारणा थी कि इससे देश में प्रशासनिक, विधिक और न्यायिक एकता को बल मिलेगा। इसमें आठवीं अनुसूची में उल्लिखित सभी भाषाओं के प्रतिनिधि थे। इसके अध्यक्ष श्री घनश्याम सिंह गुप्त थे। इस सम्मेलन ने पारिभाषिक शब्दों के जो पर्याय तय किए उनका प्रयोग संविधान के हिंदी अनुवाद में किया गया।

यह सब डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने इसलिए किया कि वे चाहते थे कि संविधान हिंदी में भी बने। किंतु इन सब कार्यों में समय लगा और तब तक संविधान निर्माण का कार्य शीघ्र समाप्त करने का निर्णय हो चुका है। इस कारण हिंदी पाठ पर खंडशः विचार करने का समय नहीं था। यदि किया जाता तो एक–दो वर्षों का समय और लगता।

जब अनुवाद तैयार हुआ तब डॉ. राजेंद्र प्रसाद वर्धा में थे। उन्होंने श्री घनश्याम सिंह गुप्त और श्री बालकृष्ण को वहीं बुलवाया। पूरा अनुवाद पढ़ा और उसमें संशोधन के सुझाव दिए।

हिंदी अनुवाद पर हस्ताक्षर

संविधान 26 नवंबर 1949 को पारित हो चुका था। समापन समारोह के रूप में 24 जनवरी 1950 को संविधान सभा का अंतिम अधिवेशन हुआ। तब तक अनुवाद हो चुका था और उसकी मुद्रित प्रति तैयार हो चुकी थी। अध्यक्ष ने घनश्यामसिंह गुप्त से कहा कि वे हिंदी अनुवाद प्रस्तुत करें। इसके पश्चात अध्यक्ष ने सभी सदस्यों से कहा कि वे संविधान की अंग्रेजी और हिंदी की प्रतियों पर अपने हस्ताक्षर करें। हिंदी की जो प्रति है उस पर पं. नेहरू सहित 282 हस्ताक्षर हैं। अंग्रेजी प्रति पर 278 हैं। इसके पश्चात हिंदी रूपांतर भारत के राजपत्र में प्रकाशित हुआ।

हिंदी अनुवाद की विधिक स्थिति पर प्रश्न

1961 में विधि मंत्रालय में राजभाषा (विधायी) आयोग की स्थापना हुई। 1968 के आसपास आयोग में यह प्रश्न उठा कि संविधान सभा द्वारा हस्ताक्षरित हिंदी के संविधान की विधिक स्थिति क्या है? आयोग की एक उपसमिति ने यह मत दिया कि उस अनुवाद को विधि का बल नहीं है। महान्यायवादी निरेन डे को यह प्रश्न सलाह के लिए भेजा गया तो उन्होंने यह कहा कि यह प्राधिकृत पाठ नहीं है तथा अब संविधान सभा भंग हो चुकी है, इसलिए संविधान का हिंदी में कोई पाठ नहीं हो सकता। विधि मंत्रालय की हिंदी सलाहकार समिति ने एक समिति गठित की जिसमें श्री सतीशचंद्र (पूर्व मुख्य न्यायमूर्ति, पटना उच्च न्यायालय), श्री वेदव्यास, डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी और श्री गोपीनाथ दीक्षित (तीनों ज्येष्ठ अधिवक्ता) थे। समिति की राय थी कि वह हिंदी में संविधान का प्राधिकृत पाठ है। फिर श्री एम.सी. सीतलवाड (पूर्व महान्यायवादी) और पं. कन्हैयालाल मिश्र (पूर्व महाधिवक्ता, उत्तर प्रदेश) से अलग–अलग राय ली गई। इनका मत मुख्यतः इस बात पर आधारित था कि हिंदी पाठ का अनुच्छेदवार विचार नहीं किया गया था, इसलिए वह सभा द्वारा पारित नहीं है।

संविधान सभा के जो सदस्य जीवित थे उनका एक संगठन था जिसके अध्यक्ष श्री मन्नूलाल द्विवेदी थे। उन्हें इस बात से बहुत पीड़ा हुई। यह मामला केंद्रीय हिंदी समिति में उठाया गया। समिति की अध्यक्ष, प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने विधि मंत्री से इस पर ध्यान देने का अनुरोध किया। यही विषय संसदीय राजभाषा समिति की बैठक में आया। 19 जून 1981 को संसदीय राजभाषा समिति की बैठक संसदीय सौंध में हुई। अध्यक्षता श्री ओम मेहता ने की। इसमें राजभाषा विभाग के सचिव श्री जयनारायण तिवारी उपस्थित थे। विधायी विभाग के राजभाषा खंड का प्रभारी संयुक्त सचिव होने के नाते मुझे भी विशेष रूप से बुलाया गया था। समिति के सदस्यों ने इस बात पर आश्चर्य और खेद व्यक्त किया कि संविधान का प्राधिकृत पाठ हिंदी में उपलब्ध नहीं है। जिन सदस्यों ने प्रमुखता से भाग लिया और सुझाव दिए, वे थे–डॉ. लोकेशचंद्र, श्री जगन्नाथ राव जोशी और श्री रामभगत पासवान। संसदीय राजभाषा समिति की इस विषय पर दूसरी बैठक में विधायी सचिव श्री आर.वी.एस. पेरिशास्त्री और मैं उपस्थित हुए। श्री पेरिशास्त्री ने समिति से कहा कि वे आश्वासन तो नहीं दे सकते पर संविधान का हिंदी में प्राधिकृत पाठ किस प्रकार हो, इसके लिए मार्ग खोजने का संपूर्ण शक्ति से प्रयास करेंगे। उन्होंने वास्तव में प्रयास भी किया।

श्री जगन्नाथ कौशल विधि मंत्री की भूमिका

हिंदी पाठ के बारे में विधिज्ञों की राय चाहे जो हो मुझे व्यक्तिगत रूप से बड़ी ग्लानि होती थी कि हमारे देश का संविधान हमारी भाषा में नहीं है। मेरा विचार था कि ऐसी परिस्थिति विश्व में किसी देश के समक्ष नहीं आई। यह हमारी अनोखी परिस्थिति है और इसका हल हमें ढूंढ़ना होगा। विदेश से कोई दृष्टांत नहीं मिलेंगे। सामान्यतया विधि मंत्रियों ने इस समस्या पर विचार करना आवश्यक नहीं समझा। जब श्री जगन्नाथ कौशल विधि मंत्री हुए तो मैंने उनसे निवेदन किया। श्री मन्नूलाल द्विवेदी और श्री बालकृष्ण भी उन्हें अवगत करा

चुके थे। श्री सुधाकर पांडे (सांसद और काशी नागरी प्रचारिणी सभा के प्रधानमंत्री) और श्री गंगाशरण सिंह (पूर्व सांसद और अखिल भारतीय हिंदी संस्था संघ के अध्यक्ष) इस विषय को अनेक बार उठा चुके थे। सौभाग्य से विधायी विभाग के सचिव श्री आर.वी.एस. पेरिशास्त्री भी भारतीय भाषाओं के समर्थक थे। श्री कौशल की अनुमति से यह विषय तत्कालीन महान्यायवादी श्री के. पाराशरन को भेजा गया। श्री कौशल पहले ही श्री पाराशरन से बात करके अपना मत बता चुके थे। श्री पाराशरन ने यह राय दी कि संविधान का संशोधन करके उसमें उपयुक्त उपबंध किया जाए। संविधान में उपबंध होगा तो वह विधिमान्य होगा।

संविधान का संशोधन

महान्यायवादी की यह राय आने पर विधायी सचिव से मेरी विस्तार से चर्चा हुई। यह तय किया गया कि संविधान सभा के सदस्यों द्वारा हस्ताक्षरित प्रति का पूरा आदर होना चाहिए। वह ऐतिहासिक दस्तावेज है। साथ ही गत चार दशकों में केंद्रीय अधिनियमों के हिंदी में प्राधिकृत पाठ में अपनाई गई भाषा, शैली और शब्दावली में जो परिवर्तन हुए हैं, उनके अनुरूप इसे बनाना होगा। इस तारीख तक जो संशोधन संविधान में किए गए हैं, उनको भी सम्मिलित करना होगा। भविष्य में जो संशोधन होंगे उनके प्राधिकृत पाठ के लिए उपबंध करना होगा। यह सब कार्य राष्ट्रपति के प्राधिकार से करना होगा तभी इसकी गरिमा बनी रहेगी। संविधान में ही यह घोषणा होगी कि इस प्रकार प्रकाशित पाठ संविधान का हिंदी में प्राधिकृत पाठ होगा।

कैबिनेट ने हिंदी में प्राधिकृत पाठ का उपबंध करने के लिए संविधान में संशोधन के प्रस्ताव पर विचार करने के लिए मंत्रियों का समूह नियुक्त किया। इसने 19 मार्च 1986 को प्रस्ताव का अनुमोदन किया।

इन सब बातों का समावेश करते हुए संविधान (संशोधन) विधेयक 27 फरवरी 1987 को गृह मंत्री श्री बूटा सिंह ने पुनः स्थापित किया। यह लोक सभा से 24–11–1987 को और राज्य सभा से 26–11–1987 को पारित हुआ। राष्ट्रपति ने अनुमति 09–12–1987 को दी।

संविधान के लिए हिंदी अनुवाद की सूक्ष्मता से परीक्षा हुई। शब्दावली छांटी गई और अधिनियमों की शब्दावली से तुलना की गई। जो पद, वाक्य, अभिव्यक्ति या उपबंध एक से अधिक बार आते हैं उन्हें चिह्नित किया गया जिससे एकरूपता बनी रही

हिंदी में प्राधिकृत पाठ तैयार करने की प्रक्रिया

संविधान संशोधन पारित होने के पश्चात मुझ पर उसका प्राधिकृत पाठ तैयार करने का बहुत बड़ा उत्तर दायित्व आ गया। पूरे संविधान को बारीकी से पढ़कर उसमें भाषिक, शैलीगत और शब्दावली के परिवर्तन करने थे। गत 40 वर्षों में विधि की प्रयुक्ति का विकास हुआ था। वह नई प्रयुक्ति इसमें परिलक्षित होनी थी। वाक्य रचना सुबोध करनी थी। संविधान सर्वाधिक महत्व का दस्तावेज है, इसलिए उसके पढ़ने वालों की संख्या बहुत बड़ी होगी, यह भी अनुमान था।

जब संविधान के संशोधन का प्रस्ताव कैबिनेट के समक्ष भेजा जा रहा था तब से मैने प्राधिकृत पाठ के प्रकाशन की तैयारी आरंभ कर दी थी। राजपत्र में इसके लिए नया खंड होना था। पुस्तक के रूप में प्रकाशन पर भारत सरकार मुद्रणालय में विलंब होता है, इसलिए प्राइवेट प्रेस में प्रकाशन के लिए अनुमति लेकर निविदा मंगाई गई और प्रेस का चयन हुआ।

संविधान के लिए हिंदी अनुवाद की सूक्ष्मता से परीक्षा हुई। शब्दावली छांटी गई और अधिनियमों की शब्दावली से तुलना की गई। जो पद, वाक्य, अभिव्यक्ति या उपबंध एक से अधिक बार आते हैं उन्हें चिह्नित किया गया जिससे एकरूपता बनी रही। इसी प्रकार प्रयुक्ति की दृष्टि से देखा गया। यह चिह्नित करने के पश्चात सावधानी से परिवर्तन कर दिए गए। 58वें संविधान संशोधन तक सभी संशोधन समाविष्ट किए गए।

कुछ थोड़े से उदाहरण देना उचित होगा।

संविधान सभा के हिंदी अनुवाद में Council of States को राज्य परिषद कहा गया था। उचित भी था क्योंकि काउंसिल का पर्याय परिषद है। किंतु लोक सभा के पहले अध्यक्ष श्री मावलंकर के आग्रह से संसद की समस्त कार्यवाहियों में राज्य सभा का प्रयोग किया जाने लगा। यह प्रयोग अंग्रेजी में भी हो रहा था। अतएव अनुच्छेद 80 में और सर्वत्र राज्य सभा रखा गया।

Reserve Bank of India को भारत का आरक्षित बैंक लिखा गया था। किंतु सर्वत्र नोटों में भारत का रिजर्व बैंक छपा रहता है। संबंधित अधिनियम में भी भारत का रिजर्व बैंक नाम अपनाया गया। इसे भी बदला गया।

कुछ और शब्द देंखे–

	संविधान सभा के अनुवाद में	नवीन पाठ में
bail	जामिन	जमानत
banking	महाजनी	बैंकिंग
civil	व्यवहार	सिविल
decree	आज्ञाप्ति	डिक्री
jurisdiction	क्षेत्राधिकार	अधिकारिता
justice	न्यायाधिपति	न्यायमूर्ति
police	आरक्षी	पुलिस
scheduled tribe	आदिम जाति	जनजाति
survey	भूपरिमाप	सर्वेक्षण

पंथ निरपेक्ष भाब्द का चयन

1976 में 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा उद्देशिका में secular और socialist शब्द जोड़े गए। सोशलिस्ट के लिए तो 'समाजवादी' सर्वमान्य था किंतु सेक्युलर के लिए पर्याप्त सोचना था। 'धर्म निरपेक्ष' सामान्य व्यवहार और समाचार पत्रों प्रयोग किया जाता था। किंतु यह दोषपूर्ण था। धर्म का अर्थ व्यापक है। मुझे स्मरण था कि श्रीमती महादेवी वर्मा ने कहा था कि धर्म तो वह कर्तव्य है जो जन्म से मृत्यु तक

हमें निभाना है, उसके प्रति निरपेक्ष कैसे हो सकते हैं। श्री मा.स. गोलवलकर (श्री गुरूजी) सदैव पंथनिरपेक्ष का ही प्रयोग करते थे। उनके शब्द प्रयोग और उसकी पृष्ठभूमि से भी मैं परिचित था। संभवतः 1953 से उन्होंने पंथनिरपेक्ष का प्रयोग किया था। (देखिए श्री गुरूजी–समग्र दर्शन, खंड 3, पृ. 119, 126, 127)। उन्होंने लिखा है धर्म तो नित्य व्यापक, संपूर्ण जीवन की व्याख्या देने वाला एटर्नल लॉ ऑफ लाइफ है। मैंने इसके पर्याय के रूप में तीन शब्द चुने पंथनिरपेक्ष, संप्रदाय निरपेक्ष और मत निरपेक्ष।

इन पर संविधान का संस्कृत में अनुवाद करने वाले श्री काशीराम से चर्चा की। वे केंद्रीय अनुवाद ब्यूरो में निदेशक रह चुके थे। श्री बालकृष्ण की भी राय ली गई क्योंकि संविधान सभा में हिंदी रूपांतर तैयार करने का दायित्व उन्हीं का था। अंत में 'पंथ निरपेक्ष' का सर्वाधिक उपयुक्त मानकर प्रयोग किया गया। प्रभारी होने के नाते सभी पर्यायों पर अंतिम निर्णय और उत्तरदायित्व मेरा ही था। इन दो व्यक्तियों के अतिरिक्त किसी की राय नहीं ली गई और न कहीं से कोई सुझाव प्राप्त हुआ।

संविधान के अनुच्छेद 25 (2) में भी सेक्युलर का प्रयोग है। वहां उसका पर्याय लौकिक है। वैसे सेक्यूलर का तीसरा अर्थ बैंककारी के क्षेत्र में है। मैंने अपनी बैंक शब्दावली में उस संदर्भ में उसका पर्याय 'दीर्घकालीन' रखा है।

प्राधिकृत हिंदी पाठ की स्वीकार्यता

इस प्रकार प्रत्येक शब्द, पद और वाक्य का सावधानी से रूपांतर किया गया।

9–12–1987 को संशोधन अधिनियम पारित हुआ और 23–8–1988 को राष्ट्रपति के प्राधिकार से अनुवाद भारत के राजपत्र में और 25–08–1988 को पुस्तक के रूप में तथा तत्पश्चात तुरंत ही द्विभाषी संस्करण (एक ओर हिंदी दूसरी ओर अंग्रेजी) 1–11–1988 को प्रकाशित हुआ।

हमारे परिश्रम और अध्यवसाय का यह परिणाम निकला कि इस प्राधिकृत पाठ को सराहा गया और इसका प्रयोग किया जाने लगा। इतना ही नहीं कुछ महानुभावों ने तो एक शब्द विशेष 'पंथनिरपेक्ष' को लेकर यह दावा किया कि यह उनके सुझाव पर रखा गया। यह सर्वथा मिथ्या था, फिर भी मुझे इस बात से गौरव का अनुभव हुआ कि मेरी कृति के सूक्ष्म अंश को लोग अपना बनाना चाह रहे हैं। यह भी तो एक प्रकार की सराहना है। वास्तव में इस पाठ में जो भी गुणदोष हैं, उनका उत्तरदायित्व मेरा है। दीर्घ अनुभव, परिश्रम और वैज्ञानिक रीति से काम करने के कारण त्रुटियों की संभावना कम है किंतु पूर्णता तो ईश्वर का लक्षण है, मनुष्य का नहीं। फिर भी संविधान की लाखों प्रतियां परिचालन में आने के बाद भी कहीं से कोई आलोचना नहीं हुई।

यह प्रभु की कृपा है कि मंत्रालय में मेरे कार्यकाल में इस प्राधिकृत पाठ के अतिरिक्त 14 भारतीय भाषाओं में संविधान प्रकाशित हुआ। बहुभाषी संविधान शब्दावली भी प्रकाशित हुई जिसमें 13 भारतीय भाषाओं में संविधान में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों के पर्याय दिए हैं। विधि शब्दावली के पांच संस्करण प्रकाशित हुए। एक अक्तूबर 1976 से राजस्थान और मध्य प्रदेश ने जिला न्यायालय तक सभी न्यायालयों में हिंदी का प्रयोग अनिवार्य कर दिया।

किंतु विधि और न्याय के क्षेत्र में भारतीय भाषाओं को उनका योग्य स्थान मिलना शेष है। ■

फार्म–4

'मंथन' के स्वामित्व तथा अन्य ब्यौरे

प्रकाशन स्थान	:	नई दिल्ली
प्रकाशन अवधि	:	त्रैमासिक
मुद्रक	:	प्रिंट काफ्ट इंडिया
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	शाहदरा, दिल्ली
प्रकाशक एवं स्वामी	:	डॉ. महेश चन्द्र शर्मा एवं एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली–110002
संपादक	:	डॉ. महेश चन्द्र शर्मा
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	एकात्म भवन, 37,दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली–110002

मैं डॉ. महेश चन्द्र शर्मा एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि उपर्युक्त विवरण मेरी अधिक से अधिक जानकारी और मेरे विश्वास में ठीक है।

डॉ. महेश चन्द्र शर्मा
प्रकाशक

तिथिः 1 मार्च, 2019

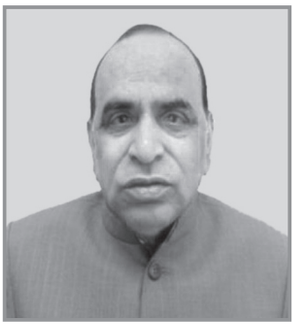

डी.पी. त्रिपाठी

संविधान संशोधन प्रक्रिया जटिल या सरल

संविधान संशोधन को लेकर हमारे देश में हमेशा से विवाद होते रहते हैं। कुछ विद्वान और राजनेता जहां संशोधन के विरुद्ध रहे हैं, तो कुछ इसके पक्षधर। दिलचस्प है कि दोनों ही तरह के विद्वानों का अपनी बात पर अड़े रहना देखकर ऐसा लगता है, जैसे वे विद्वान, राजनीतिक चिंतक या राजनेता नहीं, बल्कि धार्मिक कट्टरवादी हों। उन्हें केवल अपना पक्ष ही सही लगता है और दूसरा पक्ष हमेशा गलत। इसी तरह कुछ विद्वानों की दलील है कि संविधान को अमेरिका, कनाडा, स्विटजरलैंड और ऑस्ट्रेलिया की तरह काफी कठोर होना चाहिए, ताकि उसमें असानी से संशोधन नहीं किया जा सके, जबकि कतिपय विद्वान और राजनीतिक चिंतक इसे इंग्लैंड के संविधान की तरह लचीला बनाने का तर्क देते हैं, जिससे संविधान में संशोधन करना आसान हो जाए लेकिन हमारे संविधान निर्माताओं ने इन दोनों ही अतिवादी तर्कों को नकार कर संशोधन की एक ऐसी प्रक्रिया को अपनाया, जिसमें संवैधानिक संशोधन आसान तो न हो, लेकिन इतना कठिन भी न हो कि संशोधन करना ही मुश्किल हो जाए। इस मामले में भारत का संविधान दुनिया का एक अनोखा संविधान है, एक ऐसा संविधान जो किसी भी पारंपरिक संवैधानिक सिद्धांत से संचालित नहीं होता। इसमें कोई शक नहीं कि हमारे संविधान में अनेक देशों के संविधान के उत्तम तत्वों को शामिल किया गया है, लेकिन किसी भी संविधान का पिछलग्गू या कार्बन कॉपी बनने से सेचत परहेज रखा गया है।

कुछ विद्वानों की दलील है कि संविधान को अमेरिका, कनाडा, स्विटजरलैंड और ऑस्ट्रेलिया की तरह काफी कठोर होना चाहिए, ताकि उसमें असानी से संशोधन नहीं किया जा सके, जबकि कतिपय विद्वान और राजनीतिक चिंतक इसे इंग्लैंड के संविधान की तरह लचीला बनाने का तर्क देते हैं, जिससे संविधान में संशोधन करना आसान हो जाए लेकिन हमारे संविधान निर्माताओं ने इन दोनों ही अतिवादी तर्कों को नकार कर संशोधन की एक ऐसी प्रक्रिया को अपनाया, जिसमें संवैधानिक संशोधान आसान तो न हो

हमारे संविधान निर्माता न तो संघीय व्यवस्था के पारंपरिक सिद्धांत, जो संवैधानिक संशोधन की जिम्मेदारी संसद से इतर निकाय को सौपता है, के पक्ष में थे ओर न विशेष रूप से कठोर प्रक्रिया के। इतना ही नहीं, वे इंग्लैंड की संसद की तरह भारतीय संसद को सार्वभौम बनाने के पक्ष में भी नहीं थे। इंग्लैंड में संसद ही सर्वोच्च है, इस बात को रेखांकित करते हुए प्रसिद्ध राजनीति विज्ञानी डायसी कहते हैं कि इसका मतलब न तो इससे ज्यादा है और न कम कि कानून बनाने या उसे रद्द करने का अधिकार केवल संसद को है और इसके इस अधिकार को कहीं कोई चुनौती नहीं दी जा सकती।[1] इसी तरह प्रसिद्ध राजनीतिक सिद्धांतकार जेन लूई लोमे ब्रिटिश संसद की सर्वोच्चता के बारे में कहते हैं कि महिला को पुरुष बनाने और पुरुष को महिला बनाने के अलावा ब्रिटिश संसद सब कुछ कर सकती है।[2] इसके विपरीत अमेरिका के पूर्व राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन संविधान के साथ किसी भी तरह की छेड़छाड़ को अनुचित मानते हैं, क्योंकि उनकी नजर में संविधान ही हमारी सभी तरह की स्वतंत्रता का रक्षक हो सकता है। जहां तक भारतीय संविधान की बात है, तो संविधान निर्माताओं ने अमेरिकी संविधान के मूलभूत कानून सिद्धांत और इंग्लैंड के संसदीय सर्वोच्चता सिद्धांत के मिश्रण को अपनाना ही उचित समझा। कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों प्रणालियों के दोषों से बचने का यही रास्ता था। भारतीय संविधान संवैधानिक संषोधन का अधिकार संसद को देता तो जरूर है, लेकिन यह षर्त भी लगता है कि संशोधन केवल संविधान में वर्णित प्रक्रिया के तहत ही किया जा सकता है।[3] सर आइवर जेन्निंग्स कहते हैं कि भारतीय संविधान एक कठोर संविधान है। वह कहते हैं, "भारतीय संविधान को जो बात ज्यादा कठोर बनाती है, वह यह है कि संशोधन की जटिल प्रक्रिया के अलावा वह इतना विस्तृत है और कानून के इतने बड़े क्षेत्र तक उसकी पहुंच है कि संवैधानिक वैधता की समस्या आवश्यक रूप से पैदा होगी। इसके

विपरीत के.सी. ह्वीयर का कहना है कि भारतीय संविधान कठोर और लचीला के बीच एक सुंदर संतुलन रखता है।"[4]

संविधान सभा की बहसों के दौरान कई सदस्यों ने कम से कम पांच–दस वंशों के लिए संविधान में संशोधन को अत्यंत कठोर बनाने का तर्क दिया था, लेकिन जवाहरलाल इससे सहमत नहीं थे। 8 नवंबर, 1948 को संविधान सभा में उन्होंने कहा, "यद्यपि हम संविधान को उतना ठोस और स्थायी बनाना चाहते हैं, जितना हम बना सकते हैं, लेकिन संविधान में कुछ भी शाश्वत नहीं है। हमें इसमें कुछ हद तक लचीलापन रखना ही होगा। अगर आप किसी भी चीज को अत्यंत कठोर बनाएंगे, तो आप देश के विकास को अवरुद्ध करेंगे और लोगों के जीवित रहने के लिए जरूरी है, जिसमें संशोधन करना न तो अत्यंत कठोर हो और न अत्यंत आसान।"[5] मालूम हो कि एच.वी. कामथ को भी संविधान संशोधन में अधिक लचीलापन मंजूर नहीं था। नेहरू के तर्क से इतर डॉ. पी. एस. देशमुख और ब्रजेश्वर प्रसाद संविधान संशोधन की प्रक्रिया को अधिक सरल बनाने के पक्ष में थे। उनका मानना था कि संविधान संशोधन में आसानी नहीं रहने पर प्रगतिशील कानून बनाने में दिक्कतें आ सकती है। डॉ. बी. आर. अंबेडकर भी संविधान संशोधन को आसान बनाने के पक्ष में नहीं थे। उनका कहना था कि संविधान के रूप में आज हम भले ही देश को चलाने के लिए एक संहिता का निर्माण कर रहे हैं, लेकिन आने वाले दिनों में सत्तारूढ़ पार्टियां अपने राजनीतिक हितों के मद्देनजर भी संविधान में संशोधन कर सकती हैं। इसलिए हम संशोधन की संभावनओं से इनकार तो नहीं कर सकते, लेकिन इसकी प्रक्रिया आवश्यक रूप से थोड़ी जटिल बनाने की आवश्यकता है और संविधान सभा ने यही किया है।[6] ऑस्ट्रेलियाई विद्वान के. सी. ह्वीयर भी मानते हैं कि संविधान संशोधन प्रक्रिया को न तो अधिक कठोर होना चाहिए और न अत्यंत लचीला। मालूम हो कि ऑस्ट्रेलिया में संविधान संशोधन की प्रक्रिया बड़ी कठिन है।

भारत में संविधान संशोधन की प्रक्रिया संसद के किसी भी सदन में उससे संबंधित एक विधेयक प्रस्तुत कर शुरू की जा सकती है। इसके बाद विधेयक को दोनों सदनों के कुल सदस्यों (अलग–अलग) के बहुमत के साथ–साथ उपस्थित तथा मतदान में शामिल सदस्यों के दो–तिहाई बहुमत से पारित किया जाना भी आवश्यक है। लेकिन दोनों सदनों के बीच असहमति होने पर संयुक्त बैठक का कोई प्रावधान नहीं है। आवश्यक बहुमत से पारित विधेयक को अनुमोदन के लिए राष्ट्रपति के पास भेज दिया जाता है और राष्ट्रपति का अनुमोदन मिलने के साथ ही संविधान में संशोधन हो जाता है। दिलचस्प है कि संवैधानिक संशोधन से संबंधित अनुच्छेद –368 के माध्यम से बुनियादी संरचना को छोड़कर पूरे संविधान को तो बदला जा सकता है, लेकिन स्वयं इस अनुच्छेद को बदलना लगभग असंभव है। यदि संशोधन विधेयक में अनुच्छेद–368 के किसी भी प्रावधान में संशोधन की मांग की जाती है, तो उसे देश के कुल राज्यों के आधा का अनुमोदन प्राप्त होना चाहिए। इतना ही नहीं, राज्यों द्वारा अनुमोदन किए जाने की कोई समय सीमा भी नहीं है। कहा जा सकता है, कि अनुच्छेद–368 में वर्णित प्रक्रिया को अपना कर पूरे संविधान को भी बदला जा सकता है, लेकिन स्वयं यह अनुच्छेद संशोधन से परे है। अनुच्छेद–368 संशोधन के लिए किसी विशेष संसदीय प्रक्रिया का पालन करने की कोई शर्त नहीं रखता, इसलिए संवैधानिक संशोधन के लिए भी उसी संसदीय प्रक्रिया का पालन किया जाता है, जिसका अनुपालन अन्य विधायी मामलों में किया जाता है। वैसे संविधान संशोधन प्रक्रिया के बारे में संसदीय नियमावली पालन करने की आधिकारिक व्यवस्था सुप्रीम कोर्ट ने शंकरी प्रसाद सिंह देव बनाम भारत सरकार (फैसला नंबर सुप्रीम कोर्ट–458) मामले में दी। यहां इस बात का उल्लेख करना उचित लगता है कि संवैधानिक संशोधन से संबंधित विधेयक प्राइवेट मेंबर भी संसद के किसी भी सदन में प्रस्तुत कर सकते हैं, लेकिन उसकी प्रक्रिया थोड़ी कठिन है। सदस्य के लिए अपने विधेयक को सदन में प्रस्तुत करने के उद्देश्य से एक महीना पहले नोटिस देना जरूरी है, जबकि अन्य सदस्यों के लिए यह जरूरी नहीं है।

संविधान सभा की बहसों के दौरान कई सदस्यों ने कम से कम पांच-दस वंशों के लिए संविधान में संशोधन को अत्यंत कठोर बनाने का तर्क दिया था, लेकिन जवाहरलाल इससे सहमत नहीं थे

मेरे दृष्टिकोण से यह कहना ज्यादती होगी कि हमारे संविधान में संशोधन कठिन है, क्योंकि अब तक उसमें सौ से ज्यादा बार संशोधन हो चुके हैं। लेकिन ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि सविधान में संशोधन करना अत्यंत सरल है। अगर ऐसा होता, तो अब तक संविधान को पूरी तरह बदल दिया गया होता। कुछ राजनीतिक दलों को लगता है कि संविधान को पूरी तरह बदल दिये जाने की जरूरत है। अपनी इस इच्छा का वे इजहार भी करते रहते है। लेकिन ऐसा करना उनके लिए कई कारणों से आसान नहीं लगता। इसमें सबसे प्रमुख बाधा केशवा नंद भारती बनाम केरल सरकार मामले में सुप्रीम कोर्ट का वह फैसला है, जिसके अनुसार संविधान की बुनियादी संरचना में बदलाव नहीं किया जा सकता। इसके अलावा दोनों सदनों और देश के आधे राज्यों में एक ही पार्टी का बहुमत होने पर ही कोई सत्तारूगढ़ दल संविधान अपने अंदर ही बदलाव की शक्ति समेटे हुए हैं, लेकिन उस शक्ति का कोई मनमाने तरीके से इस्तेमाल नहीं कर सकता। ठीक है कि केन्द्र और राज्य की सत्ता में एक ही दल के बहुमत होने के कारण कई बार संविधान में संशोधन करना आसान रहा है। कांग्रेस शासन के दौरान इस परिघटना को देखा जा सकता है। लेकिन यदि हम उन संशोधनों का गहन परीक्षण करें, तो स्पष्ट हो जाता है कि बाध्यकारी स्थितियों ने ही संशोधन के लिए जगह बनाई। जहां कुछ संशोधन संविधान के तहत स्थापित नयी राजनीतिक व्यवस्था के संभावित विकास के सहज परिणाम थे, वहीं अन्य संशोधन व्यावहारिक कठिनाइयों के चलते आवश्यक हो चले थे।

हमारे संविधान में संशोधन का प्रावधान इस उद्देश्य से रखा गया है कि भविष्य

में संविधान के कार्यकलाप यानी संचालन में आनेवाली कठिनाइयों से निजात पायी जा सके। समय और परिस्थितियां स्थिर नहीं होती, बल्कि उनमें लगातार परिवर्तन होते रहते है। चूंकि समय और परिस्थति के अनुसार लोगों की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक हालत और जरूरत में भी बदलाव होते रहते हैं, इसलिए देश के संवैधानिक कानूनों में भी उनकी बदलती जरूरतों के हिसाब से परिवर्तन लाजिमी हो जाता है। अगर लोगों की बदलती जरूरतों और आकांक्षाओं के अनुसार संविधान में आवश्यक संशोधन नहीं होगा, तो वह नियमावलियों को एक मृत संकलन बनकर रह जाएगा। यदि समय और जरूरत के हिसाब से संविधान में संशोधन के प्रावधान नहीं होते, तो लोग गैर संवैधानिक तरीके से भी अपनी समस्याओं के समाधान की कोशिष कर सकते थे। दरअसल, हमारे संविधान निर्माता एक ऐसा संविधान चाहते थे, जो देश के विकास के साथ–साथ स्वयं भी विकसित होता रहे और लोगों की आकांक्षाओं और आवश्यकताओं को प्रतिबिंबित करने में कामयाब रहे।

हम जानते हैं कि संसद ही संविधान में परिवर्तन कर सकती है। ऐसे में एक पूर्ण बहुमत की सरकार अपने राजनीतिक हितों को सुरक्षित करने के लिए मनमाफिक संशोधन भी कर सकती है। हम आपातकाल के दौरान इंदिरा गांधी द्वारा किए गए 24 वें संशोधन को राजनीतिक हित सुरक्षित करने के एक प्रयास के रूप में देख सकते है। यही कारण है कि स्वयं संविधान ने ही संसद की संविधान संशोधन की शक्ति पर नियंत्रण लगा रखा है। हमारे संविधान निर्माता इस बात को लेकर सचेत थे कि यदि संविधान संशोधन की प्रक्रिया आसान, होगी, तो वह सत्तारूढ़ दल के लिए ताश का खेल बनकर रह जाएगी। यही कारण है कि उन्होंने मध्य मार्ग का अनुसरण किया। संविधान संशोधन की संसद की शक्ति को स्वयं संविधान ने तो सीमित कर ही रखा है, न्यायपालिका भी उसे नियंत्रित करने का काम करती है। किसी कानून की संवैधानिक वैधता परखने की जिम्मेदारी सर्वोच्च न्यायालय के पास है। यदि संसद या राज्य विधानपालिका द्वारा बनाया गया कानून संविधान के किसी भी प्रावधान का उल्लंघन करता है, तो उच्चतम न्यायालय उसे अमान्य करार दे सकता है क्योंकि उसके पास न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार है। अपने इसी अधिकार का प्रयोग कर सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान के बुनियादी ढांचे को बदलने से मना कर रखा है। मालूम हो कि स्वयं संसद भी अनुच्छेद 368 में संशोधन कर संविधान संशोधन की अपनी शक्ति में इजाफा नहीं कर सकती। भारत के राजनीतिक दलों के चरित्र और व्यवहार को देखते हुए इस बात की उम्मीद करना ज्यादती ही कहलाएगी कि वे संविधान के आदर्शों से संचालित होंगे। हमारे राजनीतिक दलों के लोकतंत्र की स्थिति यह है कि सभी दलों का संचालन किसी एक व्यक्ति या उसकी चहेती मडली के हाथों में होता है। ऐसे में इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि वह व्यक्ति और उसकी मंडली अपने क्षुद्र स्वार्थों के लिए संविधान का संशोधन करने लगे। 39वां ओर 42वां संविधान संशोधन इस बात का प्रमाण है कि ऐसे लोग और उनकी मंडली संविधान संशोधन के जरिए तानाशाही कायम कर सकते हैं। अन्यथा नहीं कि 42वें संशोधन को जनता पार्टी की सरकार के दौरान संविधान की संशोधन की उसी शक्ति के जरिए निरस्त कर उसमें फिर से संशोधन किया गया।

संविधान संशोधन के लिए कठोर और लचीला के बीच का रास्ता अख्तियार करना हमारे संविधान की एक विशेष विशेषता है, जो हमारे संविधान निर्माताओं की विशिष्ट सोच से निकली हुई है और इस सोच का निर्धारण स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान हुआ। इस मध्य मार्ग की उपयोगिता सही तरह तभी समझ में आ सकती है, जब हम आजादी के वक्त की राष्ट्रीय और अंतराष्ट्रीय परिस्थितियों की छानबीन करेंगे। जहां तक हमारे देश की बात है, तो आजादी के समय वह निर्धनतम देशों की सूची में शुमार था। हमारे संविधान निर्माताओं की आंखों से ओझल नहीं था कि हमारा देश जातियों, जनजातियों के अलावा भाषाई, परंपरागत और सांस्कृतिक विविधताओं से परिपूर्ण था, जो आज भी कायम है। हमारे सामाजिक समूह की अपनी आवश्यकताएं और आकांक्षाएं भी अलग–अलग थीं। ऐसे में संविधान संशोधन के लिए कठोर या लचीला रूख अपनाना तो उचित था और वांछित। यदि संविधान संशोधन को कठोर बना दिया जाता, तो सामाजिक–आर्थिक विकास के लिए आवश्यक संशोधन संभव नहीं हो पाता। इसके विपरीत यदि संशोधन की प्रक्रिया को अति आसान बनाया जाता, तो वह सत्ताधारी पार्टी के लिए अपना वर्चस्व कायम करने और उसे बनाए रखने की एक औजार बन जाता। अगर आज हमारा संविधान किसी सत्तारूगढ़ दल और उसके नेता की सनक और जिद का शिकार होने से वंचित रहा है, तो इसका अधिकांश श्रेय संविधान संशोधन से संबंधित अनुच्छेद–368 को ही जाता है, क्योंकि यह अनुच्छेद उनकी उक्त प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाता है।

भारतीय संविधान की संशोधन की शक्ति के वास्तविक स्वरूप का पता तब चलता है, जब हम अन्य देशों के संविधान में वर्णित संशोधन प्रक्रिया का अवलोकन करते हैं। संवैधानिक सिद्धांत की शब्दावली में अमेरिका का संविधान एक कठोर संविधान है, जो संशोधन के लिए एक कठोर प्रक्रिया तय करता है। संविधान संशोधन वहां कितना मुश्किल है, इसका अंदाजा इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि कांग्रेस के दोनों सदनों–हाउस ऑफ रिप्रेजेन्टेटिव और सीनेट द्वारा पारित विधेयक को राज्यों का अनुमोदन पाने के लिए सात साल की समय सीमा रखी गई है। आज तक वहां केवल 25 संवैधानिक संशोधन नही संभव हो पाए हैं। इसके विपरीत वहां का अलबामा राज्य अपने संविधान में अब तक 800 संशोधन कर चुका है। चूंकि भारत की तुलना में वहां के राज्यों को अधिक स्वायत्तता प्राप्त है और

भारतीय संविधान की संशोधन की शक्ति के वास्तविक स्वरूप का पता तब चलता है, जब हम अन्य देशों के संविधान में वर्णित संशोधन प्रक्रिया का अवलोकन करते हैं। संवैधानिक सिद्धांत की शब्दावली में अमेरिका का संविधान एक कठोर संविधान है

उनका अपना संविधान भी है, इसलिए वे केंद्र सरकार से इतर राय रखने के साथ–साथ अपनी अलग नीतियां बनाने के लिए भी स्वतंत्र है। उन्हें संशोधन विधेयक प्रस्तुत करने का भी अधिकार है। जबकि भारत में ऐसा नहीं है। वहां के राज्य अपने संविधान को ज्यादा तरजीह देते हैं। कल्पना करें कि यदि भारत में भी संविधान संशोधन की ऐसी ही जटिल प्रक्रिया होती, तो क्या होता। जाहिर है कि जनहित के अनेक कार्य रुके पड़े होते और सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन को अंजाम देना कतई संभव नहीं हो पाता। अमेरिका के संघीय संविधान में संशोधन के लिए दो–चौथाई राज्यों का अनुमोदन अपरिहार्य है, जबकि भारत में ऐसा नहीं है। इसी तरह से आष्ट्रेलिया में भी संविधान संशोधन की एक दुरूह प्रक्रिया है। संविधान संशोधन से संबंधित विधेयक को हाउस ऑफ रिप्रेजेन्टेटिव और सीनेट द्वारा पूर्ण बहुमत से पारित होने के बाद उसे जनमत संग्रह के लिए अग्रसारित किया जाता है लेकिन उसके पहले उस प्रस्ताव से अधिकांश राज्यों के साथ–साथ कुल ऑस्ट्रेलियाई मतदाताओं के बहुमत का सहमत होना भी आवश्यक है। ऐसी कठिन प्रक्रिया के चलते ही 1906 से लेकर आज तक वहां केवल आठ संविधान संशोधन ही संभव हो पाए हैं, जबकि इस बार 44 बार जनमत–संग्रह हो चुके हैं। डेनमार्क में तो स्थिति यह है कि संसद से संविधान संशोधन अनुमोदित होने के बाद आम चुनाव कराना आवश्यक है और नई संसद के लिए उस संशोधन का एक बार फिर अनुमोदन करना जरूरी है। इसके बाद संशोधन पर जनमत–संग्रह कराया जाता है। मालूम हो संशोधन की वैधता के लिए जनमत–संग्रह में 40 प्रतिशत मतदाताओं का मतदान करना आवश्यक है। इसी तरह फ्रांस में भी संविधान संशोधन की वैधता के लिए जनमत–संग्रह का प्रावधान है, जबकि आयरलैंड में हर संविधान संशोधन पर जनमत संग्रह को आवश्यक बनाया गया है।

भारतीय संविधान में हुए संशोधनों पर यदि नजर डालें तो स्पष्ट हो जाता है कि उनके जरिए जहां एक तरफ देश की व्यापक जनता के कल्याण की कोशिश की गई है, वहीं दूसरी तरफ शासन–प्रशासन को सर्व–समावेशी बनाने का प्रयास भी किया गया है। जमींदारी उन्मूलन और अनूसूचित जातियों–जनजातियों के लिए शिक्षा, नौकरी और प्रोन्नति में आरक्षण से लेकर महिलाओं के लिए प्राधिनिधिक संस्थानों में आरक्षण, भाषाई आधार पर राज्यों का पुनर्गठन, भूतपूर्व देशी राज्यों के शासकों की विशेष उपाधियों एवं उनके प्रिवी पर्स की समाप्ति, संविधान की प्रस्तावना में समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष शब्द जोड़ा जाना, आंतरिक अशांति के स्थान पर सैन्य विद्रोह को राष्ट्रीय आपात स्थिति लागू करने का आधार बनाना, मतदान के लिए आयु सीमा 21 वर्ष से घटाकर 18 वर्ष किया जाना, अनुसूचित जाति तथा जनजाति आयोग का गठन किया जाना, पंचायती राज से संबंधित प्रावधानों को संविधान में शामिल किया जाना, 6 से 14 वर्ष के बच्चों के लिए अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा का प्रावधान किया जाना आदि संविधान संशोधन के जरिए समाज और प्रशासन को समावेशी बनाने एवं व्यावहारिक कठिनाइयों को दूर करने का ही प्रयास किया गया है।

इसमें कोई शक नहीं कि परिस्थितियों और आवश्यकताओं और लोगों की आशंकाओं के मद्देनजर अब तक 101 संविधान संशोधन हो चुके हैं, लेकिन इतना तो कहा ही जा सकता है कि संविधान संशोधन करते समय राज्य के नीति–निर्देशक तत्वों पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है, जबकि राज्य संचालन के लिए वे पथ–प्रदर्शक हैं। शायद इसका मुख्य कारण है कि उसके प्रावधानों को लागू किए जाने के लिए अदालत में गुहार नहीं लगाई जा सकती। लेकिन ऐसा भी नहीं है कि राज्य के नीति निर्देशक तत्वों को बिलकुल ही अनदेखा कर दिया गया है। हमारे नीति निर्धारकों ने ऐसे अनेक कानून बनाए हैं, जो राज्य के नीति निर्देशक तत्वों के आलोक में बनाए गये हैं। योजना आयोग की स्थापना, खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड तथा आयोग की स्थापना, न्यूनतम मजदूरी कानून, मातृत्व अवकाश एवं लाभ कानून, वन्य जीव संरक्षण कानून, पंचायती राज व्यवस्था, अनूसूचित–जनजाति तथा अन्य वंचित वर्गों के लिए शिक्षण संस्थानों, सरकारी नौकरियों एवं प्रातिनिधिक संस्थाओं में आरक्षण की व्यवस्था आदि का प्रावधान राज्य के नीति निर्देशक तत्वों की छाया में ही हुआ है। 42वें संविधान संशोधन के जरिए नीति निर्देशक तत्वों को मूलभूत अधिकारों पर तरजीह दी गई थी, लेकिन उसे सुविचाारित कदम नहीं कहा जा सकता क्योंकि उससे हमारे कई मूलभूत अधिकारों के हनन होने की आशंका थी। अन्यथा नहीं कि 44वें और 45वें संशोधन के जरिए उसे समाप्त कर दिया गया। संक्षेप में कहें, तो हमारा संविधान सरकार और व्यवस्था के संचालन का एक जीवंत दस्तावेज है, जिसे प्रासंगिक और समीचीन बनाए रखने के लिए उसमें परिवर्तन एक आवश्यक उपक्रम है। बदलती परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के मद्देनजर लचीला और कठोर प्रक्रिया के बीच का रास्ता अपनाना ही बुद्धिमानी थी और आज भी है। प्रसिद्ध संवैधानिक विद्वान ग्रेनविल ऑस्टिन भी भारतीय संविधान की संशोधन प्रक्रिया की प्रशंसा करते हुए कहते हैं, भारत के संविधान में वर्णित इस प्रकार की संशोधन प्रकिया बुद्धिमत्तापूर्ण है, लेकिन ऐसा कम ही पाया जाता है। इस संशोधन प्रक्रिया ने साबित किया है कि वह संविधान का एक सुविचारित पहलू है। देखने में यह जटिल जरूर लगता है, लेकिन वास्तव में वह विविधतापूर्ण है।[7] ■

संदर्भ संकेत

1 *डायसी–इट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ दि लॉ ऑफ दि कॉन्स्टिट्यूशन, संस्करण–8, 1915, पेज–3,4*
2 *जेन–लूई द लोमे–इंग्लिश कॉन्स्टिट्यूशन, अध्याय–3, 1771*
3 *कॉन्स्टिट्यूशनल एमेंडमेंटः नेचर एवं स्कोप ऑफ दि एमेंडमेंट प्रोसेस, लोक सभा सचिवालय आर्काइव, पीडीएफ*
4 *के.सी. ह्वीयर–मॉडर्न कॉन्स्टिट्यूशंस, 1766, पेज 43*
5 *कॉन्स्टिट्यूशन असेम्बली डिबेट, वाल्यूम–7, पेज–322–23*
6 *कॉन्स्टिट्यूशन असेम्बली डिबेट, वाल्यूम–9, पेज–976*
7 *ग्रेनविल ऑस्टिन–दि इंडियन कॉन्स्टिट्यूशन, कॉर्नरस्टोन ऑफ ए नेशन, ऑक्सफोर्ड, 1966, पेज 25*

अगामी संस्करण

1. भारतीय संविधान : औपनिवेशिक पृष्ठभूमि
   डॉ. जितेन्द्र बजाज
2. भारतीय संविधान में चित्रांकन
   श्री जवाहरलाल कौल
3. भारतीय संविधान : निर्वाचन दल
   श्री एस.वाई. कुरेशी
4. मूल अधिकार और जिम्मेदारियाँ
   डॉ. रमेश भारद्वाज
5. भारतीय संविधान और समाजवादी आंदोलन
   डॉ. विजय कायथ
6. भारतीय संविधान और कम्युनिस्ट पार्टियाँ
   श्री जसपाल सिंह
7. महात्मा गांधी
   डॉ. आनंद
8. डॉ. भीमराव रामजी अम्बेडकर
   श्री कुमार प्रशांत
9. डॉ. राम मनोहर लोहिया
   श्री रघु ठाकुर
10. बाबू जय प्रकाश नारायण
    डॉ. विनय सहस्रबुद्धे
11. पंडित दीनदयाल उपाध्याय
    श्री अतुल अनजान
12. संविधान सभा के ऐतिहासिक भाषण

क)	**डॉ. राजेन्द्र प्रसाद**	**25 नवम्बर 1949**
ख)	**डॉ. राधा कृष्णन्**	**10 दिसम्बर 1946**
ग)	**प. जवाहरलाल नेहरु**	**13 दिसम्बर 1946**
घ)	**डॉ. भीमराव अम्बेडकर**	**25 नवम्बर 1949**
ङ)	**डॉ. रघुवीर**	**19 नवम्बर 1949**

भारतीय संविधान विशेषांक-2

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

'मंथन' की सदस्यता लें

एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान से प्रकाशित शोध त्रैमासिक पत्रिका 'मंथन' की सदस्यता लें। भारत–विचार–दर्शन पर केंद्रित इस पत्रिका की सदस्यता के लिए व्यक्ति/संस्थान कृपया निम्न पते पर सूचित करें और शुल्क एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान के नाम से स्टेट बैंक ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, एकाउंट नं. 10080533188, आईएफएससी–एसबीआईएन0006199 में जमा करें।

सदस्यता विवरण

नामः.....

पताः .....

..... राज्यः ..... पिनकोड : .....

लैंड लाइनः ..... मोबाइलः (1)..... (2).....

ई मेलः .....

जन–मार्च 2019 से पुनर्निधारित मूल्य

	भारत में	विदेश में
एक प्रति	₹ 200	US$ 9
वार्षिक	₹ 800	US$ 36
त्रिवार्षिक	₹ 2000	US$ 100
आजीवन	₹ 25,000	

प्रंबध संपादक

'मंथन' त्रैमासिक पत्रिका

28, मीना बाग, मौलाना आजाद रोड., नई दिल्ली–110 011

दूरभाषः 9868550000, 011–23062611

ई–मेलः manthanmagzin@gmail.com, ekatmrdfih@gmail.com